महाभारत में राज्य व्यवस्था

लेखिका
डा॰ प्रेम कुमारी दीक्षित
एम॰ए॰, पी एच॰डी॰
सीनियर फेलो, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

१९७०

प्रकाशक
अर्चना प्रकाशन
३, क्विन्टन रोड, लालबाग,
ल ख न ऊ–१

प्रथम संस्करण

लखनऊ विश्व विद्यालय की
पी एच०डी० उपाधि के लिये स्वीकृत शोध प्रबन्ध

मूल्य २० रुपये

मुद्रक
अर्चना प्रिंटिंग प्रेस,
लखनऊ।

या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।

तस्मै भगवते कृत्वा नमो व्यासाय वेधस ।
पुरुषाय पुराणाय भृगुवाक्य प्रवर्त्तिने ।
मानुषच्छद्मरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ।।
जातमात्रञ्च यं वेद उपतस्थे ससङ्ग्रहः ।
धर्ममेव पुरस्कृत्य जातूकर्णादवाप तम् ।।
मतिं मन्थानमाविध्य येनासौ श्रुतिसागरात् ।
प्रकाशं जनितो लोके महाभारतचन्द्रमाः ।।

वायुपुराण, पूर्व० १/३६-३८
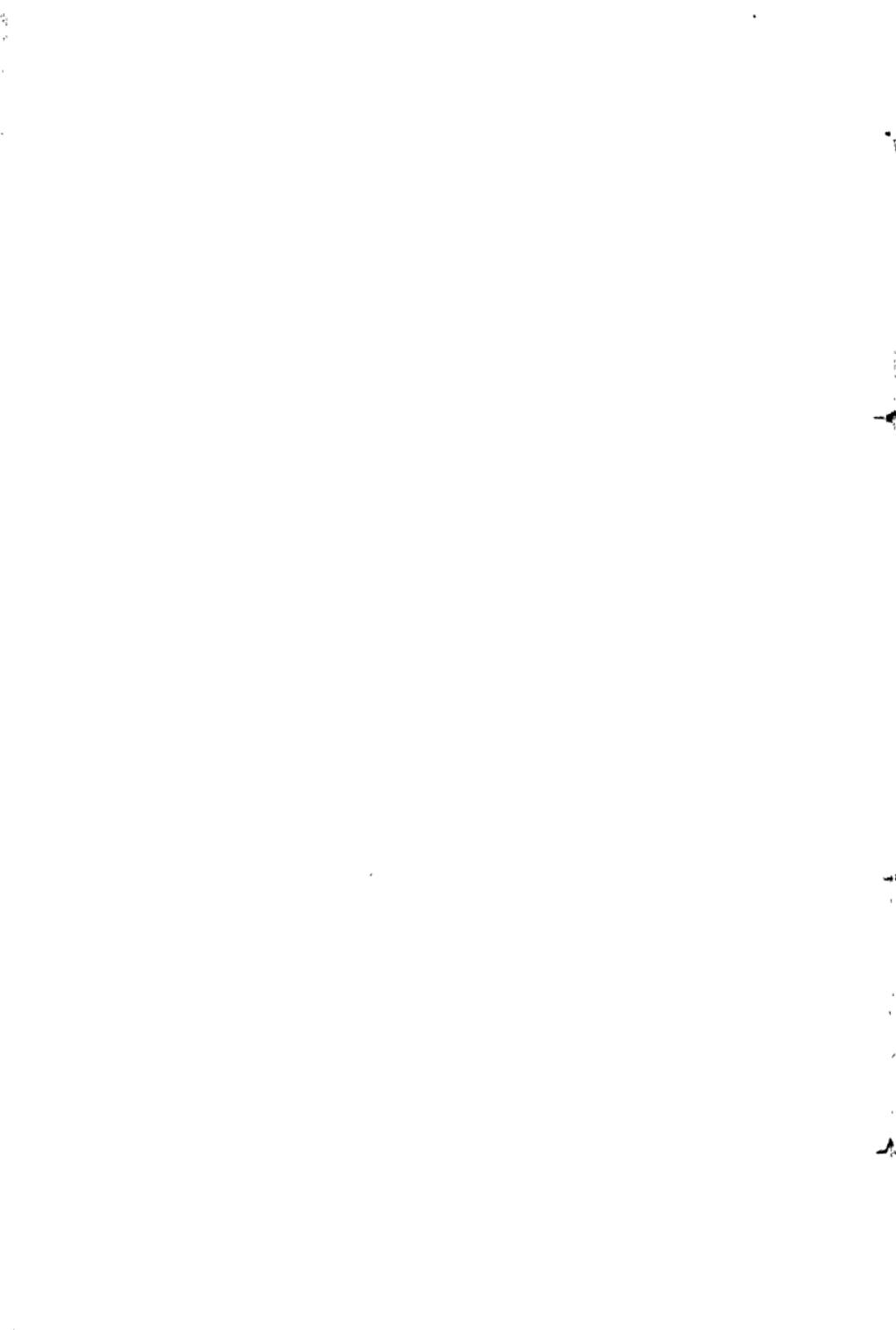
दो शब्द

महाभारत ज्ञान का स्रोत है। भारतवर्ष के स्वर्णिम अतीत, उत्कर्ष और विगत वैभव के दर्शन यदि कहीं सम्यक्‌रूपेण हो सकते हैं, तो वह महाभारत में ही सम्भावित हैं। जैसा कहा गया है 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्', अर्थात् जो इसमें है वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है, तथा 'यन्न भारत तन्न भारत'। तथ्य यह है कि महाभारत हमारे देश की सांस्कृतिक परम्पराओं की यश-गाथा और गौरव-ग्रन्थ है। यह समस्त ज्ञान का अक्षय भण्डार है। महाभारत में धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक समस्याओं और रहस्यों का सुचारू सामंजस्य प्रस्तुत किया गया है। इस महान ग्रन्थ के केवल एक पक्ष को लेकर डा० (श्रीमती) प्रेम कुमारी दीक्षित ने महत्वपूर्ण शोध प्रबन्ध और आलोचनात्मक ग्रन्थ की रचना की है, जिसका शीर्षक है 'महाभारत में राज्य-व्यवस्था'। इस ग्रन्थ में लेखिका ने महाभारत में राजा, राज्य, राजवृत्त, राजवैभव, राजपरिवार, नियन्त्रित राजतन्त्र, राज्य के आधार, अमात्य, कोष, सैन्य-व्यवस्था, राष्ट्र-नीति, राष्ट्रसभा, राजपुरुष, शासन-व्यवस्था तथा नीति, तथा गण और संघ राज्य विषयों को लेकर महत्वपूर्ण विवेचन और उपयोगी निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। विषय का प्रतिपादन सरल एवं सुस्पष्ट शैली में सम्पन्न हुआ है। प्रत्येक कथन के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। लेखिका की सफलता यह है कि उसने बड़े ही गम्भीर विषय को इतनी स्पष्ट और रोचक शैली में प्रस्तुत किया है जिससे विषय में पाठक की रुचि और जिज्ञासा सहज रूप में जागृत और प्रस्थापित हो जाती है। ग्रन्थ बड़ा उपयोगी और ज्ञानवर्धक है।

ग्रन्थ का विषय 'महाभारत में राज्य-व्यवस्था' है। अतः इस ग्रन्थ में वर्णित राज्य व्यवस्था की विस्तारपूर्वक, गम्भीर विवेचना प्रस्तुत की गई है। इसके साथ ही लेखिका ने अन्य प्रमाणिक तथा सर्वमान्य ग्रन्थों में वर्णित राज्य व्यवस्था से उसका तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार प्राचीन भारतवर्ष की राज्य व्यवस्था का सुस्पष्ट और अधिकृत चित्र पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है। इस दृष्टि से ग्रन्थ की उपयोगिता और भी संवर्द्धित हो गई है।

ग्रन्थ प्राचीन भारत की गौरव गाथा और राजतंत्र सम्बन्धी वैज्ञानिक तथा गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करता है। परन्तु इसका वर्तमान एवं भविष्य काल के लिए भी महत्व

है। तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थ में वर्णित एवं प्रतिपादित राज्य व्यवस्था (राजतंत्र) के आधार पर हम अपनी वर्तमान व्यवस्था को भी स्वरूप प्रदान कर सकते हैं। प्राचीन विचारकों ने बड़े मनन के पश्चात तत्कालीन राजतंत्र, सैन्य व्यवस्था, राष्ट्रनीति, राष्ट्र सभा, राज्य के आधार आदि का उल्लेख किया है। इन तत्वज्ञों के चिन्तन और बौद्धिक उपलब्धियों तथा प्रतिमानों से हम आज भी लाभान्वित हो सकते हैं। लेखिका के इस प्रयास से राजतंत्र में अभिरुचि रखने वाले विद्वद् समाज को पथ प्रदर्शन सम्प्राप्त होगा।

रामजी लाल सहायक
शिक्षा मंत्री
उत्तर-प्रदेश

लखनऊ,
नवम्बर २८, १९६९

भूमिका

यदि हमारे किसी प्राचीन ग्रन्थ को हिन्दू संस्कृति और सभ्यता की 'एन्साइक्लोपीडिया' (विश्वकोष) की संज्ञा प्रदान की जा सकती है तो वह केवल महाभारत को। इसका वर्ण्य विषय तो कुरुवंश का इतिहास, मुख्यत: कौरव-पाण्डव युद्ध, है किन्तु उसी के सन्दर्भ में देश के अन्य प्राचीन राज्यों और राजवंशों का इतिहास भी इसमें वर्णित है। प्राचीन भूगोल के अध्ययनार्थ यह वर्णन बहुत ही मूल्यवान है। यद्यपि हमारे सामाजिक संगठन के मूल तत्वों की भी इसमें विवेचना की गयी है तथापि राजनीतिक दृष्टि से महाभारत का सबसे अधिक महत्व है। भारतीय वाङ्मय में इस ग्रन्थ को यथेष्ट ही 'पंचम वेद' की संज्ञा प्रदान की गयी है। भारत में ही नहीं वृहत्तर भारत में भी महाभारत का प्रभाव अद्यावधि अक्षुण्ण है।

इस ग्रन्थ में विविध धर्मों–सामान्य धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गार्हस्थ्य धर्म और आपद् धर्म आदि–का विवेचन किया गया है। राज धर्म के विविध अंगों की भी विविध दृष्टियों से और पूर्वाचार्यों के मतानुसार प्रतिष्ठा की गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ का ध्येय महाभारत में वर्णित इन्हीं राजनीतिक सिद्धान्तों तथा संस्थाओं का विवेचनात्मक और सम्यक् अध्ययन है।

महाभारत के उपदेशात्मक अध्यायों में तो राजनीतिक सिद्धान्तों की विवेचना की ही गयी है, वर्णनात्मक अध्यायों में भी राजनीतिक तत्वों की झलक प्राप्त होती है। इसमें भी कौटलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, शुक्रनीति, एवम् मनु आदि प्रणीत स्मृति ग्रन्थों की भाँति राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के इतिहास के प्रसंग में शासन-प्रणाली का वास्तविक स्वरूप भी दृष्टिगोचर होता है। महाभारत की यह अपनी विशेषता है और एतदर्थ भारत की प्राचीन राजनीति के अध्ययन में इसका विशिष्ट महत्व है।

महाभारत की राजनीति का अध्ययन भारत और योरोप के अनेक प्रकाण्ड विद्वानों ने किया है और 'हिन्दू पालिटी' से सम्बन्धित प्राय: प्रत्येक ग्रन्थ में महाभारत की राजनीति विषयक स्वतंत्र अध्याय लिखे गये हैं। उन्हीं ग्रन्थों और लेखों के अध्ययन ने लेखिका को इस विषय पर स्वतंत्र शोध प्रबन्ध लिखने के लिए प्रेरित किया। अस्तु इस राजनीति-रत्नाकर का सम्यक् मन्थन आवश्यक था। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी का प्रयास किया गया है।

यह ग्रन्थ १६ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में राजनीतिक दृष्टि-कोण से

मेंहाभारत के महत्व की विवेचना की गयी है। द्वितीय अध्याय का विषय 'राज्य' है। इसमें राज्य की उत्पत्ति, उसका स्वरूप, सप्तांग तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना की गयी है। तृतीय से षष्ठम् अध्यायों तक का विषय 'राजत्व' से सम्बन्धित है। इनमें राजा का महत्व, उसकी उपाधियाँ, उत्तराधिकार नियम, राज्याभिषेक, राजा के गुण-दोष, ब्यसन, शील, आचरण, वर्ण, शिक्षा, कार्य आहि्नकं, देवत्व, राजकीय वैभव, आमोद-प्रमोद, राजरक्षा, राजमहिषी, राजकुमार, राजा पर नियन्त्रण, राजा प्रजा के सम्बन्ध और श्रेष्ठ राजाओं के उदाहरण उल्लिखित हैं। सप्तम् अध्याय का विषय अमात्य है। इसमें मंत्री का महत्व, उपाधियाँ, संख्या, अपेक्षित गुण परीक्षा-पणाली, अन्वय-प्राप्त साचिव्य, वर्ण, कार्य, मन्त्रणा प्रणाली, मंत्रगुप्ति, मंत्रिपरिषद, प्रधान मंत्री तथा राजा और मंत्री के सम्बन्ध की विवेचना की गयी है। अष्टम् अध्याय में राजकोष तथा राजकीय आय-ब्यय पर प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत धन तथा कोष का महत्व, कोष और राजा, सुसंग्रहीत कोष, कर सिद्धान्त, कर व्यवस्था, कर का औचित्य, विभिन्न प्रकार के कर, एवम् राजकीय व्यय का वर्णन किया गया है। नवम् अध्याय का वर्ण्य विषय 'रक्षा विधान' है। यह दो भागों में विभाजित है (क) सेना (ख) दुर्ग। प्रथम भाग में सेना का महत्व, संख्या, गुण, कार्य, अंग, संगठन, सैन्य अधिकारी, तथा सैनिक गुण और प्रशिक्षण, वेतन, शिविर, युद्ध-अभियान, युद्ध-भूमि, व्यूह, तथा अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन किया गया है। द्वितीय भाग में दुर्ग का महत्व, उसके प्रकार, दुर्ग-सामग्री तथा दुर्ग-संस्कार का उल्लेख है। दशम् अध्याय में परराष्ट्र-नीति की विवेचना की गयी है। इसके मूल तत्व हैं मण्डल सिद्धान्त, उपाय, एवम् षाड्गुण्य। एकादश अध्याय में 'दण्ड और न्याय व्यवस्था' पर प्रकाश डाला गया है। द्वादश अध्याय के प्रथम भाग में 'राजसभा' के संगठन, कार्य, और कार्य प्रणाली की विवेचना की गयी है। द्वितीय भाग का विषय है 'पौर-जानपद'। तृयौदश अध्याय में प्रशासकीय अधिकारियों के गुण, नियुक्ति, उनके विभिन्न वर्ग, वेतन-पुरस्कार तथा महाभारत में वर्णित राजपुरुषों का उल्लेख किया गया है। चतुर्दश अध्याय में गण एवम् संघ राज्यों का उल्लेख है। उनके संविधान और उसके गुण-दोषों का भी समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। पञ्चदश अध्याय का वर्ण्य विषय है 'राज्य की आन्तरिक शासन-व्यवस्था तथा नीति। अन्तिम अध्याय में महाभारत की राजनीति के मूल तत्वों की विवेचना की गयी है। अन्ततः परिशिष्ट में सहायक ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गयी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल आधार स्वयं महाभारत है। लेखिका ने इस ग्रन्थ के विभिन्न संस्करण तथा उनके हिन्दी-अँग्रेजी अनुवाद का अध्ययन किया है। परन्तु यह प्रबन्ध मुख्यतः महाभारत के भण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, पूना, द्वारा प्रकाशित क्रिटिकल

तथा गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वारा प्रकाशित संस्करणों पर आधारित है। पाद टिप्पणी में जहाँ किसी विशेष संस्करण का उल्लेख नहीं किया गया है, वहाँ क्रिटिकल संस्करण से अभिप्राय है। अन्यथा कोष्ठक के भीतर संस्करण का उल्लेख कर दिया गया है। जिन अन्य पुस्तकों और लेखों से सहायता ली गयी है, उनका उल्लेख भी पाद टिप्पणी तथा परिशिष्ट में कर दिया गया है। लेखिका उन सबके प्रति कृतज्ञ है।

यह ग्रन्थ लेखिका के शोध प्रबन्ध 'भारत-राजशास्त्र सिद्धान्त और तन्त्र' पर आधारित है, जो लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास एवम् पुरातत्व विभाग के निर्देशन में लिखा गया था। १९६५ ई० में विश्वविद्यालय ने शोध प्रबन्ध को स्वीकृत कर लेखिका को पी एच० डी० की उपाधि तथा स्वर्णपदक प्रदान किया।

शोध-विषय के चयन एवम् निर्देशन के लिए लेखिका अपने शोध निरीक्षक डा० वीरेश्वर नाथ श्रीवास्तव, रीडर प्राचीन भारतीय इतिहास एवम् पुरातत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, की अनुग्रहीत है, जिनकी सतत प्रेरणा के फलस्वरूप ही उसका प्रयास सफल हो सका। लेखिका विभाग के अन्य अध्यापकों, विशेषत: डा० अवध विहारी लाल अवस्थी, रीडर, डा० अंगनेलाल तथा श्री श्याममनोहर मिश्र, प्रवक्ता, एवम् शोध-प्रबन्ध के परीक्षक डा० विन्देश्वरी प्रसाद सिनहा तथा डा० बुद्ध प्रकाश के प्रति भी, उनके बहुमूल्य सुझाओं के लिए, आभार प्रकट करती है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को शोध छात्रवृत्ति तथा लखनऊ विश्वविद्यालय को ग्रन्थ प्रकाशन हेतु अनुमति प्रदान करने के लिए भी लेखिका अनुग्रहीत है। अन्तत: लेखिका अपने सम्बन्धी श्री कीर्ति प्रकाश बाजपेयी एवम् अर्चना प्रकाशन के अध्यक्ष श्री उमाशंकर बाजपेयी के प्रति, पुस्तक प्रकाशन में विशेष अभिरुचि और सहयोग के लिए, भी आभार प्रकट करती है।

प्रेमकुमारी दीक्षित

विषय-सूची

१

राजशास्त्र एवं उसका महत्व

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भाँति महाभारत भी भारत में राजनीति के अध्ययन-परम्परा की प्राचीनता प्रमाणित करता है, और दण्डनीति को विद्या के चार अंगों में स्थान देकर उसके महत्व को स्वीकार करता है। यह चार अंग हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।[१] ऐसा ही मत अर्थशास्त्र एवम् मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में भी व्यक्त किया गया है।[२] परन्तु महाभारत के आरण्यपर्व में केवल त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का ही उल्लेख है।[३] प्राचीन मानव, बार्हस्पत्य तथा औशनस विचार-धारा के अनुरूप यहाँ भी आन्वीक्षिकी को स्थान नहीं दिया गया है।[४] स्पष्टत: महाभारत आन्वीक्षिकी की अपेक्षा दण्डनीति को अधिक महत्व देता है, क्योंकि भौतिक जीवन की सफलता इसी के आश्रित है।[५] यह ग्रन्थ दण्डनीति को अध्ययन का स्वतंत्र विषय मानता है। इसके अतिरिक्त वह दण्डनीति, वार्ता और त्रयी के घनिष्ट संबंध को भी मान्यता देता है।

शान्ति पर्व में दण्ड की परिभाषा इस प्रकार की गई है:—

दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननु चरिष्यति ॥
दण्डेन नीयते चेयं डन्डं नयति चाप्युत।
दण्डनीतरिति प्रोक्ता त्रींल्लोकानुवर्तते ॥

---

१ शान्ति, ५९.३३.
२ अर्थशास्त्र, १.५; मनु, ७.४३; याज्ञवल्कय, १.३११.
३ आरण्य, १४९.३१–३२; १९८.२३.
४ दृष्टव्य, अर्थशास्त्र १.५; नीतिसार, २.२-५.
५ आरण्य, १९८.२३.
६ शान्ति, ५९.७७-७८.

ऐसी ही परिभाषा कामन्दक और शुक्र ने भी दी है[१]। इससे स्पष्ट है कि दण्डनीति का विषय प्रशासन विधि और क्रिया है।

महाभारत में "पालिटी" के अर्थ में अनेक शब्द प्रयुक्त हुये हैं, यथा, दण्डनीति, राजधर्म, राजशास्त्र, राजनीति, राजोपनिषद आदि।[२] इन सभी शब्दों की व्युत्पत्ति 'राजा' से हुई है। इसका कारण यही है कि प्राचीन भारत में नृपतंत्रात्मक राज्यों का ही प्राधान्य रहा है। द्रोण पर्व में "पालिटी" के अर्थ में अर्थ विद्या और अनुशासन पर्व में अर्थ-शास्त्र शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं।[३] अन्यत्र इसे नीति और नय-शास्त्र भी कहा गया है।[४]

महाभारत में दण्डनीति की उत्पत्ति पर भी प्रकाश डाला गया है। सबसे महत्वपूर्ण वर्णन शान्ति पर्व में प्राप्त होता है, जहां भीष्म ने इसका इतिहास युधिष्ठिर को बतलाया है। उनके अनुसार अराजक अवस्था को दूर करने के अभिप्राय से सर्व प्रथम ब्रह्मा जी ने नीतिसार की रचना की थी, जिसमें एक लक्ष अध्याय थे। उस ग्रन्थ में त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डनीति का निरूपण किया गया था, और उसमें राजनीति सम्बन्धित सभी तत्व विद्यमान थे। इस शास्त्र की रचना करके ब्रह्मा जी ने देवताओं से कहा 'इस शास्त्र के अनुसार जगत को सन्मार्ग पर स्थापित किया जाता है।' अतएव यह विद्या दण्डनीति के नाम से विख्यात है।' सर्व प्रथम इस शास्त्र को भगवान विशालाक्ष ने संक्षिप्त किया। संक्षिप्त ग्रन्थ 'वैशालाक्ष' के नाम से विख्यात हुआ। इसमें दस सहस्र अध्याय थे। इसके पश्चात् इन्द्र ने इसे और अधिक संक्षिप्त किया। तब इसमें केवल पाँच सहस्र अध्याय रह गये और यह 'बाहुदन्तक शास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तत्पश्चात् क्रमशः बृहस्पति और शुक्राचार्य ने इसे और अधिक संक्षिप्त किया। बृहस्पति की रचना, 'बार्हस्पत्य शास्त्र,' में तीन सहस्र अध्याय थे और शुक्राचार्य के संस्करण में केवल एक सहस्र। इस प्रकार मनुष्यों की आयु के ह्रास होने के साथ-साथ पितामह ब्रह्मा द्वारा रचित नीति शास्त्र भी क्रमशः संक्षिप्त होता गया।[५]

---

१ नीतिसार, २.१५; शुक्रनीति, १.१५७.
२ शान्ति, १५.२९; ५६.३; ५८.१-३; आश्रमवासिक (गीता), ३६.२२; शान्ति, ९४, ३८.
३ द्रोण, ५.२१; अनुशासन ३९.८-१०.
४ शान्ति, ५९.७४; आरण्य, १४९.२, ९.
५ शान्ति, ५९.२९-९२.

एक अन्य स्थल पर भीष्म राजशास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास इस प्रकार बतलाते हैं। मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ ऋषियों ने महागिरि मेरू पर एकत्रित होकर इस उत्तम शास्त्र (शास्त्रमुत्तमम्) का प्रवचन एवम् निर्माण किया था। वेदों के समान आदरणीय एवं प्रमाणभूत इस शास्त्र में लोक-धर्म की उत्तम व्याख्या थी। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन तथा स्वर्ग और मृत्यु लोक में प्रचलित मर्यादाओं का भी प्रतिपादन किया गया था। इसमें एक लक्ष श्लोक थे। स्वयं परमेश्वर ने इसकी प्रमाणिकता स्वीकार करते हुये कहा था कि 'इससे सम्पूर्ण लोक-तंत्र का धर्म प्रचलित होगा, (लोक तन्त्रस्यकृत्स्नस्य यस्माद् धर्म प्रवर्तते)। स्वायम्भुव मनु, उशना और बृहस्पति भी इस शास्त्र का प्रवचन करेगें।[1] उपर्युक्त बृत्तान्तों में कुछ भिन्नता अवश्य पाई जाती है। परन्तु बृहस्पति और उशना के नाम दोनों ही विवरणों में प्राप्त होते हैं। महाभारत का यह विवरण कुछ भिन्नता के साथ अन्यान्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।[2]

इस प्रकार महाभारत के अनुसार पितामह ब्रह्मा ने सर्व प्रथम जिस शास्त्र की रचना की थी उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी का समावेश था। राजशास्त्र का उद्गम उसी से हुआ। विद्वान आचार्यों द्वारा उसे विशिष्ठ एवम् स्वतन्त्र शास्त्र का रूप दिया गया और क्रमशः संक्षिप्त होते-होते यह सुलभ और सुग्राह्य शास्त्र के रूप में परिणत हुआ। महाभारत राजशास्त्र की दैवी उत्पत्ति में आस्था रखता है, जो उसकी प्राचीनता का ही प्रतीक है। इसके रचयिता ब्रह्मा ही नहीं, विष्णु और सरस्वती भी माने गये हैं।[3]

शान्तिपर्व में ही अन्यत्र भीष्म ने बिशालाक्ष, भगवान काव्य, सहस्राक्ष महेन्द्र, प्राचेतसमनु, भगवान भरद्वाज एवम् मुनि गौरशिरा को राजशास्त्र-प्रणेता (राजशास्त्र प्रणेतारः) कहा है।[4] इन राजशास्त्रप्रणेताओं का अस्तित्व संदिग्ध है, क्योंकि प्राचीन भारत में एक अद्भुत परिपाटी प्रचलित थी—किसी ग्रन्थ का रचयिता लेखक के रुप में अपना नाम न देकर किसी देवता या प्रसिद्ध ऋषि का ही नाम दिया करता था। यह परिपाटी अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में देखी जाती है।

---

१ शांति, ३२२.२६-५०.
२ यथा, शुक्रनीति, १.२-४; कामशास्त्र, १.५-८.
३ शान्ति, ५४.२१; १२२.२५.
४ शान्ति, ५८.१-३.

विंटरनिज बृहस्पति को अर्थशास्त्र का वास्तविक प्रथम आचार्य मानते हैं ।[१] इसके विपरीत डा० घोषाल यह स्थान मनु को प्रदान करते हैं[२] । महाभारत में इन दोनों का ही नाम इस प्रसंग में अनेकश: प्राप्त होता है । 'मानव शास्त्र', 'मानवीय अर्थविद्या' आदि का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है । इसी प्रकार बार्हस्पत्य शास्त्र तथा अर्थ-शास्त्रप्रणेता बृहस्पति का भी उल्लेख अनेकश: प्राप्त होता है । परन्तु इस ग्रन्थ में पक्ष बाहुल्य बृहस्पति की ओर ही प्रतीत होता है ।

इस स्थल पर हमें महाभारत के अनुसार दण्डनीति और धर्मशास्त्र के पारस्परिक संबंध की विवेचना करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। आधुनिक विद्वानों में इस बिषय में मतभेद है । विंटरनिज़ के अनुसार दण्डनीति मूलत: धर्मशास्त्र का ही अंग थी, परन्तु कालान्तर में वह स्वतंत्र शिक्षा का बिषय बन गई । इसके विपरीत ला महोदय दण्ड-नीति की उत्पत्ति धर्मशास्त्र से नहीं मानते । उसके अनुसार दण्डनीति आरम्भ से ही अध्ययन का स्वतंत्र विषय रहा है । प्रो० आयंगर भी इसी मत के समर्थक हैं[३] । परन्तु महाभारत से यही आभास मिलता है कि दण्डनीति की उत्पत्ति धर्मशास्त्र से हुई थी । सर्वप्रथम पैतामह नीतिशास्त्र की रचना हुई थी जिसमें धर्म, अर्थ और काम सभी समाविष्ट थे । कालान्तर में इसी से दण्डनीति की स्वतंत्र रचना की गई[४] । अन्यत्र कहा गया है कि बृहस्पति और उशना ने अर्थशास्त्र की रचना उसी विस्तृत शास्त्र के आधार पर की थी जिसे सप्त ऋषियों ने रचा था[५] । उस शास्त्र में भी धर्म, काम और मोक्ष सभी सन्निहित थे । अर्थशास्त्र-प्रणेता बृहस्पति के विषय में स्पष्टत: कहा गया है कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन सप्त ऋषियों से किया था, जिनमें अधिकांश अर्थशास्त्र प्रणेता माने जाते हैं । महाभारत में अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र को ही प्रधानता प्रदान की गई है[६] । इस ग्रन्थ के अध्यन से यही प्रतीत होता है कि दण्डनीति अथवा अर्थशास्त्र मूलत: धर्मशास्त्र का ही अंग था । कालांतर में उस पर स्वतंत्र ग्रंथ रचे जाने लगे ।

महाभारत राजनीति की दृष्टि से निस्सन्देह बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, परन्तु वह

---

१ *Some Problems of Indian Literature*. Calcutta, 1925, p. 84.
२ Ghoshal, U. N., *A History of Indian Political Ideas*, pp. 83, 90.
३ Aiyangar, Rangaswamy, K. V., *Some Aspects of Ancient Indian Polity*, p. 62.
४ पूर्वोक्त.
५ पूर्वोक्त.
६ दृष्टव्य, शान्ति (गीता), १२२.२५; ६३.२८.

इस विषय की प्रथम रचना कदापि नहीं माना जा सकता । कौटलीय अर्थशास्त्र की भांति इसमें भी अनेक पूर्वाचार्यों के नाम उल्लिखित हैं। नामही नहीं, उनके कथित वाक्य भी उद्धृत हैं और उनके मतों की यदा कदा विवेचना भी की गई है । इन आचार्यों को सहज ही दो वर्गों मे स्थान दिया जा सकता है (१) युधिष्ठिर-युग से पूर्व के आचार्य, जिनके मतों को भीष्म तथा अन्यान्य व्यक्तियों ने युधिष्ठिर के सम्मुख उपस्थित किया था, (२) युधिष्ठिर के समकालीन आचार्य, जिन्होंने उनको राजनीति संबंधी उपदेश किये थे । प्रथम वर्ग में बृहस्पति, उशना, मनु (स्वायम्भुव मनु तथा प्राचेतस् मनु) प्रमुख हैं । स्वायम्भुव मनु को धर्मशास्त्र प्रणेता कहा गया है[१], और उनका मत अनेकशः उद्धृत किया गयां है ।[२] इसी प्रकार मनु को भी राजधर्म तथा मानवी अर्थ-विद्या का प्रणेता कहा गया है ।[३] प्राचेतस मनु के राजधर्म का भी उल्लेख कतिपय स्थलों पर पाया जाता जाता है ।[४] निस्सन्देह प्राचीन भारत में दण्डनीति-अर्थशास्त्र का एक स्कूल मानव के नाम से विख्यात था, जिसका अर्थशास्त्र में भी उल्लेख पाया जाता है ।[५] डा० व्यूलर ने आरण्य, शान्ति, और अनुशासन पर्व से २६० से अधिक श्लोक संकलित किये थे, जो वर्तमान मनुस्मृति में भी प्राप्त होते हैं । प्रो० हापकिन्स भी स्वीकार करते हैं कि अनुशासन पर्व के मनुप्रोक्त श्लोक मनुस्मृति में पाये जाते हैं ।[६] परन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि महाभारत में जिस मानव स्कूल का मत उद्धृत किया गया है वह वर्तमान मनुस्मृति है, क्योंकि अनेक महत्वपूर्ण विषयों में इन दोनों में अन्तर पाया जाता है ।[७] मनु-प्रोक्त समस्त श्लोक बर्तमाम मनुस्मृति में मिलते भी नहीं । इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन काल में एक स्वतंत्र मानव स्कूल था, जिसको बर्तमान मनुस्मृति, अर्थशास्त्र और महाभारत सभी ने उद्धृत किया है ।[८]

इसी प्रकार महाभारत में बृहस्पति और उशना के शास्त्र और उनके मतों का कई

---

१ शान्ति, २१ ११–१२; ३२२.४३.
२ यथा, शान्ति, २५९.३५.
३ शान्ति, ५६.२३–२५; अनुशासन ६०.२२; ४७.३५; द्रोण, ५, २१, इत्यादि.
४ शान्ति, ५७.४३–४५; अनुशासन, ४६.१–२.
५ अर्थशास्त्र, ५.५; १.८.
६ Buhler, *Saered Books of the East*, Vol. 25., Introduction.
७ Hopkins, *Great Epic of India*, pp. 21–22.
८ दृष्टव्य, Kane, P, V., *History of Dharmasastra*, Vol. I, pp. 155–56.

स्थलों पर उल्लेख प्राप्त होता है।[1] हम पहले लिख चुके हैं कि बृहस्पति और उशना ने ब्रह्माविरचित नीतिशास्त्र को संक्षिप्त किया था। उनकी कृतियाँ क्रमशः बार्हस्पत्य और औशनस शास्त्र के नाम से विख्यात हुईं। शान्ति पर्व में दोनों को राजशास्त्र प्रणेताओं में स्थान दिया गया है। बार्हस्पत्य और औशनस स्कूलों का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी प्राप्त होता है।[2] स्पष्टतः प्राचीन भारत में इनकी बड़ी ख्याति थी। महाभारत में इन दोनों आचार्यों तथा उनके मतों का एक साथ[3] अथवा पृथक-पृथक उल्लेख अनेक बार किया गया है। शान्ति पर्व में तो एक स्थल पर उशना शास्त्र को दण्डनीति और त्रिवर्ग का मूल माना गया है :—

श्लोकाश्चोशनसागीतास्तान निबोध युधिष्ठिर।
दण्डनीतश्च यन्मूलं त्रिवर्गस्यच भूपते ॥[4]

हमारे ग्रन्थ से कतिपय अन्य राजनीतिक स्कूलों का भी परिचय प्राप्त होता है। एक स्कूल का सम्बन्ध इन्द्र से माना जाता है। इन्द्र भी पैतामह-नीतिशास्त्र के संक्षिप्त कर्ता माने जाते हैं। उनकी रचना बादुदन्तक के नाम से प्रसिद्ध हुई। इनका साम्य अर्थशास्त्र में वर्णित बाहुदन्ति पुत्र से सम्भाव्य है। शम्बर, भारद्वाज, कणिक भारद्वाज, तथा मरुत भी राजनीति प्रणेता माने गये हैं।[5] निस्सन्देह महाभारत-पूर्व काल में राजनीतिशास्त्र के अनेक स्कूल और अनेक आचार्य थे। इस ग्रन्थ में अर्थशास्त्र के जिन प्रमुख आचार्यों का उल्लेख है वह सब पृथक-पृथक स्कूल के संस्थापक रहे होंगे। ये स्कूल निस्सन्देह अपने विषय की प्राचीनतम रचनाओं से सम्बन्धित हैं। इनमे से प्रायः सभी का उल्लेख परवर्ती साहित्य मे भी पाया जाता हैं।

इनके अतिरिक्त महाभारत में कुछ प्राचीन गाथाओं का उल्लेख मिलता है। यह भी सम्भवतः प्राचीन राजशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से ली गई हैं। भीष्म अपने उपदेशों में प्रायः सभी जगह प्राचीन आचार्यों द्वारा विभिन्न शासकों को दिये गये उपदेशों का

---

१ यथा, शान्ति, ५६.३८—३९; सभा (गीता), ४६.९—११; तथा शान्ति, ५६.२९–३०; सभा (गीता), ६२.११—१२, इत्यादि.
२ अर्थशास्त्र, ५, ५; १.८.
३ शान्ति, १२२.११; आरण्य, १४९.२०.
४ शान्ति (गीता), ६९ पृ० ४६०६.
५ शान्ति, १०३.३१–३२; ५८.३, १३८, तथा ५७.६–७ (क्रमशः).

उल्लेख करते हैं, जिनमे अनेक राजनीतिक तत्व प्रतिपादित किये गये हैं। इनमें हम निम्नलिखित गाथाओं का उल्लेख कर सकते हैं :-

१ राजा वसुमना को बृहस्पति का उपदेश,[१]

२ इन्द्र को बृहस्पति का उपदेश,[२]

३ पुरुरवा-मात्रिस्वान सम्वाद,[३]

४ कश्यप-पुरुरवा सम्वाद,[४]

५ कुबेर-मुचकुन्द सम्वाद,[५]

६ राजा मान्धाता को उतथ्य का उपदेश,[६]

७ वसुहौम को वामदेव का उपदेश,[७]

८ राजा क्षेमदर्शी को कालकवृक्षीय मुनि का उपदेश[८],

९ आंगरिष्ठ को कामन्दक का उपदेश[९],

१० अंगिरस-सुधन्वन सम्वाद[१०],

११ इन्द्र-प्रहलाद सम्वाद[११]।

ऋषि ही नहीं, क्षत्रिय नरेश और रानियों ने भी राजनीति के जटिल प्रश्नों पर उपदेश दिये हैं। उदाहरणार्थ, मान्धाता को वसुहोम का और जनक को सुलभा का उपदेश।[१२] महाभारत में राजनीति के गूढ़ तत्वों को सुग्राह्य बनाने के उद्देश्य से यह

---

१ शान्ति, ६८.२–६१.
२ शान्ति, १०५.६–५०.
३ शान्ति, ७४.९–२१.
४ शान्ति, ७५.६–२०.
५ शान्ति, ७६.१–२२.
६ शान्ति, ९२–९३.
७ शान्ति, ९४–९५.
८ शान्ति, १०५–१०७.
९ शान्ति, १२३,१०–२४.
१० सभा (गीता), ६८.६५; उद्योग, ३३.८४.
११ शान्ति, १२४.
१२ शान्ति, १२२ तथा ३२०.

गाथा शैली अपनाई गई है। यही नहीं पशु-पक्षियों के माध्यम से भी राजनीति के गूढ़ तत्वों को प्रतिपादित किया गया है, यथा राजा ब्रह्मदत्त को पूजनी चिड़िया का उपदेश[१], मूषक-मार्जार कथानक[२] एवं कपिराज हनुमान् द्वारा भीम को उपदेश।[३]

इन पूर्ववर्ती गाथाओं के अतिरिक्त, महाभारत कालीन राजाओं को प्रदत्त राजनीतिक उपदेश भी उल्लेखनीय हैं। इनमे निस्सन्देह सबसे महत्वपूर्ण स्थान भीष्म द्वारा युधिष्ठर को दिये गये उपदेश को प्राप्त है।[४] भीष्म के अतिरिक्त वासुदेव कृष्ण[५], कृष्ण द्वैपायन (व्यास)[६], नारद[७], मार्कण्डेय[८], बकदालभ्य[९], देवस्थान[१०] धौम्य[११]. आदि ने भी विभिन्न अवसरों पर धर्मराज युधिष्ठर को राजनीतिक उपदेश दिए थे। नारद ने युधिष्ठिर को ही नहीं कृष्ण को भी राजनीति की शिक्षा दी थी।[१२] इनके अतिरिक्त धृतराष्ट्र, कुन्ती तथा द्रौपदी ने भी युधिष्ठिर को राजनीति विषयक उपदेश दिये थे।[१३]

इन सब उदाहरणों से इतना अवश्य विदित होता है कि महाभारत-युग में राजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा बहुत सुव्यवस्थित थी, जो प्राचीन काल से चली आ रही थी। केवल ब्राह्मण आचार्य, ऋषि, और मुनि ही नहीं स्वयं क्षत्रिय राजा और रानी भी इस शास्त्र मे पारंगत होते थे।

---

१ शान्ति, १३५.
२ शांति, (गीता), १३८.
३ आरण्य, १४९.३७–४९.
४ शान्ति, ५६–१२८.
५ सभा, १४.
६ शान्ति, २३—२५.
७ सभा, ५; सभा (गीता) १२.२३–२४.
८ आरण्य (गीता) १८६–२३२.
९ आरण्य, २८.५–१९.
१० शान्ति. २०–२१.
११ विराट (गीता), २.
१२ शान्ति, ८३.
१३ आश्रमवासिक (गीता), ५—७; आरण्य, १३१ (क्रमशः)। इस प्रसंग मे हम विदुर-धृतराष्ट्र (उद्योग, ३३—४०), संजय-धृतराष्ट्र (उद्योग), दुर्योधन-धृतराष्ट्र (सभा, गीता), ५२.१०–२८, तथा पांडव बन्धुओं (शांति, ८–२५) के सम्वाद का भी उल्लेख कर सकते हैं.

मार्कंडेय पुराण महाभारत को अर्थशास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता है।[1] स्वत: महाभारत भी अपने लिये कहता है कि इसमे धर्म, काम तथा अर्थशास्त्र सभी समाविष्ट हैं।[2] अर्थशास्त्र के मूल तत्व राज्य की प्राप्ति एवं संरक्षण माने गये हैं—जो राजनीति शास्त्र का प्रमुख विषय है। यों तो महाभारत में राजनीति सम्बन्धी सामग्री अनेक पर्वों में बिखरी हुई है, परन्तु तत्विषयक अध्याय मुख्यत: शान्ति पर्व के राजधर्म एवम् आपद्धर्म खण्डों मे संकलित हैं। इस पर्व का समुचित अध्ययन राजा के लिये नितान्त आवश्यक माना गया है (राजभिवेदितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभि:)।[3]

महाभारत में वर्णित राजधर्म के प्रणेता पितामह भीष्म माने गये हैं। वह दण्डनीति के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने बृहस्पति और उशना के ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन स्वयं बृहस्पति तथा अन्यान्य आचार्यों के चरणों में बैठ कर किया था।[4] जब महाराज युधिष्ठिर ने व्यास जी से राजधर्म सम्बन्धी प्रश्न किये तब उन्होंने उनको भीष्म से शिक्षा ग्रहण करने का ही आदेश दिया था।[5] भगवान कृष्ण ने भी इसका अनुमोदन करते हुये भीष्म के राजधर्म-ज्ञान की प्रशंसा की थी।[6]

शान्ति पर्व के राजधर्म और आपद्धर्म खण्डों के अतिरिक्त राजशास्त्र के अध्ययनार्थ अनुशासन पर्व तथा पूर्वोक्त नारदनीति (सभापर्व), विदुरनीति (उद्योग पर्व), एवम् धृतराष्ट्रनीति (आश्रमवासिक पर्व) भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। महाभारत के इन उपदेशात्मक अध्यायों में राजनीतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं और वर्णनात्मक अध्यायों में राजनीति का सक्रिय स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। यदा कदा दोनों में विषमता भी देखी जाती है।

राजनीति-प्रणेता भीष्म वास्तविक या काल्पनिक व्यक्ति हैं यह निर्धारित करना कठिन है। उनका नाम कौटलीय अर्थशास्त्र में नहीं प्राप्त होता है। परन्तु अर्थशास्त्र की भांति महाभारत निस्सन्देह पुरातन काल के उपलब्ध राजनीतिक ग्रन्थों में प्राचीन-

---

१ मार्कंडेय पुराण. १.७ : धर्मशास्त्रमिदम्श्रेष्ठमर्थशास्त्रमिदम् परम्।
२ आदि (गीता), २.३८३ : अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना॥
३ आदि (गीता), २.३२५–३२६.
४ शान्ति, ३८.९–१०; ४६.२२; ५०.१८–२४; ५४.२१–३४.
५ शान्ति. ३८.९–१०.
६ शान्ति, ४६.२१–३; ५१.१७; ५४.२९–३०, इत्यादि.

तम है। इस विषय के प्राचीनतम आचार्यों के नाम तथा उनके सिद्धान्त इन्हीं ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अर्थशास्त्र की ही भाँति महाभारत भी नीति-निष्णात् आचार्यों के विचारों की बृहत् संहिता है जिसका सम्यक् अध्ययन भारतीय राजनीति के विकास के लिये परम आवश्यक है।

इस संदर्भ में महाभारत का काल निरूपण भी आवश्यक प्रतीत होता है। यह प्रश्न अद्यावधि पुराविदों के लिये जटिल समस्या बना हुआ है, जिन्होंने भाषा, छन्द, शैली तथा भौगोलिक एवं ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर इस के विभिन्न पर्वों का काल निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ में वर्णित घटना की प्राचीनता तो प्रायः सभी विद्वानों को मान्य है, परन्तु वर्तमान ग्रन्थ की प्राचीनता के विषय में बड़ी मतभिन्नता है। आचार्य काणे ने यथेष्ट ही लिखा है कि महाभारत का तिथिपरक युग निर्धारण एक स्वतंत्र शोध प्रबंध का विषय है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस विषय की विवेचना करना आवश्यक नहीं है। सामान्यतः अन्यान्य विद्वानों की भांति हम भी हाप-किन्स एवं विंटरनिज़ के मत को स्वीकार करते हैं कि यह ग्रन्थ ईसापूर्व चौथी शताब्दी तथा ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के मध्य की रचना है। महाभारत में शक, यवन, पह्लव आदि के वर्णन से इसी मत की पुष्टि होती है और सम्भवतः इस ग्रन्थ में प्रति-पादित राज धर्म उसी युग की ऐतिहासिक स्थिति को परिलक्षित करता है।

२
राज्य

भारत के प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिये राज्य को आवश्यक माना है, परन्तु उन्होंने राज्य की उत्पत्ति की विवेचना नहीं की है। ऐतिहासिक युग के आरम्भ से ही भारत में राज्य विद्यमान रहा है, परन्तु सर्व प्रथम इसकी सृष्टि कब और किन परिस्थितियों में हुई, इन प्रश्नों का समाधान किसी भी साधन से नहीं होता। हमारे पूर्वाचार्यों ने राजा की उत्पत्ति के विषय में कुछ सिद्धान्त अवश्य प्रतिपादित किये हैं। वही सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मान्य ठहराये जा सकते हैं, क्योंकि जब राजा की सृष्टि के पश्चात् शासक और शासित दो वर्गों का अभ्युदय हुआ, उसी समय से राज्य की उत्पत्ति मानी जा सकती है।

सैन्धव-सभ्यता काल में राज्य की कैसी स्थिति थी हमें अज्ञात है, परन्तु ऋग्वेद से विदित होता है कि वैदिक युग के प्रथम चरण में भारत में जन-राज्य (ट्राइबल स्टेट) थे, जो कालान्तर में क्षेत्रीय राज्यों (टेरीटोरियल स्टेट) में परिवर्तित हो गये।

महाभारत से ज्ञात होता है कि ऐतिहासिक युग से पूर्व एक ऐसा भी युग था जब देश में न राज्य था न राजा।

> ''नैव राज्यं न राजासीन्न दन्डो न च दाण्डिकः।
> धर्मेणेव प्रजाःसर्वा रक्षन्ति च परस्परम् ॥[1]

भीष्म का यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि योरोपीय विद्वान हाब्स, लाक और रूसो की भांति, परन्तु उनसे बहुत पूर्व, भारतीय आचार्यों ने भी एक ऐसे युग की कल्पना की थी जब राज्य का अस्तित्व न था। यह युग चिरस्थाई न हो सका, क्योंकि अराजक अवस्था का मनुष्य मोह-ग्रसित होकर सतपथ से विचलित हो गया। परिणाम स्वरूप मात्स्य न्याय का प्राबल्य हुआ और उससे त्राण पाने के लिये ही राजा और राज्य की सृष्टि हुई। महाभारत इस विषय पर बहुत महत्पूर्ण प्रकाश डालता है। इसकी सम्यक् विवेचना हम अग्रिम अध्याय में करेंगे।

---

१. शान्ति, ५९ . १४.

हमारे राजशास्त्र-प्रणेता राज्य की उत्पत्ति के विषय में तो मौन हैं, परन्तु उन्होंने राज्य के स्वरूप की कल्पना अवश्य की है । पाश्चात्य विद्वानों ने राज्य के चार मूल तत्त्व निर्धारित किये हैं –भूमि, जन, सरकार, तथा प्रभुत्त्व । जिसमें यह चारों तत्त्व विद्यमान हों वही राज्य है । इसके विपरीत भारतीय आचार्यों ने राज्य के सात अंगों की कल्पना की है. जिन्हें 'सप्त प्रकृति' भी कहा गया है । इसी आधार पर राज्य को सप्तांग अथवा सप्त-प्रकृत माना गया है । सप्तांग राज्य का उल्लेख वैदिक साहित्य में तो नहीं मिलता. परन्तु परवर्ती साहित्य और अभिलेखों में निरन्तर प्राप्त होता है ।[1]

यह सात अंग निम्नलिखित हैं :—स्वामी, अमात्त्य, पुर, राष्ट्र. कोप, बल, तथा मित्र । प्राय: सभी ग्रन्थों में राज्य के इन सात अंगों का उल्लेख किया गया है, परन्तु उनके नामों में और वर्णन क्रम में कुछ भिन्नता अवश्य देखी जाती है । स्वामी और अमात्त्य को सभी लेखकों ने प्रथम और द्वितीय स्थान प्रदान किया है और सप्तम स्थान मित्र अथवा सुहृद को । वैषम्य केवल अन्य चार अंगों के सम्बन्ध में देखा जाता है । यह क्रम-भिन्नता अकारण नहीं है । मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है कि यह सात अंग अपने महत्व क्रम के अनुसार उल्लिखित किये गये हैं ।[2] हम अनुमान कर सकते हैं कि अन्य लेखकों ने भी इसी नियम का अनुसरण किया होगा । परन्तु महाभारत इसका अपवाद प्रतीत होता है । स्वयं शान्ति पर्व में दो क्रम प्राप्त होते हैं : —
१–आत्मा (स्वामी),अमात्य, कोष, दण्ड, मित्र, जनपद तथा पुर, एवं
२–मित्र, अमात्य, पुर, राष्ट्र, दन्ड, कोष तथा महीपति ।[3]

अनुशासन पर्व में दूसरा ही क्रम मिलता है–अमात्य, राष्ट्र, पुर, कोप, बल, मित्र तथा स्वामी ।[4] यद्यपि इस ग्रन्थ में राज्य के अंगों की सूची कुछ ही स्थलों पर प्राप्त होती है , परन्तु सप्ताँग अथवा सप्त-प्रकृति राज्य का उल्लेख अनेकश: किया गया

---

१. दृष्टव्य मनु ९.२९४; याज्ञवल्क्य,१.३५३; नीतिसार, १.१८; अर्थशास्त्र, ८.१.
२. मनु, ९.२९५; तथा अर्थशास्त्र, ८.१.
३. शान्ति, ६९.६२-६३; ३०८.१५४ :
मित्रामात्यं पुरं राष्ट्रंदन्ड: कोशोमहीपति: ।
सप्ताँगश्चक्रसंघातो राज्यमित्युच्यते नृप ।।
४. अनुशासन (गीता), १४५. पृ० ५९४८.

है ।[1] अन्य ग्रन्थों के बिपरीत इसमें अष्टांग राज्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है,[2] परन्तु अष्टम् अंग क्या है यह नहीं बतलाया गया है ।

कौटिल्य और उनका अनुसरण करते हुए कामन्दक ने राज्य का वर्गीकरण दो प्रकृतियों में भी कियां है, अर्थात राजा और राज्य ।[3] राजा से स्वामी का बोध होता है और राज्य के अंतर्गत अन्य प्रकृतियों का समावेश माना जाता है । महाभारत भी एक स्थल पर राज्य की पांच प्रकृतियों का उल्लेख करके संभवतः इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है ।[4]

राज्यागों के प्रसंग में पाश्चात्त्य और भारतीय विचारों का तुलनात्मक अध्ययन अनुपयुक्त न होगा । हम ऊपर लिख चुके हैं कि पाश्चात्त्य साहित्य में राज्य के चार तत्त्वों का वर्णन प्राप्त होता है और भारतीय साहित्य में इसके सात अंगों का । परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों में विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता है । पाश्चात्त्य विद्वानों ने जिसे 'टेरीटरी' कहा है उसे भारतीय राज-शास्त्रकार राष्ट्र कहते हैं और स्वामी शब्द राज्य की सार्वभौम सत्ता "सावरेनटी" का बोधक है। यह द्रष्टव्य है कि इस प्रसंग मे प्रायः राजा के अर्थ में "स्वामी" का ही प्रयोग किया गया है । "राजा" सामन्त पद का भी द्योतक हो सकता है परन्तु स्वामी नहीं । स्वामी शब्द राज्य के प्रमुख सत्ताधारी का बोधक है, चाहे वह वंशानुगत राजा हो और चाहे गण राज्य का राष्ट्रपति । अमात्त्य, कोष, दुर्ग और बल, जो सरकार के प्रमुख अंग हैं, निस्संदेह 'गवर्नमेन्ट' के बोधक हैं । यह अवश्य द्रष्टव्य है कि भारतीय शास्त्रकारों ने जन (पापुलेशन) का उल्लेख इस प्रसंग में नहीं किया है । उनके मौन से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि वह जनता के अभाव में भी राज्य का अस्तिव संभव समझते थे । यह ऐसा स्वयं-सिद्ध तत्व है कि जन को राज्य के अंगों मे स्थान देना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा । एक दूसरी सम्भावना यह भी है कि वह प्रजा को राष्ट्र का अभिन्न अंग मानते थे । नीतिसार के टीकाकार शंकरार्य ने 'प्रजावती पृथ्वी' कह कर इसकी पुष्टि की है । अन्यत्र राष्ट्र के स्थान मे प्रयुक्त जनपद शब्द भी इसी का अनुमोदन करता

१. शान्ति, ५७.५; सभा, ५.१३ में प्रकृतयःसप्त के स्थान पर प्रकृतयःषट् भी पाठ मिलता है ।
२. शान्ति, १२२.८.
३. अर्थशास्त्र, ८.२ (राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः); नीतिसार, ६.१–२.
४. शान्ति (गीता), पृ० ४५६५.

है ।[१] जन-विहीन जनपद असम्भाव्य था । नीतिसार में एक स्थल पर राष्ट्र के स्थान पर प्रजा का उल्लेख मिलता है,[२] जिससे विदित होता है कि राज्य के अंग के रूप मे राष्ट्र और प्रजा शब्द पर्यायवाची माने जाते थे । अब रह गया मित्र । इसको राज्य के अंगों में स्थान देना भारतीय विचारकों की अनुपम सूझ है। प्राचीन भारत में देश प्रायः अनेक राज्यों में विभाजित था, जो सभी साम्राज्यवादी भावनाओं से अनुप्रेरित थे । ऐसी स्थिति में राज्यों में शक्ति-संतुलन नितान्त आवश्यक था, और इसी कारण से हमारे आचार्यों ने मित्र को भी उतना ही महत्वपूर्ण माना है जितना मंत्री अथवा कोष को । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः पाश्चात्य और भारतीय विचारधाराओं मे राज्य के अंगों के सम्बन्ध में अधिक भेद नहीं है ।

इसी प्रसंग में दूसरा प्रश्न यह उठता है कि राज्य का स्वरुप क्या है ? भारतीय विचारकों ने राज्य के तत्वों के लिये अंग अथवा प्रकृति शब्द प्रयुक्त करके ही स्पष्ट कर दिया है कि वे राज्य के सावयव सिद्धान्त में विश्वास रखते थे ।[३] पाश्चात्य विद्वानों से बहुत पहले ही वह एक प्रकार से 'आर्गेनिक नेचर आफ स्टेट' के सिद्धान्त को प्रतिपादित कर चुके थे । वे राज्य को विभिन्न अंगों का विसृङ्खलित समूह मात्र नही मानते हैं । मनुष्य के शरीर की भांति राज्य के अंग भी सुसंगठित होने चाहिये । शुक्र ने तो राज्य के अंगों और मानव शरीर के अंगों में सुन्दर साम्य दर्शाया है:—

............................तत्र मूर्धानृपः स्मृतः ॥
दृगमात्या सुहृच्छोत्रं मुखं कोशो बलं मनः ।
हस्तौपादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्यांगानि स्मृतानिहि ॥[४]

राज्य के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध भी विचारणीय हैं। मनु ने अवश्य इन अंगों को अपेक्षाकृत अधिक या कम महत्व का माना है, परन्तु उनके अनुसार भी इनके पारस्परिक सहयोग पर ही राज्य का अस्तित्व आधारित है । उन्होंने राज्य के अंगों की तुलना सन्यासियों के त्रिदंड से की है ।[५] जिस प्रकार त्रिदंड तभी तक भूमि पर टिक सकता है जब तक तीनों दंड एक दूसरे के सहारे टिके रहते हैं, उसी

---

१. यथा, अर्थशास्त्र, ८.१.
२. नीतिसार, १५.३.
३. दृष्टव्य, याज्ञवल्क्य, १.३५३ पर अपरार्क का भाष्य ।
४. शुक्रनीति, १.६१–६२.
५. मनु, ९.२९५–२९७.

भांति राज्य भी तभी तक सफलता पूर्वक अपना कार्य सम्पन्न कर सकता है जब तक उसके विभिन्न अंग पारस्परिक सहयोग प्रदान करते रहेंगे। अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक अंग महत्वपूर्ण है। एक अंग का कार्य दूसरा नहीं सम्पादित कर सकता है। कोई भी अंग निरर्थक अथवा महत्वहीन नहीं है। इसी भांति कामंदक भी राज्य के अंगों के पारस्परिक सहयोग को नितांत आवश्यक मानते हैं।[1]

महाभारत में भी इस महत्वपूर्ण प्रश्न की विवेचना की गई है। शांति पर्व में रानी सुलभा राजा जनक से प्रश्न करती हैं कि राज्य के समस्त अंग अन्योन्य गुणों से युक्त है उनमें किसको अधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया गया हैं। सभी अंग समय समय पर अपनी विशिष्टता सिद्ध करते हैं और जिस अंग से जो कार्यसिद्ध होता है उसके लिए उसी की प्रधानता मानी जाती है। मनुस्मृति की भाँति यहाँ पर भी राज्यांगों की तुलना त्रिदण्ड से करके उनके पारस्परिक सहयोग को आवश्यक सिद्ध किया गया है।[2]

अनुशासन पर्व में एक स्थान पर सातों प्रकृतियों की विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

> अमात्या बुद्धिसम्पन्ना राष्ट्रं बहुजनप्रियम्।
> दुराधर्षं पुरश्रेष्ठं कोशः कृच्छ्रमहःस्मृतः॥
> अनुरक्तं बलं साम्नामद्वैधं मित्रमेव च।
> एताः प्रकृतयः स्वेषु स्वामी विनयतत्ववित्॥

और यह भी कहा गया है कि उनके सहयोग से ही प्रजा की रक्षा तथा लोक-हित सम्पादन सम्भव है।[3] यह सत्य है कि अपने-अपने स्थान पर सातों प्रकृतियां विशिष्ट महत्व रखती हैं, परन्तु अपेक्षाकृत राजा का स्थान अधिक महत्वपूर्ण होता है। इसी कारण से उसे राज्य का मूल अथवा शीर्ष-स्थान बतलाया गया है। वह राज्य के विभिन्न अंगों का संचालन ही नहीं, वरन् उनमें तारतम्य भी स्थापित करता है। उनकी रक्षा का भार भी राजा पर ही होता है। राज्य के किसी अंग का अहित करने वाले व्यक्ति को वह दण्डित कर सकता है।[4]

---

१ नीतिसार, ४.१—२.
२ शान्ति, ३०८.१५४—१५६.
३ अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९४८—९.
४ शांति, ५७५.

महाभारत राज्य अथवा राष्ट्र के गुणों पर भी प्रकाश डालता है। इस प्रसंग में वे प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हैं जो नारद और भीष्म ने युधिष्ठिर से पूछे थे। उनसे स्पष्ट आभासित होता है कि स्फीत, सम्पन्न और अदेवमातृक राष्ट्र ही श्रेष्ठ माना जाता है, जिसमें अनेक विस्तृत और जल से परिपूर्ण तड़ाग हों, कृषक-वर्ग सन्तुष्ट हो, कृषि तथा वार्ता उन्नतिशील हो, और नागरिक शूरवीर, विद्वान, अनुग्रहशील एवम् समस्त प्राणियों के कल्याण की भावना से अनुप्रेरित हों। अच्छे राज्य में न याचक होते हैं, न दस्यु और चोर। प्रजा को कोई भी पीड़ित नहीं करता है।[१] भीष्म उसी शासक को दृढ़मूल मानते हैं, जिसका राज्य समृद्धिशाली, धन-धान्य सम्पन्न एवम् राजा के प्रति अनुरक्त होता है।[२]

उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि महाभारत में कुरु, चेदि आदि राज्यों के विवरण से होती है। आदिपर्व में कुरु राष्ट्र की ऊर्ध्व-सस्या भूमि, सरस फल और धान्य, तथा बहु पुष्पफला-वृक्षों का उल्लेख है। वहां समय पर वर्षा होती थी, और उसके नगर व्यापारकुशल वैश्यों एवम् कलाकुशल शिल्पियों से आकीर्ण थे। नागरिक शूर, विद्वान, धर्मरत, यज्ञशील, सत्यव्रत-परायण और पारस्परिक सद्भावना से युक्त थे। उनमें क्रोध, मान और लोभ आदि व्यसनों का सर्वथा अभाव था—न कोई दस्यु था, न अधार्मिक।[३] युधिष्ठिर के संरक्षण में तो इस राष्ट्र के गुण और भी विकसित हो गये थे, और देश अनावृष्टि, अतिवृष्टि तथा आधि-व्याधियों से मुक्त था।[४] ऐसा ही वर्णन चेदि राष्ट्र का भी किया गया है। वहां की वसुधा वास्तव में वसुपूर्ण तथा उत्तम गुणों से युक्त थी। देश धन, धान्य, रत्न आदि से सम्पन्न था और प्रजाजन स्वधर्मरत, सत्यवादी, गुरु-सुश्रुषा रत, तथा साधु-प्रकृति थे।[५] दस्युगणों से अभिभूत राष्ट्र को निन्दनीय माना गया है।[६] केकयराज की गर्वोक्ति
" न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः । नानाहिताग्निर्नायिज्वा......................।।"
भारतीय इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगी। उनके राष्ट्र मे सभीवर्ण स्वकर्मरत थे।[७] सारांशतः महाभारत उसी राष्ट्र को उत्तम मानता है जो धन-धान्य तथा पशुओं से

---

१ शाँति, ८९. २०–२१, तथा सभा, ५. ६६–७ .
२ शांति, ९७ . १६.
३ आदि, १०२. २—७.
४ सभा, ३०. १—५.
५ आदि, ५७. ८–१२.
६ शान्ति, १४२.२९.
७ शान्ति, ७८.८–१७.

सम्पन्न हो, जिसकी भूमि उपजाऊ और रत्नगर्भा हो, जहां जल का अभाव न हो, वार्ता उन्नतिशील हो, कुशल व्यापारी और शिल्पी हों तथा प्रजाजन स्वकार्यरत, धर्मपरायण, व्यसनरहित, भूतानुग्रह और पारस्परिक सद्भावना से अनुप्रेरित हों।

प्राचीन भारत में राजतंत्र का प्राधान्य रहा है परन्तु हमारे साहित्य, अभिलेख, और मुद्रा जनतंत्रात्मक राज्यों के अस्तित्व को भी प्रमाणित करते हैं। आचारांग-सूत्र में तो अन्य कई प्रकार के राज्यों का भी उल्लेख है। महाभारत में वर्णित इतिहास का सम्बन्ध मुख्यतः नृपतंत्र से है। कौरव-पाण्डव युद्ध में भाग लेने वाले राष्ट्रों में अधिकांशतः नृप-शासित राज्य ही थे, परन्तु इन राज्यों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में गण, संघ, कुल एवं ग्राम (नगर) राज्यों का भी उल्लेख किया गया है, जिनकी विवेचना हम अन्य अध्याय में करेंगे।

३

राजा

राजा की उत्पत्ति

भारतीय राजशास्त्र प्रणेता राज्य के सप्तांगों में राजा को प्रमुख स्थान प्रदान करते हैं परन्तु उसकी उत्पत्ति के विषय में वे एक मत नहीं हैं। पाश्चात्य विचारकों की भांति उन्होंने भी इस प्रश्न की विवेचना करके भिन्न भिन्न मत व्यक्त किए हैं। भारतीय साहित्य का सर्व प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें तथा अन्यान्य वैदिक ग्रन्थों में राजा की उत्पत्ति का कारण युद्ध ही बतलाया गया है। उदाहरणार्थ, ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि जब देवासुर संग्राम में देवता पराजित हुए तब उन्होंने अपनी असफलता के कारणों की समीक्षा की और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उनकी पराजय का प्रमुख कारण राजा का अभाव था। उनके प्रतिद्वन्दी असुरों का राजा ही उनकी सफलता का सबसे बड़ा कारण था। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के पश्चात देवताओं ने भी अपना राजा बनाने का निश्चय किया और उन्होंने इन्द्र को राजपद प्रदान किया[1]। आधुनिक विद्वान अनुमान करते हैं कि देवासुर संग्राम भारत में आर्य और अनार्यों के युद्ध को परिलक्षित करता है। वे यह भी अनुमान करते हैं कि प्रारम्भ में आर्य समुदाय में राजा नहीं था और उन्होंने अपने अनार्य प्रतिपक्षियों का अनुसरण करते हुये युद्ध की परिस्थिति के कारण ही राजा की नियुक्ति की थी[2]। इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध में नेतृत्व करने के लिए ही राजा की सृष्टि की गई थी।

इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्य मत भी प्रतिपादित किए गये हैं। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ राजा की उत्पत्ति के चार सिद्धान्तों को मान्यता देते हैं :—

१ दैवी सिद्धान्त,
२ सामाजिक अनुबन्धवाद सिद्धान्त,
३ बल सिद्धान्त,
४ विकासवादी सिद्धान्त।

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण, १.१४.
२ दृष्टव्य, Jayaswal, K. P., *Hindu Polity*, pp. 190-191.

प्रायः यह चारों ही सिद्धान्त भारत के प्राचीन ग्रन्थों में समाविष्ट पाये जाते हैं। मनु ने राजा की दैवी उत्पति के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था[1], तो कौटिल्य ने सामाजिक अनुबन्धवाद का सिधान्त[2]। महाभारत में दैवी उत्पत्ति तथा सामाजिक अनुबन्धवाद के सिद्धान्त का सम्मिश्रण पाया जाता है और उसी ग्रन्थ में अन्यत्र बल सिद्धान्त की भी झलक मिलती है।

भारत के प्राचीन विचारक एक ऐसे समय की कल्पना करते हैं जब राजा का अस्तित्व न था। इस युग की तुलना हम पाश्चात्य विद्वानों के 'स्टेट ऑफ नेचर' से कर सकते हैं। इस युग में प्रजा की स्थिति कैसी थी इस विषय में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह आदर्श युग था जब न राज्य था न राजा, न दन्ड न दन्ड देने वाला। सभी धर्मानुसार आचरण और एक दूसरे के अधिकारों की स्वतः रक्षा करते थे। परन्तु ऐसा युग चिरकाल तक स्थिर न रह सका। मनुष्य राग, लोभ, और मोह के वशीभूत हुए और मात्स्य-न्याय का प्रादुर्भाव हुआ। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ हुई। इसके विपरीत अन्य आचार्य अराजक अवस्था को प्रारम्भ से ही दोषपूर्ण बतलाते हैं। यह युग चाहे प्रारम्भ से ही दोषपूर्ण रहा हो और चाहे कालान्तर में ऐसा हो गया हो, परन्तु इस अवस्था में मनुष्य की स्थिति अत्यन्त भयावह हो गई थी और उसके निवारण के लिए ही राजा तथा राज्य की उत्पत्ति हुई थी[3]। यहां तक प्रायः सभी लेखक एकमत हैं, परन्तु राजा की उत्पत्ति कैसे हुई इस विषय में विषमता पाई जाती है।

महाभारत में भी अराजक अवस्था का चित्रण अनेक स्थलों पर किया गया है। शान्ति पर्व के ५९ वें अध्याय में भीष्म युधिष्ठर को बतलाते हैं कि कृतयुग में राजा की उत्पत्ति कैसे हुई थी। उनके अनुसार सर्व प्रथम जगत में न राज्य था, न राजा, न दन्ड, न दन्ड देने वाला। सब प्राणी धर्म मार्ग का अनुसरण करते हुए एक दूसरे की रक्षा तथा पालन पोषण करते थे। परन्तु कालान्तर में मोह के वशीभूत होकर मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से शून्य हो गये। उनका धर्म भी नष्ट हो गया। लोभ,

---

१ मनु, ७.३–४.
२ अर्थशास्त्र, १.१३.
३ दृष्टव्य, रामायण, २.६७; नीतिसार, २.४०; मत्स्य पु०, २२५.९; मानसोल्लास, २.२०.१२९५; अर्थशास्त्र, १,१३; मनु, ७.३; २०–२१; शुक्रनीति, १.६५; दीघ-निकाय, ३, पृष्ठ ८४–८६; (जैन) आदिपुराण, ३, पृ० २३, आदि।

काम तथा राग के वशीभूत होकर उन्हें गम्यागम्य, वाक्यावाक्य, भक्ष्याभक्ष्य तथा दोषादोष का विवेक न रहा। इस प्रकार मनुष्यलोक में धर्म के नष्ट हो जाने से वेदाध्ययन तथा यज्ञादि कर्म भी लोप हो गए[१]।

उसी पर्व के २८३वें अध्याय में कहा गया है कि प्रथम अवस्था में अधिकांश मनुष्य संयमी, धार्मिक, तथा न्यायोचित आचार का ही अनुसरण करने वाले थे, परन्तु कालान्तर में वे काम, क्रोध, लोभ तथा मोह के वशीभूत हो एक दूसरे का विनाश करके अपने सुख को बढ़ाने की चेष्टा करने लगे थे[२]। आरण्य पर्व के १८३ वें अध्याय में भी यही कहा गया है कि प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य ब्रह्मभूत, पुण्यात्मा, चिरंजीवी, उपद्रवशून्य तथा पूर्णकाम थे, परन्त कुछ समय पश्चात वे काम, क्रोध, लोभ तथा मोह के वशीभूत होकर पापपरायण हो गये थे[३]।

इसके विपरीत शान्ति पर्व के ६७वें अध्याय में कहा गया है कि अराजक युग प्रारम्भ से ही मात्स्यन्याय का युग था। इस युग में प्रजा दस्युओं से त्रसित थी। धर्म का लोप हो गया था और लोग एक दूसरे को विनष्ट करने में संलग्न थे। किसी भी व्यक्ति का अपने धन तथा स्त्री पर अधिकार सुरक्षित न था। धन तथा स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण किया जाता था और जो दास नहीं थे उन्हें दास बनाया जाता था। सारांशत: मात्स्यन्याय का प्राबल्य था[४]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हाब्स, लॉक, तथा रूसो की भाँति, किन्तु उनसे बहुत पहले ही, भारतीय राजशास्त्र प्रणेता 'स्टेट आफ नेचर' की कल्पना ही नहीं, अपितु उसके गुण और दोषों की विवेचना भी कर चुके थे।

एक मत के अनुसार अराजक अवस्था सदैव से ही मात्स्यन्याय का युग रहा है। अन्ततः दोनों ही मत एक ही निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अराजकयुग में प्रजात्रसित और पीड़ित थी। यह युग वर्ण–संकरता का युग था। निर्बल व्यक्ति सबलों की दया के आश्रित थे। मनुष्य ही नहीं यज्ञादि के अभाव में देवताओं की भी स्थिति विपन्न हो गई थी।

इस मात्स्यन्याय के युग का अन्त करने, तथा प्रजा की रक्षा करने के हेतु ही राजा

---

१ शान्ति, ५९.१४–२८.
२ शान्ति, २८३.७–१२.
३ आरण्य (गीता), १८३.६४–६९.
४ शान्ति, ६७.१२–१७.

की सृष्टि की गई। परन्तु राजा की सृष्टि कैसे हुई इस विषय में बहुत मतभेद है। मनु, नारद एवं अन्य आचार्य राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि प्रजा की रक्षा करने के लिए ही प्रभु ने राजा की सृष्टि की थी[१]। इसके विपरीत कौटिल्य तथा कतिपय बौद्ध ग्रन्थ सामाजिक अनुबन्धवाद के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका विश्वास है कि अराजकता को दूर करने के लिए मनुष्यों ने आपस में समझौता करके एक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति को अपना राजा बनाया था[२]। यह दोनों ही सिद्धान्त भारत और योरोप में दीर्घ काल तक मान्य रहे परन्तु इतिहास और तर्क की कसौटी पर कोई भी खरा नही उतरता। दोनों का ही खन्डन संभव है[३]।

महाभारत में राजा की उत्पत्ति के विषय मे एक से अधिक सिद्धान्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। सर्व प्रथम हम राजा के दैवी सिद्धान्त को लेते हैं। इसका उल्लेख हमें शान्ति पर्व के ५९ वें अध्याय में मिलता हैं। अराजक युग में मनुष्यों की कष्टप्रद स्थिति को देख कर देवता भी त्रसित हो उठे और ब्रह्मा जी की शरण में जाकर निवेदन किया कि मनुष्यलोक में यज्ञादि कर्म-क्रियाओं का लोप हो जाने से उनका भी जीवन संकट-मय हो गया था और उनका देव-स्वभाव नष्ट हो रहा था। तब देवताओं के कष्ट निवारण हेतु ब्रह्मा जी ने एक लाख अध्याय वाले नीतिसार की रचना की और कहा कि यह दन्डनीति सम्पूर्ण जगत की रक्षा करने में समर्थ होगी[४]। तदनन्तर देवताओं ने प्रजापति से एक ऐसे व्यक्ति का नाम बतलाने की प्रार्थना की जो मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करने का अधिकारी हो। भगवान नारायण देव ने अपने तेज से एक मानस पुत्र की सृष्टि की जो विरजा के नाम से विख्यात हुआ और उसी की सन्तति क्रमशः राज्य करने लगी[५]।

राजा की दैवी उत्पत्ति की पुष्टि शान्ति पर्व के ९२वें अध्याय में भी की गई है, जहां उतथ्य मान्धाता से कहते हैं कि विधाता ने दुर्बल प्राणियों की रक्षा ही के लिए बल-सम्पन्न राजा की सृष्टि की है[६]। उसी पर्व के १२२वें अध्याय में, जहां दण्ड की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, यह भी कहा गया है कि अराजकता के दोषों को दूर

---

१ मनु, ७.३.
२ अर्थशास्त्र १.१३; दीघनिकाय, ३ पृ० ८४–८९.
३ दृष्टव्य, Altekar, A.S., *State and Government in Ancient India*, Ch. 2.
४ शान्ति, ५९.११–२९.
५ शान्ति, ५९.९३–११२.
६ शान्ति, ९२.११–दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा – – – –.

करने के अभिप्राय से भगवान शूलपाणि ने भिन्न भिन्न वर्गों के राजाओं की सृष्टि की थी। इन्द्र को देवेश्वर के पद पर प्रतिष्ठित किया था। वैवस्वतयम को पित्रों का, कुवेर को धन और राक्षसों का, सुमेरु को पर्वतों का, महासागर को सरिताओं का, वरुण को जल और असुरों का, वायु को प्राणों का तथा अग्निदेव को तेज का आधिपत्य प्रदान किया। महादेव जी स्वयं रुद्रों के अधीश्वर बने। इसी प्रकार वशिष्ठ को ब्राह्मणों का, जातवेदस को वसुओं का, सूर्य को ग्रहों का, निशाकर को नक्षत्रों का, अंशुमान् को लताओं का, कुमार स्कन्द को भूतों का राजा नियुक्त किया। ब्रह्मा जी के छोटे पुत्र क्षुप को उन्होंने सम्पूर्ण प्रजाओं तथा समस्त धर्मधारियों का श्रेष्ठ अधिपत बना दिया[1]। शान्ति पर्व के ५९ वें अध्याय में भी कहा गया है कि राजा को देवताओं द्वारा राज पद पर स्थापित हुआ मान कर कोई व्यक्ति उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता है और समस्त जगत उसके वश में स्थित रहता है[2]। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत युग में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त पर कई महर्षियों की आस्था थी। यदि कुछ लोग विष्णु को राजा का सृष्टि-कर्ता मानते हैं तो अन्य लोग शिव तथा ब्रह्मा को।

इसके अतिरिक्त महाभारत में एक अन्य मत भी प्रतिपादित किया गया है, जिसे हम दैवी उत्पत्ति तथा सामाजिक अनुबन्धवाद के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण कह सकते हैं। शान्तिपर्व के ६७वें अध्याय में कहा गया है कि अराजक अवस्था से पीड़ित और त्रसित जनता ने आपस में मिल कर एक समझौता (समय) किया, जिसके नियम इस प्रकार थे :– 'हम लोगों को कटुवाकी, वाक्शूर, दन्ड-परुष, परस्त्रीगामी, तथा परधन का अपहरण करने वालों को समाज से बहिष्कृत कर देना चाहिए।' कुछ समय तक इस नियम का पालन किया गया। कालान्तर में फिर वही पुरानी दुर्व्यवस्था व्याप्त हो गई। तब सन्तप्त जनता ने पितामह ब्रह्मा से प्रार्थना की कि 'राजा के अभाव में हम सब लोग नष्ट हो जांयगे। आप हमें ऐसा राजा दीजिए जो शासन करने में समर्थ हो और हमारा पालन कर सके'। तब ब्रह्माजी ने मनु को राजा होने की आज्ञा दी। परन्तु मनु ने अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा कि राजकार्य बहुत कठिन है, विशेषत: मिथ्याचारी मनुष्यों पर शासन। इस पर प्रजा ने मनु को आश्वासन दिया और कहा कि आप न डरें, पाप तो उसे लगेगा जो उसे करेगा। हम लोग आपकी कोष वृद्धि के

---

१ शान्ति, १२२.२६–३५.

२ शान्ति, ५९.१३५ :

स्थापनामथ देवानां न कश्चिदतिवर्तते ।
तिष्ठत्येकस्य च वशे तं चेदनुविधीयते ॥

लिए पशुओं तथा स्वर्ण का पचासवाँ भाग एवम् अन्न की उपज का १०वां भाग देते रहेंगे। इसके अतिरिक्त सबसे सुन्दर कन्या शुल्क के रूप में आपको भेंट देंगे। प्रजा आपसे अनुराग करेगी, और आप उसका रक्षण। प्रजा के धर्म के चतुर्थांश के भी आप भागी होंगे।[1]

इस प्रकार महाभारत में एक ही पर्व के दो अध्यायों में राजा की उत्पत्ति के विषय में दो भिन्न भिन्न मत व्यक्त किए गये हैं। एक अध्याय में दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है और मनुष्यों के राजा विरजस को विष्णु का मानस पुत्र कहा गया है। दूसरे अध्याय में सामाजिक अनुबन्धवाद तथा दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण पाया जाता है। मनु को ब्रह्माजी ने राजा बनने का आदेश दिया था परन्तु उन्होंने प्रजा द्वारा कुछ शर्तों के स्वीकार करने पर ही राजपद ग्रहण करना स्वीकार किया था। उसी पर्व के ९०वें अध्याय में हमें बल सिद्धांत का भी आभास मिलता है। युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा था कि जो बाहुबल में एक समान हैं और गुण में भी एक समान हैं उनमें से कोई एक व्यक्ति कैसे सबसे श्रेष्ठ हो सकता है और अन्य मनुष्यों पर शासन करने लगता है। भीष्म ने उत्तर में कहा था कि जैसे क्रोध में भरे हुए विषधर सर्प छोटे सर्पों को खा जाते हैं, पैरों से चलने वाले प्राणी न चलने वाले प्राणियों को अपने उपभोग मे लाते हैं, दाढ़ वाले जन्तु बिना दाढ़ वाले जीवों को अपना आहार बना लेते हैं उसी प्रकार एक सबल मनुष्य बहुसंख्यक दुर्बल मनुष्यों पर शासन करने लगता है।[2]

महाभारत में एक नवीन सिद्धान्त भी दृष्टिगोचर होता है, जिसके अनुसार राजा की सृष्टि ऋषियों द्वारा हुई थी। शान्ति पर्व के ९१वें अध्याय में कहा गया है कि लोक और परलोक दोनों को दृष्टि में रख कर महर्षियों ने राजा नामक महान शक्तिशाली मनुष्य की सृष्टि की[3]। संभवतः यह उस कथा की ओर इंगित करता है जिसके अनुसार महर्षियों ने वेण की दाहिनी भुजा का मन्थन करके पृथु की उत्पत्ति की थी। इसी पर्व

---

१ शान्ति, ६७.१७–२६.

२ शान्ति, ९०.१९–२० : तुल्यबाहुबलानां च गुणैरपि निषेविनाम्।
कथं स्यादधिकः कश्चित्स तु भुंजीत मानवान्॥
यच्चराह्यचरानद्य् रदंष्ट्रांदंष्ट्रिणस्तथा।
आशीविषा इव क्रुद्धा भुजगा भुजगानिव॥

३ शान्ति, ९१.११ :उभौ लोकावभिप्रेक्ष्य राजानमृषयः स्वयम्।
असृजन्सुमहद् भूतमयं धर्मो भविष्यति॥

में अन्यत्र कहा गया है कि सप्त ऋषियों ने इन्द्र को स्वर्ग में देवराज के पद पर अभिषिक्त किया और वे स्वयं मनुष्यों पर शासन करने लगे। उनके पश्चात् विपृथु नामक राजा भूमण्डल का स्वामी हुआ तथा और भी बहुत से क्षत्रिय भिन्न-भिन्न मण्डलों के राजा हुये[१]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाभारत में राजा की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न और परस्पर विरोधी मतों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ में अनेक आचार्य तथा राजनीति-प्रणेताओं के मत संग्रहीत हैं। यह प्रश्न ही ऐसा जटिल है कि जिस पर संसार के राजनीति-विचारक आज तक एक मत नहीं हो सके हैं। यह सभी सिद्धान्त कल्पना और अनुमान पर आधारित हैं। भिन्न२ देशों में राजा की सृष्टि किस प्रकार, किन परिस्थितियों में तथा किसके द्वारा हुई इसको जानने का हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। जब ऐतिहासिक साधन किसी बात का पता लगाने में असमर्थ सिद्ध होते हैं, तब विचारवान महर्षि कल्पना और अनुमान का आश्रय ग्रहण करते हैं और उनके सहारे उनका भिन्न २ निष्कर्षों पर पहुंचना बहुत ही स्वाभाविक है। यही स्थिति महाभारत में भी दृष्टिगोचर होती है।

महत्व

नृपतंत्रात्मक राज्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग स्वामी अथवा राजा होता है। भारत के प्राचीन राजनीति-चिन्तकों में उसकी उत्पत्ति के विषय में बहुत मत-भिन्नता है, परन्तु उसके महत्व के प्रश्न पर वह सभी एक मत हैं, चाहे वे राजा की दैवी उत्पत्ति में आस्था रखते और चाहे सामाजिक अनुबन्धवाद के सिद्धान्त में। सभी राजनीति-विचारक यह स्वीकार करते हैं कि राजा ने मात्स्य न्याय के युग का अन्त किया था। वास्तव में राजा की सृष्टि ही इसी अभिप्राय से की गई थी। अराजक युग में अथवा राजा के अभाव में प्रजा पीड़ित और उद्विग्न थी। न किसी का जीवन सुरक्षित था और न किसी की सम्पत्ति। यज्ञ, अध्ययन आदि, सभी कर्म अवरुद्ध हो रहे थे, और हो रहा था वर्णसंकरता और कर्मसंकरता का प्राबल्य। इस भयावह स्थिति को राजा ने दूर किया और एक बार फिर प्रजा सुख-शान्ति का अनुभव कर सकी। सभी लोग स्वधर्म और स्वकर्म का शान्ति पूर्वक परिपालन करने में समर्थ हुये। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय राजनीति में राजा को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। यदि एक आचार्य उसे राज्य का मूल मानता है तो दूसरा

---

१ शान्ति, २८३.१८-१९.

शीर्ष-स्थान । यदि शुक्रनीति में राजा को राज्य-रूपी शरीर का शीश माना गया है[1], तो राजनीतिप्रकाश में सप्तांग राज्य का मूल।[2] कामन्दकीय नीतिसार भी राजा को राज्य का मूल मानता है[3] और उसके टीकाकार शंकरार्य राजा का महत्व इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :— "कूटस्थानीयो हि स्वामी ।"[4]

अन्य ग्रन्थों की भाँति महाभारत में भी राजा को अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। भिन्न-भिन्न पर्वों में अनेकशः ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनसे उसका महत्व व्यक्त होता है। प्रथमतः, अनेक स्थलों पर प्रजा की उस भयावह स्थिति का चित्रण किया गया है जो राजा के अभाव में होती है[5]। शान्तिपर्व में युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न करते हैं कि राजा भी तो अन्य व्यक्तियों की ही भाँति होता है फिर वह कैसे सब मनुष्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है? क्या कारण है कि सारा जगत उसी की प्रसन्नता में प्रसन्न होता है और उसके सन्तप्त होने पर सन्तप्त? समस्त प्राणी उसको देवतावत् मानकर क्यों नत-मस्तक होते हैं? उत्तर में भीष्म ने अराजक अवस्था के दोषों को विस्तार पूर्वक व्यक्त करते हुए कहा कि उस भयावह स्थिति को दूर करने के लिए ही प्रभु ने राजा की सृष्टि की थी।

शान्ति पर्व में अन्यत्र राजाहीन देश को धिक्कार-योग्य माना गया है। अराजक राष्ट्र निर्बल तथा दस्यु जनों से त्रसित होता है। वहाँ धर्म का अभाव होता है और मनुष्य एक दूसरे को विनष्ट करने लगते हैं[6]। भीष्म तो यहाँ तक कहते हैं कि राजाहीन राज्य में रहना ही न चाहिए[7]। इसी प्रकार अराजकता के दोषों को अन्य स्थलों पर भी वर्णित किया गया है।

उपर्युक्त उद्धरणों से एक ही ध्वनि निकलती है कि राष्ट्र और प्रजा की रक्षा एवम् समृद्धि हेतु राजा का होना नितान्त आवश्यक है। भीष्म के अनुसार प्रजा

---

१ शुक्रनीति, पृ० ६१ : तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः.
२ राजनीतिप्रकाशः सप्तांगस्याधिराज्यस्य मूल स्वामी.
३ नीतिसार, १७.३८: तन्मूलत्वात् – – – – तु राजा.
४ नीतिसार, १४.५९ पर शंकरार्य का भाष्य.
५ यथा शान्ति, ६८.
६ शान्ति, ६७.२·३.
७ शान्ति, ६७. ५: नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति वैदिकम्.

अपनी रक्षा के लिये राजपद पर किसी योग्य व्यक्ति को प्रतिष्ठित करे।[१] अन्यत्र कहा गया है कि ब्रह्मा ने दुर्बल प्राणियों के रक्षार्थ ही राजा की सृष्टि की थी।[२]

राजा के आश्रय में रह कर ही प्रजा सुरक्षित होती है, और धर्म, अर्थ तथा काम की अनुभूति करती है। शमीक ऋषि ने अपने पुत्र (जिसने राजा परीक्षित् को शाप दिया था) की भर्तस्ना करते हुए यथेष्ट ही कहा कि 'यदि राजा रक्षा न करे तो हमको भारी कष्ट पहुंच सकता है। राजा के अभाव में हम सुख पूर्वक धर्म का अनुष्ठान भी नहीं कर सकते हैं। राजा के द्वारा सुरक्षित रह कर ही हम धर्माचरण कर पाते हैं'।[३] इसी कारण से महाभारत में कहा गया है कि मनुष्य प्रथमतः राजा को प्राप्त करे, तत्पश्चात् धन और पत्नी को; क्योंकि राजा के बिना न परिवार सुरक्षित रहता है और न धन।[४]

उद्योग पर्व में विचित्रवीर्य के अपदस्थ करने के पश्चात् कुरुराज्य की स्थिति का विस्तृत चित्रण किया गया है। यह वृत्तान्त अराजकता के दोषों तथा राजा की आवश्यकता पर बहुत महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। राजा के अभाव में इन्द्र ने राज्य में वर्षा बन्द कर दी और ऐसी स्थिति में समस्त प्रजा क्षुधा से पीड़ित हो, भीष्म के पास पहुंची और उनसे राजपद ग्रहण करने का अनुरोध किया क्योंकि बिना राजा के प्रजा-क्षीण होती जा रही थी। अनावृष्टि आदि से त्रसित, भयंकर रोगों से पीड़ित, प्रजा में बहुत थोड़े ही व्यक्ति जीवित बचे थे। इन व्यथाओं से केवल राजा ही रक्षा कर सकता है'[५]। ऐसा ही वृत्तान्त हमें आदि पर्व में भी मिलता है, जहाँ पर कहा गया है कि बिना राजा के राज्य कैसे सुरक्षित और अनुशासित रह सकता है[६] ? शान्ति पर्व में भी राजा के अस्तित्व से लाभ तथा अभाव में हानि का विशद चित्रण किया गया है[७]।

---

१ शान्ति ६७.१२ : तस्माद्राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छता।
तथा शन्ति, ६७-३२। इसी प्रकार अनुशासन पर्व में भी कहा गया है कि एक क्षण के लिए भी बिना राजा का राज्य न रहना चाहिये, अनुशासन (गीता), १४५ पृ० ५९५०.

२ शान्ति, ९२.११.

३ आदि, ३७.२०-२८; देखिये, विराट (गीता), ६८.४५ भी.

४ आदि, १४८.१२, तथा शान्ति, ५७.४१.

५ उद्योग, १४५.२४-२७.

६ आदि, ९९.८१.

७ शान्ति (गीता), ६८.

महाभारत से स्पष्टत: विदित होता है कि राजा ही प्रजा, समाज तथा धर्म का संरक्षक था। स्वयं देवताओं ने राजा वसु से कहा था कि तुम्हें ऐसी चेष्टा करनी चाहिए जिससे पृथ्वी पर संकरता न फैलने पाये। तुम्हारे द्वारा रक्षित धर्म ही सम्पूर्ण जगत को धारण कर सकता है[१]।

इसी कारण से प्राचीन भारत के महर्षियों तथा राजशास्त्र-प्रणेताओं ने एक मत से राजा के महत्व को स्वीकार किया है और राज्य तथा समाज में उसे अत्यन्त श्रेष्ठ स्थान देकर सम्मानित किया है। महाभारत में ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं जिनसे राजा की श्रेष्ठता का आभास मिलता है, यथा राजा समस्त प्राणियों के लिए गुरु की भाँति आदरणीय है[२]। आचार्य, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक, प्रिय मित्र, की भाँति उसे भी अर्घ्य देकर सम्मानित करना चाहिए[३]। राजा और गो पर प्रहार करने से भ्रूण हत्या का पाप लगता है[४]। लोक कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को चाहिये कि इन्द्र के समान राजा की पूजा करे[५]। राजा सम्पूर्ण जगत को धारण करने वाला है[६]। धर्म एवम् प्रजा का योगक्षेम राजा पर ही अवलम्बित है[७]। लोग राजा के भय से पाप नहीं करते[८]। जैसे सब प्राणी मेघों के, और पक्षी वृक्षों के सहारे जीवन यापन करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य राजा के आश्रित रह कर जीवन निर्वाह करते हैं[९]। राजा प्रजा के प्राण और धन दोनों का स्वामी है[१०]। बलवान के अत्याचार से राजा ही बचाता है[११] राजा त्रिवर्ग का मूल है[१२] और वही चारों युगों का सृष्टिकर्ता है[१३]। पिता, राजा तथा वृद्ध सर्वथा आदरणीय हैं[१४]। देवता के समान निग्रह तथा अनुग्रह में समर्थ राजा की

---

१ आदि, ५७.५.
२ आश्रमवासिक (गीता), ३.३६.
३ सभा, ३३.२३-२४.
४ अनुशासन, ७३.३०.
५ शान्ति, ६७.४.
६ शान्ति, ७३.२६.
७ शान्ति, ७३.२२.
८ शान्ति, ६८.२७.
९ शान्ति, ७६.१३.
१० शान्ति, ८३.२९.
११ शान्ति, ८६.१७.
१२ शान्ति, १३९.९९
१३ शान्ति, ७०.२५.
१४ उद्योग, ७०.७४.

कभी अवहेलना न करे[१]। राजा प्रजा का प्रथम अथवा प्रधान शरीर है, उसके बिना देश और वहाँ के निवासी नहीं रह सकते[२]। राजा प्रजा का हृदय, गति, प्रतिष्ठा और उत्तम सुख है। राजा का आश्रय ग्रहण करने वाले मनुष्य दोनों लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं[३]। राजा, माता, पिता, गुरू, रक्षक, अग्नि, वैश्रवण और यम के समान है[४]। राजा के प्रति जो व्यक्ति मिथ्या भाव प्रदर्शित करता है, वह दूसरे जन्म में पशु-पक्षी की योनि में जन्म लेता है[५]। भीष्म भी कहते हैं कि प्रजा के योगक्षेम, उत्तम वृष्टि, व्याधि, मृत्यु और भय इन सबका मूल कारण राजा ही है[६]। लोक-प्रचलित धर्म भी उसी में निहित है[७]।

आरण्यपर्व में अत्रि राजा पृथु को मनुष्यों में प्रथम, श्रेष्ठ, ज्येष्ठ तथा सम्पूर्ण देवताओं के समान बतलाते हैं[८]। उसी पर्व में सनत्कुमार का कथन और भी महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार राजा शुक्र, शक्र धाता, बृहस्पति, तथा प्रजापति हैं–'जिस राजा की प्रजापति, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दों द्वारा स्तुति की जाती है उसकी पूजा कौन नहीं करेगा? पुरायोनि, युधाजित्, अभिया, मुदित, भव, स्वर्णेता, सहजित्, बभ्रु, नामों द्वारा राजा को सम्बोधित किया जाता है। राजा सत्ययोनि सत्यधर्म-प्रवर्तक, पुराविद् है। अधर्म से डरे हुये ऋषियों ने अपना ब्राह्म बल भी क्षत्रियों में स्थापित कर दिया था। जैसे देवलोक में सूर्य अपने तेज़ से अन्धकार का नाश करता है उसी प्रकार राजा पृथ्वी पर अधर्म का सर्वथा विनाश कर देता है। अतः शास्त्र-प्रमाण पर दृष्टिपात करने से राजा की प्रधानता सूचित होती है[९]।

राजा के महत्व से ही प्रेरित हो हमारा ग्रन्थ कहता है कि जो व्यक्ति राजा के हित साधन में संलग्न रहता है, वह दोनों लोकों में सुखी होता है और उसके विपरीत आचरण करने वाला कभी भी सुखी नहीं हो सकता[१०]। इतना ही नहीं, इस ग्रन्थ में

---

१ विराट, ४. २२.
२ शान्ति, (गीता), ६८. ५८ तथा ५९ के मध्य में.
३ शान्ति, ६८.५९.
४ शान्ति, १३९ १०३.
५ शान्ति, १३९.१०४.
६ शान्ति, १४१ ९
७ शान्ति, ६८.८.
८ आरण्य, १८५.३२-३३.
९ आरण्य, १८५.२६-३१.
१० शान्ति, ६८.३८-३९; ४८-४९.

तो यहाँ तक कहा गया है कि राजा की रक्षित वस्तुओं को भी हानि न पहुंचाना चाहिये। उसके धन के अपहरण का भी निषेध है। जो व्यक्ति ऐसा करता है वह तत्काल मारा जाता है और दूसरे जन्म में नरकगामी होता है[1]। अन्य मनुष्यों के समान होने पर भी एक मात्र राजा की आज्ञा में यह जगत स्थिर है[2]। स्वयं भगवान विष्णु ने यह मर्यादा स्थापित की थी कि कोई व्यक्ति राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। उसे देवताओं द्वारा राजपद पर स्थापित मान कर कोई भी उसकी अवज्ञा नहीं करता और समस्त जगत उसके वश में स्थापित रहता है[3]।

उपाधियां

राजा का महत्व और वैभव उसकी उपाधियों से भी प्रकट होता है। महाभारत में राजा की अनेक उपाधियाँ प्राप्त होती हैं :— यथा राजन्, राजेन्द्र, राज्ञ, नृप, नृपति, नराधिप, नरेन्द्र, नरेश्वर, मनुष्येन्द्र, मनुजेश्वर, जनाधिप, जनेश्वर, पार्थिव, पृथ्वीश्वर, पृथ्वीपाल, पृथ्वीपति, भूमिप, क्षितिभुज, विशाँपति, लोकनाथ आदि। यह सब उपाधियाँ पृथ्वी और प्रजा दोनों पर ही राजा के अधिकार की सूचक हैं। कुछ उपाधियां सम्राट-पद सूचक हैं, यथा महाराज। विराट् और स्वराट् उपाधियां भी प्राप्त होती हैं जो प्रादेशिक या विभिन्न वर्गों के राजा की मर्यादा की सूचक हो सकती हैं। राजा को प्रभु, ईश और ईश्वर भी कहा गया है जो उसके देवत्व की द्योतक है।

उत्तराधिकार-नियम

शुक्र आदि राजनीति-प्रणेताओं ने उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम निर्धारित किये हैं। उनके अनुसार राजपद वंशानुगत था और राजा का ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता का उत्तराधिकारी होता था। यदि ज्येष्ठ पुत्र में किसी प्रकार की अयोग्यता होती थी तो आयु-क्रम के अनुसार उसके अनुजों का राज्य पर अधिकार होता था। पुत्र के अभाव में अनुज अथवा पितृव्य सिंहासन का अधिकारी होता था[4]। इस प्रकार के नियम प्राचीन भारत में अधिकाँशतः मान्य थे। परन्तु वैदिक साहित्य से कुछ ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस युग में

---

१ शान्ति, ६८.५१-५३.
२ शान्ति, ५९.१३८.
३ शान्ति, ५९.१२९, १३६-१३७.
४ यथा, शुक्रनीति, १.३४०–४३.

राजा निर्वाचित होता था[१]। जायसवाल ने ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ मंत्रों के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है[२]। इन मंत्रों से विदित होता है कि राजा का निर्वाचन प्रजा द्वारा समिति में होता था। कतिपय मंत्रों में कहा गया है कि समिति द्वारा राजा का निर्वाचन होता था। इनके आधार पर यही निष्कर्ष संभव है कि समिति समस्त प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थी।

वैदिक युग में निर्वाचित राजा असम्भाव्य नहीं है परन्तु वैदिक साहित्य में हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि उस युग में भी राजपद वंशानुगत होने लगा था। स्वयं ऋग्वेद में ऐसे राज्यों का वर्णन मिलता है जिनमें एक ही वंश तीन या चार पीढ़ियों तक राज्य करता रहा है। उत्तर वैदिक साहित्य में तो दस पीढ़ियों तक राज करने वाले राजकुल का भी उल्लेख मिलता है[३]। यद्यपि अल्तेकर[४] प्रभृति विद्वान जायसवाल के मत का समर्थन नहीं करते, परन्तु इस बात के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं कि प्राचीन भारत में राजा का निर्वाचन होता था। जातक कथाओं में राजा के निर्वाचन का अनेक बार उल्लेख किया गया है, परन्तु यह निर्वाचन विशेष परिस्थितियों में होता था[५]। ऐतिहासिक युग में राजा के निर्वाचन का उल्लेख हमे बंगाल के इतिहास में प्राप्त होता है[६]। अभिलेखों के अनुसार पालवंशके संस्थापक गोपाल का निर्वाचन प्रजा द्वारा किया गया था। ऐसा ही एक अन्य उदाहरण हमे पल्लववंश के इतिहास मे भी मिलता है[७]।

राजपद के वंशानुगत हो जाने पर भी यह आवश्यक न था कि राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी हो। गुप्तवंश के इतिहास से इसकी पुष्टि होती है। चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को इस लिए अपना उत्तराधिकारी नहीं चुना था कि वह उसका ज्येष्ठ पुत्र था वरन् इस आधार पर कि वह उसके पुत्रों में सबसे योग्य था। इसी प्रकार

१　यथा, ऋग्वेद, १०.१७३; अथर्ववेद, ६.८७–८८.
२　Jayaswal, *Hindu Polity*, ch. 24.
३　शतपथ ब्राह्मण, ७.५-३: दशपुरुषं राज्यं।
४　Altekar, *State and Government in Ancient India*, pp. 80–84.
५　जातक, १ पृ० ४७०; ५ पृ० १८७, इत्यादि.
६　*E. I.*, IV, p. 248.
रुद्रदामन् प्रथम के विषय में भी कहा गया है "सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन……" *E. I*, VIII, p. 40.
७　दृष्टव्य, Minakshi, *Administrative and Social Life under the Pallavas*, p. 38.

चन्द्रगुप्त द्वितीय को भी समुद्रगुप्त ने योग्यता के आधार पर चुना था, जैसा कि 'तत्परिगृहीतेन' वाक्य से स्पष्ट होता है। स्कन्दगुप्त का भी निर्वाचन योग्यता के आधार पर हुआ था। यह परिपाटी गुप्त वंश की ही विशेषता थी या अधिक व्यापक रूप से प्रचलित थी कहना कठिन है क्योंकि उसके पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती साहित्य में ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकारी माना गया है, जब तक कि उसमें किसी प्रकार की अयोग्यता न हो।

महाभारत से उत्तराधिकार के विषय पर समुचित प्रकाश पड़ता है। स्वयं कुरुवंश के इतिहास से ही उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम भली भांति ज्ञात हो जाते हैं, और उसकी पुष्टि अन्यान्य राजवंशों के वृत्तान्त से होती है[1]। महाभारत से स्पष्ट है कि उस समय राजपद वंशानुगत हो चुका था। अनेक स्थलों पर हमे 'पितृपैतामहंराज्यम्'[2] अथवा पैतृक-राज्य[3] का उल्लेख मिलता है, और जिन वंशों का इतिहास इस ग्रन्थ में संग्रहीत है उसमें भी यही प्रतिध्वनित होता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, कुरूवंश के इतिहास से हमें उत्तराधिकार विधान का समुचित ज्ञान प्राप्त होता है। यह नियम इस प्रकार थे। राज्य पैतृक था और पिता के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था। उद्योग पर्व में गान्धारी कहती है कि 'हमारे यहां परम्परा से चला आने वाला कुल धर्म यही है कि यह राज्य अनुपूर्वक्रम से उपभोग में आये – – – – – यह राज्य पाण्डवों का है क्योंकि राज्य के उत्तराधिकारी पुत्र-पौत्र ही होते हैं :—

राज्यं कुरूणामनुपूर्वभोग्यं क्रमागतो नः कुलधर्म एषः।
राज्ये स्थितो धृतराष्ट्रो मनीषी तस्यानुजो विदुरो दीर्घदर्शी।
राजा च क्षत्ता च महानुभावो भीष्मे स्थिते परवन्तौ भवेताम्।
अयं तु धर्मज्ञतया महात्मा न राज्यकामो नृवरो नदीजः।
राज्यं तु पाण्डोरिदमप्रधृष्यं तस्याद्य पुत्राः प्रभवन्तिनान्ये।
राज्यं तदेतन्निखिलं पाण्डवानां पैतामहं पुत्रपौत्रानुगामि" ॥[4]

परन्तु यदि ज्येष्ठ पुत्र में शारीरिक या चारित्रिक अयोग्यता होती थी तो उसे

---

१ आश्वमेधिक, ३५; आश्रमवासिक, २०.७; आदि, ९.४४, इत्यादि.
२ आदि, १९४.५; ९५.१३ यथा, शान्ति ४३.३; उद्योग, ३.९.
३ उद्योग, ५३.७; आदि, १९४.५; १९६.११; अनुशासन, १२.२७.
४ उद्योग, १४६.२९-३२.

राज्य के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था और उसके अनुज को उत्तराधिकारी बनाया जाता था। विचित्रवीर्य के ज्येष्ठ पुत्र धृतराष्ट्र थे। किन्तु जन्मांध होने के कारण उनके स्थान पर अनुज पाण्डु को राजा बनाया गया। धृतराष्ट्र के अनुसार यदि ज्येष्ठ पुत्र अहंकारी हो तो भी उसे राज्य की प्राप्ति नहीं होती। इस कथन की पुष्टि में उन्होंने अपने पूर्वज ययाति और उनके पुत्रों का उदाहरण दिया है। ययाति के सबसे बड़े पुत्र यदु थे। अभिमानवश उन्होंने समस्त क्षत्रियों तथा अपने पिता और भाई का भी अपमान किया था। अतः ययाति ने कुपित होकर उन्हें उत्तराधिकार से वंचित कर दिया था[१]। तीन अन्य पुत्रों ने यदु का अनुसरण किया और उन्हें भी राज्य से वंचित किया गया। अन्त में यथाति ने अपने सबसे छोटे आज्ञाकारी पुत्र पुरु को सिंहासन दिया[२]। यही कथा आदि पर्व में भी वर्णित है। इस पर्व के अनुसार यदु और उनके तीन छोटे भाइयों का अपराध यह था कि उन्होंने अपने पिता ययाति को अपनी युवावस्था देने से इनकार कर दिया था। राज्य के वरिष्ठ व्यक्तियों ने राजा के निर्णय का विरोध करते हुए प्रतिवाद किया कि ज्येष्ठ पुत्रों का अतिक्रमण करके छोटा पुत्र कैसे राज्य का अधिकारी हो सकता है? ययाति ने उत्तर में कहा कि पिता के प्रतिकूल आचरण करने वाले पुत्र को पुत्र नहीं माना जाता है। प्रजापतियों ने राजा की बात का समर्थन करते हुए कहा कि जो पुत्र माता-पिता का हितैषी है वही राज्य का अधिकारी है। ययाति के इस निर्णय का शुक्राचार्य ने भी समर्थन किया[३]। राजा सगर ने अपने पुत्र असमंजा को पुरवासियों के प्रति दुर्व्यवहार के कारण परित्यक्त कर दिया था[४]।

प्रतीप और उनके पुत्रों के इतिहास से भी इसी सिद्धांत की पुष्टि होती है। महाराज प्रतीप के तीन पुत्र थे, देवापि, वाल्हिक और शान्तनु। ज्येष्ठ पुत्र देवापि

---

१ आदि, १२९.१४-१५। हापकिन्स (*J. A. O. S.*, XIII, pp. 143-4) के अनुसार शारीरिक दोष के कारण कोई कुमार राजपद से नहीं वंचित किया जाता था। इस मत के समर्थन में उन्होंने धृतराष्ट्र तथा द्युमतसेन के उदाहरण दिये हैं, जो नेत्रहीन होने पर भी राजपद पर नियुक्त किए गए थे। परन्तु स्वयं धृतराष्ट्र का कथन इस मत का खंडन करता है। द्युमतसेन के इतिहास से यही विदित होता है कि अभिषेक-पश्चात् उत्पन्न दोष के कारण कोई शासक अपदस्थ नहीं किया जाता था (आरण्य, २७८, ७; २८३ ४-११).

२ उद्योग, १४७.३-१२.

३ आदि, ७८.३९-४१, तथा ७९ अध्याय.

४ शान्ति, ५७. ८-९.

यद्यपि सर्वगुण-सम्पन्न और प्रजा के प्रिय थे परन्तु वह चर्म रोग से पीड़ित थे। जब प्रतीप ने उनका राज्याभिषेक करना चाहा तब प्रजा के प्रतिनिधियों ने (ब्राह्मण, बृद्ध एवं पौर-जानपदों ने) उसका विरोध किया, क्योंकि 'अंगहीन राजा का देवता भी अभिनन्दन नहीं करते'।[१] देवापि प्रजा के विरोध से दुखी होकर राज्य परित्याग कर बन को चले गये। द्वितीय पुत्र वाल्हिक भी अपना अधिकार परित्याग कर मामा के यहां चला गया। अतः तृतीय पुत्र शान्तनु ही राजा हुए।[२] आदि पर्व से विदित होता है कि शूद्रागर्भोद्भव राजपुत्र भी राजपद के अयोग्य माना जाता था।[३]

महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि यदि राज्य का उत्तराधिकारी अल्प-वयस्क हो तो सिंहासन उसी को दिया जाता था और राज्य भार संभालने के लिए संरक्षक नियुक्त किये जाते थे। उदाहरणार्थ, विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक बाल्यावस्था मे हुआ था और शासन का संचालन भीष्म अपनी विमाता सत्यवती के आदेश से करते थे। इस उदाहरण से महाभारत काल में रानी का महत्व भी विदित होता है।[४]

यदि उत्तराधिकारी युवराज की अपने पिता के जीवनकाल मे ही मृत्यु हो जाती थी तो उसका पुत्र और पुत्र के अभाव मे अनुज राजा बना दिया जाता था। उदा-हरणार्थ, युधिष्ठिर के पश्चात् अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित राजा हुए थे।[५] चित्रांगद की निस्सन्तान मृत्यु हुई थी, अतः उनके भाई विचित्रवीर्य को राज्य प्रदान किया गया था।[६] स्वयं युधिष्ठिर ने दुःशला के बालक पौत्र को उसके पिता के राज्य में अभिषिक्त किया था।[७]

उत्तराधिकारी युवराज यदि राज्य का इच्छुक न हो तो वह अपने अधिकार का परित्याग कर सकता था। ऐसी अवस्था में उसके भाई या पुत्र को सिंहासन प्रदान किया जाता था। इसके दो उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रतीप के पुत्र वाल्हिक राज्य का

---

१ उद्योग, १४७. २५ : हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः।
२ उद्योग, १४७.१४-२८, तथा आदि, ८९.५२-५३.
३ आदि (गीता), १०८.५५.
४ उद्योग, १४५.२०-२१, आदि, १०१.१२-१४; १०२.१.
५ शान्ति, ३४.३१-३३.
६ आदि, ९०.५३; ९५.११-१२.
७ आश्वमेधिक (गीता), ८९.३५.

परित्याग कर अपने मामा के यहाँ चले गये थे। इससे अद्भुत उदाहरण भीष्म का है जिन्होंने अपने पिता की इच्छापूर्ति के लिए जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था जिससे कि भविष्य में उनकी सन्तान भी अपने अधिकार की मांग न कर सके। शान्तनु ने धीवर कन्या सत्यवती से इस शर्त पर ब्याह किया था कि उसका पुत्र ही सिंहासन का अधिकारी होगा। किन्तु वास्तविक अधिकारी भीष्म थे। उन्होंने स्वयं राज-सभा में अपने अधिकार-परित्याग की घोषणा कर दी थी। भविष्य में कई बार परिस्थिति वश स्वयं सत्यवती ने और प्रजा के प्रतिनिधियों ने उनसे राजपद ग्रहण करने का आग्रह किया था, किन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। राजा की बाल्यावस्था में वह अभिभावक के रुप में राज्य का संचालन मात्र करते रहे।[१]

एक अन्य प्रसंग से ज्ञात होता है कि गर्भस्थ बालक अथवा राजपुत्री भी राज्य की उत्तराधिकारिणी हो सकती थी। व्यास जी भारत युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर से कहते हैं कि 'जो राजा युद्ध में मारे गये हैं—उनके भ्राता, पुत्र, तथा पौत्रों को उनके राज्य पर अभिषिक्त करो। जिनके उत्तराधिकारी अभी बालक या गर्भ में ही हों उनकी प्रजा को समझा बुझा कर शान्त करो। जिन राजाओं के पुत्र न हों उनकी कन्याओं को अभिषिक्त करो।'[२] परन्तु उद्योग पर्व से विदित होता कि महाभारत स्त्री-राज्य का समर्थक नहीं है।[३] उसमें विदुर के द्वारा कहलाया गया है :—

यत्र स्त्री यत्र कितवो यत्र बालोऽनुशास्ति च।
मज्जन्ति तेऽवशा देशा नद्यामश्मप्लवाइव॥

राजा को राज्य परित्याग करने का भी अधिकार था। महाराज पाण्डु ने राज्य परित्याग कर बनवास ग्रहण किया था और अपना राज्य अपने ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्र को सौंप दिया था,[४] किन्तु धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे, अतः प्रजा ने उन्हें मान्यता न दी। इसी कारण से पाण्डु की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। वास्तविक उत्तराधिकारी कौन था, पाण्डु के पुत्र अथवा धृतराष्ट्र के पुत्र जिनको राज्य-भार देकर पाण्डु वन को चले गये थे? भीष्म ने पाण्डु को ही वास्तविक उत्तराधिकारी मान कर दुर्योधन को समझाया था कि वह आधा राज्य पाण्डवों को

---

१ उद्योग, १४५.
२ शान्ति, ३४.३१-३३.
३ उद्योग, ३८.४०.
४ उद्योग, १४६. ४-५.

बाँट दें। विदुर, द्रोण और गान्धारी ने भी इसी मत का समर्थन किया था।[1] स्वयं धृतराष्ट्र दुर्योधन से कहते हैं कि 'पाण्डु की मृत्यु के पश्चात उनके पुत्रों का ही राज्य पर अधिकार है, मैं तो राज्य का अधिकारी था ही नहीं, फिर तू कैसे राज्य का अधिकारी होना चाहता है।'[2]

यदि राजवंश में कोई उत्तराधिकारी पुरुष न होता था तो नियोग द्वारा भी पुत्र उत्पन्न कराके उसे राज्य सौंप दिया जाता था। विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् व्यास द्वारा उनकी रानियों के तीन पुत्र उत्पन्न हुये थे, धृतराष्ट्र, पाण्डु, और विदुर। नियोग का प्रस्ताव भी भीष्म और सत्यवती का था।[3]

यद्यपि शुक्र के अनुसार राज्य का विभाजन न होना चाहिये,[4] परन्तु महाभारत में इस नियम के विपरीत साक्ष्य मिलते हैं। धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों के मध्य राज्य के बटवारे का समर्थन भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि सभी ने किया था।[5] आदि पर्व के अनुसार महाराज वसु ने भी अपने राज्य के विभिन्न भागों पर अपने पांचों पुत्रों को अभिषिक्त किया था।[6]

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाभारत जिस काल का प्रतिनिधित्व करता है उस युग में राजपद पैतृक हो चुका था और साधारणतया पिता के पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता था। परन्तु यदि ज्येष्ठ पुत्र में शारीरिक अथवा चारित्रिक दोष होता था तो वह अपने अधिकार से वंचित कर दिया जाता था। ऐसी स्थिति में उसके पुत्र अथवा अनुज को सिंहासन प्रदान किया जाता था। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो वह अपने अधिकार का परित्याग भी कर सकता था। राजा की अल्पवयस्कता में राजकुल का कोई अन्य व्यक्ति संरक्षक नियुक्त किया जाता था। यदि पुत्र न हो तो कन्या भी उत्तराधिकारिणी हो सकती थी। उत्तराधिकारी निर्धारित करने में प्रजा का भी महत्वपूर्ण हाथ रहता था।[7]

---

१ उद्योग, १४५-१४६.
२ उद्योग, १४७. २९-३५.
३ आदि, ९०. ५५-६० तथा १००; ९७.११.
४ शुक्रनीति, १. ३४५,
५ उद्योग, १४५. ३६-३७; १४६. १५; १४७. ३५.
६ आदि, ५७. २८-३०.
७ देखिये इस ग्रन्थ का पृ० ३२.

राज्याभिषेक

राज्याभिषेक की परम्परा वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो जाती है और ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में इस संस्कार का विशद वर्णन प्राप्त होता है। सबसे अधिक समुचित वर्णन शतपथ ब्राह्मण में राजसूय यज्ञ के प्रसंग में किया गया है। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि :—'राज्ञ एवं राजसूयम्, राजा वैराजसूयेनेष्टवा भवति।'[१] ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक्त रामायण, महाभारत एवं विष्णुधर्मोत्तर आदि पुराणों और मध्ययुगीन ग्रन्थों में भी राज्याभिषेक का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। राजनीतिप्रकाश, नीतिमयूख, राजधर्मकौस्तुभ आदि ग्रन्थों में पूर्वोक्त प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण संकलित हैं।[२] इनके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न युगों में समयानुकूल राज्याभिषेक संस्कार में कुछ परिवर्तन होते रहे हैं, परन्तु उसका मूल स्वरूप अक्षुण्ण बना रहा। डा० जायसवाल आदि विद्वानों ने राज्याभिषेक संस्कार के संवैधानिक महत्व का भी मूल्यांकन किया है।[३] हम यहाँ पर अन्यान्य ग्रन्थों से प्राप्त विवरण का उल्लेख न करके केवल महाभारत के आधार पर राज्याभिषेक संस्कार का वर्णन करेंगे।

इस ग्रन्थ में अनेक राजाओं के राज्याभिषेक का उल्लेख प्राप्त होता है।[४] परन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण ओर विस्तृत वर्णन युधिष्ठिर के अभिषेक का है। यह विवरण महाभारत युग के राज्याभिषेक संस्कार पर समुचित प्रकाश डालता है। शान्तिपर्व में वर्णित है कि राज्याभिषेक के अवसर पर महाराज युधिष्ठिर पूर्व की ओर मुख करके स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हुये। सात्यकि और भगवान वासुदेव उनके सम्मुख तथा भीम और अर्जुन पार्श्व में उपस्थित हैं। एक ओर नकुल और सहदेव के साथ राजमाता कुन्ती स्वर्ण-विभूषित सिंहासन पर विराजमान हैं। राजपरिवार के अन्य सदस्य भी उपस्थित हैं। सिंहासन पर बैठने के पश्चात युधिष्ठिर श्वेत पुष्प, स्वस्तिक, अक्षत, भूमि, स्वर्ण, रजत, एवं मणि का स्पर्श करते हैं। तत्पश्चात राज-पुरोहित तथा अन्य प्रकृति-वर्ग मंगल द्रव्य लेकर राजा के सम्मुख उपस्थित हुये। विविध प्रकार की अभिषेक सामग्री रत्न, स्वर्ण, उदुम्बर, तथा मिट्टी के कलश. पुष्प, लाजा, कुश, गोरस, समी, पीपल तथा पलाश की समिधायें, मधु, घृत, गूलर

---

१ शतपथ, ५. १. १-१२.
२ दृष्टव्य, *History of Dharmaśāstra*, III, pp. 72-80.
३ *Hindu Polity*, chs. 24-25.
४ पार्थिव नरेशों के अतिरिक्त शल्यपर्व (गीता, ४७) में वरुण के जलेश्वर पद पर अभिषेक का भी वर्णन किया गया है.

की लकड़ी का श्रुआ तथा स्वर्ण जटित शंख आदि वस्तुयें प्रस्तुत की गईं। पुरोहित धौम्य ने वेदी की रचना की। उसे गोमय से पवित्र कर कुश के द्वारा उस पर रेखायें अंकित की गई। तत्पश्चात् सर्वतोभद्र आसन पर बाघम्बर एवं श्वेत वस्त्र बिछा कर युधिष्ठिर तथा द्रोपदी को आसीन किया गया। पुरोहित ने अग्नि में विधि-पूर्वक आहुति दी और भगवान श्रीकृष्ण ने पांचजन्य शंख के जल से युधिष्ठिर का अभि-षेक किया। तदनन्तर धृतराष्ट्र तथा प्रकृति-वर्ग के अन्य लोगों ने भी अभिषेक कार्य सम्पन्न किया। पणव, दुंदुभी आदि ध्वनित किये गये। युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों के स्वस्ति वाचन के पश्चात उनका विधिपूर्वक पूजन किया और उन्होंने एक सहस्त्र निष्क दान में दिये। ब्राह्मणों ने आशीर्वाद देकर जय-जयकार किया। सुहृद जनों ने युधिष्ठिर का सत्कार किया, और उन्होंने अपने विशाल राज्य का भार ग्रहण किया।[1]

आदि पर्व में भी युधिष्ठिर के राज्याभिषेक का वर्णन प्राप्त होता है। उन्हें खाण्डवप्रस्थ का राज्य प्रदान किया गया था। धृतराष्ट्र की आज्ञानुसार विदुर ने अभिषेक सामग्री एकत्रित की। वेदवेत्ता ब्राह्मण, नगर के प्रमुख व्यापारी, नैगम, श्रेणी-मुख्य, प्रजा तथा बन्धु-बान्धव निमंत्रित किये गये। भुजदण्ड, मुकुट, मुक्तामाल्य, कंगन, हार, पदक, कुण्डल, कटिसूत्र, उदरबन्ध आदि आभूषणों से राजा को सुसज्जित किया गया। एक सहस्र अष्ठ गजों पर सवार होकर ब्राह्मण पुरोहित गंगा जल लाये और समस्त आभूषणों से विभूषित राजा को पवित्र जल से अभिषिक्त किया। तत्पश्चात् उन्होंने भव्य गजराज पर आसीन होकर स्वर्ण और मणियों से शोभित छत्र धारण किया। उस समय ब्राह्मण जय-जयकार तथा सामन्त स्तुति कर रहे थे। धृतराष्ट्र के आदेशानुसार विदुर ने अभिषेक कार्य प्रारम्भ किया। वेदज्ञ ब्राह्मण तथा मूर्धा-भिषिक्त नरेशों के सहित व्यास जी ने विधिपूर्वक इस कार्य को सम्पादित किया। तत्पश्चात् राजकुल के व्यक्ति, आचार्य, गुरु, मित्र और बान्धवों ने भद्रपीठ पर आसीन युधिष्ठिर का अभिषेक किया और आशीर्वाद दिया 'राजन् तुम सारी पृथ्वी को जीतकर सम्पूर्ण नरेशों को अपने आधीन करो। तत्पश्चात् प्रचुर दक्षिणा-युक्त राजसूय यज्ञ करो, और बन्धु ब्रान्धवों सहित सुखी रहो।' अभिषेक-कार्य सम्पादित होने के पश्चात् युधिष्ठिर ने अक्षय धन दान दिया। समस्त मूर्धाभिषिक्त राजाओं ने उनका पूजन किया, तथा उपस्थित व्यक्तियों ने जय-जयकार सहित उनकी स्तुति की। तत्पश्चात् गजराज पर आरुढ़ युधिष्ठिर हस्तिनापुर की परिक्रमा करते हुए राजधानी में प्रविष्ट हुए।[2]

---

१ शान्ति, ४०.९–१८.
२ आदि (गीता), २०६ पृ० ५९१–२.

सभापर्व में भी राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर के अभिषेक का वृत्तान्त मिलता है। इस समय विभिन्न राज्यों के अधिपति उपस्थित थे, और धर्मराज युधिष्ठिर को भेंट देने के लिए अनेक प्रकार की वस्तुयें लाये थे। यह नरेश स्वयं अपने हाथों में आवश्यक पात्र और सामग्री लिये थे। अवन्ति-नरेश ने अभिषेक के लिए विभिन्न स्रोतों से जल एकत्रित किया था, तथा अन्य राजाओं ने रथ, अश्व, कवच, माला, उष्णीश, गजराज, तूणीर, धनुष, असि तथा कलश प्रदान किये थे। सात्यकि छत्र धारण किये थे, अर्जुन और भीमसेन व्यजन तथा नकुल और सहदेव चामर डुला रहे थे। तदनन्तर धौम्य एवं व्यास ने नारद, देवल और असित मुनि के साथ, तथा परशुराम ने वेद-पारंगत अन्य मुनियों के साथ युधिष्ठिर का अभिषेक किया। श्री कृष्ण जी ने भी समुद्र-जल शंख में लेकर अभिषेचन किया और उसी समय मंगलकारी शंख ध्वनित होने लगे।[1]

उद्योग पर्व में राजा प्रतीप द्वारा अपने ज्येष्ठ पुत्र देवापि के अभिषेकार्थ आवश्यक सामग्री-संग्रह का उल्लेख किया गया है।[2] आरण्य पर्व में राम[3], तथा राजा द्युमत्सेन[4] के अभिषेक तथा आदि पर्व में ययाति द्वारा पुरु[5] एवं भीष्म द्वारा विचित्रवीर्य[6] के अभिषेक का उल्लेख है। किन्तु इनके अभिषेक का विस्तृत वर्णन नहीं प्राप्त होता।

ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि अभिषेक के अवसर पर राजा को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी जिसे हम 'कारोनेशन ओथ' कह सकते हैं। वैदिक साहित्य में तो इस प्रतिज्ञा का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है परन्तु प्रतिज्ञा का वास्तविक स्वरूप ऐतरेय ब्राह्मण में ही प्राप्त होता है।[7] महाभारत से विदित होता है कि उस युग में भी राजा को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। इसका प्रमाण हमें शान्तिपर्व में मिलता है. जहां पर कहा गया है कि ऋषियों ने राजा पृथु को निम्नलिखित प्रतिज्ञा करने का आदेश दिया था :— 'मैं मन, वाणी और कर्म द्वारा भूतलवर्ती ब्रह्म का निरन्तर पालन करूँगा। वेद में दण्डनीति से सम्बन्धित जो नित्य-धर्म बतलाया गया है उसका भी निःशंक पालन

---

१ सभा (गीता), ५३.
२ उद्योग, १४७.२१—२२.
३ आरण्य, २७५, ६४—६५
४ आरण्य, २८३.११.
५ आदि, ८०.२४.
६ आदि, ९५.१२.
७ ऐतरेय ब्राह्मण, ८.१५:— याञ्च रात्रिमजायेहं याञ्च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति।

करूंगा थोर कभी स्वछन्द न होऊंगा। ब्राह्मण मेरे लिए अदण्डनीय होंगे तथा सब लोगों को संकरता से बचाऊँगा।'[१] अनुशासन पर्व से विदित होता है कि अभिषेक के पश्चात राजा भूमि दान करता था।

उपर्युक्त उद्धरणों से हमें महाभारत-कालीन राज्याभिषेक संस्कार का स्वरूप बिदित हो जाता है। इस अवसर पर राजा, उसके बन्धु-ब्रान्धव, प्रजावर्ग, मंत्री, पुरोहित के अतिरिक्त मित्र एवं सामन्त राजा भी उपस्थित रहते थे। अभिषेक से सम्बन्धित सामग्री (संभार) का विधिपूर्वक संग्रह किया जाता था। पुरोहित, बन्धु-बान्धव, अन्यान्य राजा तथा प्रजा के सभी वर्गों के प्रतिनिधि अभिषेक करते थे। इस अवसर पर राजा प्रतिज्ञा करता था और भूमि तथा अन्य वस्तुयें दान में देता था। मंगल वाद्यों के साथ पुण्याह्-वाचन तथा बन्दीजनों की स्तुति के साथ यह कार्य सम्पन्न होता था।

महाभारत केवल राजा ही के अभिषेक का वर्णन नहीं करता वरन् युवराज तथा सेनापति के अभिषेक पर भी प्रकाश डालता है, जिसका वर्णन हम अन्यत्र करेंगे।

राजोचित-गुण

शासन की सफलता-असफलता राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर थी। अतएव हमारे प्राचीन आचार्यों ने उसके कुछ आवश्यक गुणों का उल्लेख किया है। मनु, याज्ञवल्क्य विष्णु आदि स्मृतिकारों के अतिरिक्त, कौटिल्य, कामन्दक और शुक्र ने राजोचित गुणों

---

१ शान्ति, ५९ ११२–११४ :—

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणागिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्
यश्चात्र धर्मनीत्युक्तो दण्डनीति व्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥
अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीष्व चाभिभो।
लोकं च संकरात्कृत्स्नात्त्रातास्मीति परंतप ॥

महाभारत की 'प्रतिज्ञा' ऐतरेय ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है परन्तु इसके सम्बन्ध में जायसवाल का कथन (*Hindu Polity*, pp. 224-25) सर्वथा मान्य नहीं है। डा० रमेश चन्द्र मजूमदार को इसमें ब्राह्मणों द्वारा अपने अधिकारों की पुष्टि का आभास मिलता हैं। (*A. I. O. C.*, viii pp. 502-7)। वस्तुतः इसमें धर्म और दण्डनीति की ही महत्ता प्रतिपादित की गई है।

की विस्तृत तालिका प्रस्तुत की है। महाकाव्य, पुराण, अन्य साहित्यिक ग्रन्थ तथा अभिलेख भी उनका विवरण प्रस्तुत करते हैं। कौटिल्य और कामन्दक ने तो उनका समुचित वर्गीकरण भी किया है।[१]

महाभारत में इस प्रकार का वर्गीकरण तो नहीं मिलता परन्तु उसके विभिन्न पर्वों में राजा के गुणों पर समुचित प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार गुण सम्पन्न व्यक्ति ही शासन करने का अधिकारी है। गुण-विहीन राजा स्वयं तो विपत्ति में पड़ता ही है, प्रजा को भी विपत्ति के गर्त में डाल देता है। गुणयुक्त राजा प्रजा का विश्वास प्राप्त करता है। वह न पथ भ्रष्ट होता है और न श्रीभ्रष्ट।[२]

युधिष्ठिर के एक प्रश्न के उत्तर में भीष्म राजा के ३६ गुणों का उल्लेख करते हैं जिनको हम नीचे उद्धृत करते हैं:—

> इयं गुणानां षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशद्गुणसंयुता।
> यान्गुणांस्तु गुणोपेतः कुर्वन्गुणमवाप्नुयात्॥
> चरेद्धर्मानकटुको मुञ्चेत्स्नेहं न नास्तिकः।
> अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत्काममनुद्धतः॥
> प्रियंब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः।
> दाता नापात्रवर्षी स्यात्प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः॥
> संदधीत न चानार्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः।
> नानाप्तैः कारयेच्चारं कुर्यात् कार्यमपीडया॥
> अर्थान्ब्रूयान्न चासत्सु गुणान्ब्रूयान्न चात्मनः।
> आदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत्॥
> नापरीक्ष्य नयेद्दण्डंन च मंत्रं प्रकाशयेत्।
> विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु॥
> अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः।
> स्त्रियं सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम्।
> अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान्गुरून्सेवेदमायया।
> अर्चेद्देवान्नदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम्॥

---

१ अर्थशास्त्र, ६.१; नीतिसार, ४.६-२३.
२ शान्ति, ५६. १७-१९; ५७.१२-१४; ३०-३२; आदि, १३५.१९.

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्नत्वकालवित् ।
सान्त्वयेन्न च भोगार्थमनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥
प्रहरेन्न त्वविज्ञाय हत्वा शत्रून्न शेषयेत् ।
क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु ॥[1]

यद्यपि भीष्म ने राजा के यही ३६ गुण बतलाये हैं, परन्तु वास्तव में इनमें राजा के गुण, व्यवहार, आचार और नीति सभी का समावेश है ।

भीष्म ने अन्यत्र भी राजा के गुणों का निर्देशन किया है । उनके अनुसार राजा गुणवान, शील-सम्पन्न, दान्त, मृदु, धार्मिक, जितेन्द्रिय, सुदर्शन, स्थूल-लक्ष, सत्यवादी, विक्रान्त, शान्त, आत्मवान्, जितक्रोध, त्रयी और शास्त्र का ज्ञाता, चतुर्वर्ग-रत, संवृतमंत्र, मृदुदण्डी, प्राज्ञ, त्यागी, शत्रु की दुर्बलता समझने में तत्पर, नय-अपनयवित् क्षिप्रकारी, सुप्रसाद, महामना, क्रियावान, अविकत्थन तथा दृढ़संकल्प होना चाहिए ।[2] एक स्थल पर वह कहते हैं कि वे सब गुण भी राजा में विद्यमान होने चाहिए जो सचिव, सेनापति आदि में अपेक्षित हैं । ऐसा गुणसम्पन्न राजा ही वांछनीय होता है ।[3]

उतथ्य मुनि भी राजा मान्धाता को उपदेश देते हुए कहते हैं कि राजा सत्यवान दानशील, अतिथि-परायण, संयमी, समदर्शी, तथा क्षमा, बुद्धि, धृति, मधुर-वाणी, शौच अप्रमाद आदि गुण-युक्त एवम् दण्डवित्, प्राज्ञ, शूर, रूपवान तथा कुलीन होना चाहिए । सबसे अधिक उसे अपने कार्य में दक्ष होना चाहिए । उनके अनुसार सर्वगुण-सम्पन्न व्यक्ति ही राज्य का समुचित शासन कर सकता है, जोकि अत्यन्त दुष्कर कार्य है ।[4]

भगवान् कृष्ण भी धैर्य-सम्पन्न, स्वदाररत, शास्त्रमार्गानुसारी, तत्वज्ञ, दानी सत्यवान, शुचि-युक्त तथा दम्भ और लोभ रहित राजा की प्रशंसा करते हैं । देवस्थान मुनि के अनुसार स्वायम्भुव मनु ने अद्रोह, सत्य, संविभाग, दया, दम, स्वपत्नीरति, तथा मार्दव ही को धर्म का लक्षण बतलाया है । उनके अनुसार इन गुणों से युक्त तथा प्रिय और अप्रिय के प्रति सम दृष्टि रखने वाला, याज्ञी, शास्त्रार्थतत्त्वविद्, साधु पुरुषों

---

१ शान्ति, ७१.२–११.
२ शान्ति, ५६.१७–१९; ५७.१२–१८; २९–३२.
३ शान्ति, ११८. १–२३.
४ शान्ति, ९२.३६–५४.

का पालक, असाधु पुरुषों का दमन करने वाला, एवम् प्रजा को धर्म-मार्ग पर स्थिर रखने वाला राजा ही श्रेष्ठ होता है।[१] महेश्वर भी राजा को प्रसन्न-मुख, सुप्रिय तथा मृदुभाषी होने का आदेश देते हैं। विनय-सम्पन्न राजा ही अपने भृत्यों तथा प्रजा को विनयशील बना सकता है।[२]

अवगुण

महाभारत में केवल राजोचित गुणों का ही वर्णन नहीं किया गया है, वरन् उन अवगुणों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है जो राजा में न होने चाहिये। इन में दीर्घसूत्रता, प्रमाद, मात्सर्य, नृशंसता, मान, स्तब्धता, परछिद्रान्वेषण, आलस्य, लोलुपता, तथा लोभ, दर्प, दम्भ आदि प्रमुख हैं। इनमें काम, क्रोध और लोभ को अत्यन्त गर्हित माना गया है।[३] अर्जुन के अनुसार दीर्घसूत्री राजा कभी भी राज्य का संचालन नहीं कर सकता है।[४] इसी प्रकार नकुल कहते हैं कि राजा के प्रमादग्रस्त होने पर दस्यु प्रबल होकर प्रजा को लूटने लगते हैं।[५] उतथ्य का भी मत है कि राजा के प्रमाद ग्रस्त होने पर प्रजा ही नहीं, तीनों अग्नि, तीनों वेद, तथा यज्ञ भी विकृत हो जाते हैं।[६] मात्सर्य के बशीभूत राजा की तुलना कलियुग से की गयी है।[७] कायर और क्लीव राजा न पृथ्वी के उपभोग करने में समर्थ होता है और न धन के उपार्जन में।[८] राजा के लिए आलस्य-रहित (जिततन्द्री) होना भी आवश्यक था। भीष्म ने आलस्य के दोषों की विशद विवेचना की है।[९] दुर्विनीतिता, स्तब्धता, परछिद्रान्वेषण, हिंसा, क्रूरता, तथा नृशंसता भी राजा के लिये गर्हित माने गये हैं।[१०] भीष्म के अनुसार

---

१ शान्ति, २१. ११-१९.
२ अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९५०.
३ द्रष्टव्य, शान्ति, १०४.२३-२४; सभा, ५. १६-१८;
आरण्य, २३९.८ : अतिभीरुमतिक्लीबं दीर्घसूत्रं प्रमादिनम्।
व्यसनाद्विषयाक्रान्तं न भजन्ति नृपंश्रियः॥
४ शान्ति, ८.५.
५ शान्ति, १०.२७.
६ शान्ति (गीता), ९१. ७-११; क्रि० ९२. ७-१०.
७ शान्ति, १२ २८-२९.
८ शान्ति, १४. १३.
९ शान्ति, ११३.
१० शान्ति (गीता), ११८.८८; ३२.

अहिंसा और आनृशंस ही वास्तविक तप हैं। पर-हिंसा का दोष व्यक्त करने के लिये उन्होंने पौरिक नामक राजा का इतिहास युधिष्ठिर को सुनाया था।[1]

शत्रुषड्वर्ग

अन्यान्य अवगुणों के अतिरिक्त राजा को शत्रु-षड्वर्ग अर्थात् काम, क्रोध, लोभ मोह, मद और मान से भी बचना चाहिये। कौटिल्य, कामन्दक आदि ने उन राजाओं के उदाहरण दिये हैं जिन्होंने इनके वशीभूत होकर अपना सर्वनाश कर लिया था।[2] महाभारत में भी अनेक स्थलों पर इन दोषों को निन्दित बताया गया है, और राजा को उनसे बचने का आदेश दिया गया है। विदुर के अनुसार मन में नित्य रहने वाले इन छः शत्रुओं को जो वश में कर लेता है वह जितेन्द्रिय पुरुष किसी भी पाप में लिप्त नहीं होता।[3] शान्तिपर्व में युधिष्ठिर अर्जुन से कहते हैं कि 'हम लोग लोभ, मान, मोह, तथा दम्भ के कारण ही विपत्ति में पड़ गये हैं'।[4] इसी प्रकार दर्प के विषय में उतथ्य कहते हैं कि 'दर्प ने बहुत से देवताओं, असुरों तथा राजर्षियों का विनाश कर दिया है। जो दर्प को जीत लेता है वही राजा है, जो उससे पराजित हो जाता है वह दास है'।[5] आश्वमेधिक पर्व में भगवान वासुदेव कहते हैं कि धृतराष्ट्र के पुत्र अन्य दोषों के अतिरिक्त लुब्ध (लोभग्रस्त) थे और इसी कारण वे विनष्ट हो गये।[6] अन्यत्र मान, दम्भ, दर्प, राग, स्त्री-आसक्ति आदि राजस गुण कहे गये हैं।[7] उद्योग पर्व में बल-गर्वित नहुष के पतन की कथा कही गई है।[8] एक स्थल पर विदुर कहते हैं कि अतिमान, अतिवाद, अत्याग, क्रोध, आत्मविधित्सा, मित्र-द्रोह ही छः दोष हैं जो मनुष्य के विनाश का कारण बनते हैं, मृत्यु नहीं।[9] उसी पर्व में नारद राजा ययाति का उदाहरण देते हैं जो अभिमान दोष के कारण ही संकट में पड़ गया था।[10] आचार्य कणिक के अनुसार

---

१ शान्ति, ११२. २-३.
२ अर्थशास्त्र, १.६; नीतिसार, १. ५८-५९.
३ उद्योग, ३३.८३.
४ शान्ति, ७. ७.
५ शान्ति, ९१. २६-२९.
६ आश्वमेधिक (गीता), १५.१५.
७ आश्वमेधिक (गीता), ३७. १२-१४.
८ उद्योग, १७.
९ उद्योग, ३७ ९-१०.
१० उद्योग, १२१. १८.

राजा को अपने मन से अहंकार निकाल देना चाहिए।[१] विदुर एक ऐसे राजा का उदाहरण देते हैं जिसने लोभवश अपना वर्तमान और भविष्य दोनों ही का नाश कर डाला था।[२] भीष्म के अनुसार काम में आसक्त पुरुष सभी अकरणीय कार्य करने लगता है, और दूसरों को भी ऐसा करने का प्रोत्साहन देता है।[३] प्रह्लाद भी राजा के लिए काम और क्रोध का त्याग आवश्यक मानते हैं।[४]

व्यसन

शत्रु-षड्वर्ग की भाँति राजा को व्यसनों से भी बचने का आदेश है।[५] व्यसन दो प्रकार के होते हैं—कामज तथा क्रोधज, अथवा कामसमुत्पन्न और क्रोधसमुत्पन्न। मनु ने दस कामज और आठ क्रोधज व्यसनों का उल्लेख किया है। इनमें से सात व्यसन तो बहुत ही गर्हित माने गये हैं—मृगया, स्त्री, मदिरा, द्यूत तथा वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य और अर्थदूषण। इनमें प्रथम चार कामज हैं और अन्य क्रोधज।[६] महाभारत में भी दस कामज तथा आठ क्रोधज व्यसनों का उल्लेख है।[७] एक स्थान पर मृगया, अक्ष, पान तथा स्त्रीआसक्ति कामजनित एवम् वाक्पारुष्य, उग्रता. दण्डपारुष्य, निग्रह, त्याग तथा अर्थदूषण क्रोधजनित व्यसन कहे गये हैं।[८] उद्योगपर्व में, मनु की भाँति, स्त्री, अक्ष, मृगया, पान, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य तथा अर्थदूषण का उल्लेख है, और राजा को इन सात व्यसनों से दूर रहने का आदेश है। स्त्री अक्ष, मृगया और मदिरा में आसक्ति को बहुत ही गर्हित माना गया है।[९] अन्य आचार्यों की भांति भीष्म भी राजा को व्यसनों से बचने का आदेश देते हैं। व्यसन-ग्रस्त राजा अनादर का पात्र होता है।[१०] विदुर के अनुसार भी यह व्यसन राजा को नष्ट कर देते हैं।

---

१ आदि (गीता), १३९.७१

२ सभा (गीता), ६२. १३-१४.

३ शान्ति (गीता), ८८. २१-२२; क्रि० ८९. १८.

४ उद्योग, ३३ ८५.
द्रोणपर्व (३९.४) में भी क्रोध और लोभ की निन्दा की गई है.

५ दृष्टव्य, मनु ७.४५; नीतिसार, १४. ९४; अर्थशास्त्र, ८. ३, इत्यादि.

६ मनु ७. ४५-५१.

७ शान्ति (गीता), ६९, पृ० ४६०६:-षट्पंच च विनिर्जित्य दशचाष्टौ च भूपति।

८ शान्ति, ५९.५९-६१.

९ आरण्य, १४. ७ ८; सभा (गीता), ६८.२०-२१.

१० शान्ति, ५६.४२–४३.

मनु, कौटिल्य प्रभृति विद्वानों ने इस बात की भी विवेचना की है कि इन व्यसनों में कौन अधिक और कौन कम हानिकारक है।[1] महाभारत में इस प्रकार की विवेचना तो नहीं की गई है, परन्तु कई स्थलों पर द्यूत अथवा अक्ष को अत्यधिक निन्दनीय ठहराया गया है। स्वयं भगवान कृष्ण ने द्यूत-क्रीड़ा की निन्दा की है। इसी व्यसन के कारण राजा नल को अपने राज्य से वंचित होना पड़ा था, और युधिष्ठिर ने तो राज्य के अतिरिक्त अपनी पत्नी द्रौपदी को भी खो दिया था। महाभारत का भीषण युद्ध भी द्यूत-क्रीड़ा का ही परिणाम था। यद्यपि द्यूत को निन्दनीय बतलाया गया है परन्तु बड़े से बड़े राजा भी इस व्यसन में आसक्त पाये जाते हैं।

इसी प्रकार राजा प्रायः मृगया में भी आसक्ति रखते थे। महाभारत इस प्रसंग में हैहय-वंशी राजर्षि सुमित्र, दुष्यन्त, और राम के उदाहरण प्रस्तुत करता है।[2] राजा के लिए अत्यन्त स्त्री-आसक्ति भी वर्जित मानी गई है।[3] द्रौपदी का यह कथन कि पर-स्त्री लम्पट पुरुष का कभी भी कल्याण नहीं होता, इसी ओर संकेत करता है।[4]

शील और आचरण

महाभारत राजा के आचरण और दूसरों के प्रति व्यवहार सम्बन्धी नियम भी प्रतिपादित करता है। इसके अनुसार सत् पुरुषों का पालन, वृद्ध और विद्वानों का सम्मान, बन्धु-बान्धवों का आदर, भृत्य और अतिथि के प्रति उदारता, दीन-दुखियों के प्रति दया, एवं शरणागत की रक्षा करना राजा का धर्म है।[5] जो राजा शरणागत की रक्षा नहीं करता वह पाप का भागी होता है।[6] श्री कृष्ण राजा के लिए

---

१ मनु, ७.५२; अर्थशास्त्र, ८.३.

२ शान्ति, १२५; आदि (गीता), ६९; आरण्य (गीता), २७८.

३ शान्ति, ७१.८.

४ विराट (गीता), १४ पृ० १८७९: परदार रतो मर्त्यो न च भद्राणि पश्यति।

५ शान्ति, २१.१२–१६; ५७, २०; ८१.३८.

६ शान्ति, १२.३०.
शरणागत की रक्षा के महत्व के लिए देखिये शान्ति. १४१.

ब्राह्मण-भक्ति आवश्यक मानते हैं ।[१] भीष्म मृदुता पर बल देते हैं, परन्तु वह यह भी कहते हैं कि राजा को न अत्यन्त मृदु होना चाहिए और न अत्यन्त कठोर । उसे बसन्त ऋतु के सूर्य के समान होना चाहिए, जो न अधिक शीतल होता है और न अधिक उष्ण ।[२] अत्यन्त मृदु-स्वभाव राजा अधर्म के प्रसार में सहायक होता है (प्रजा उससे भय नहीं करती है), और अधिक कठोरता प्रजा को उद्वेजित करती है ।[३] अतएव राजा को बातचीत में विनीत किन्तु तीक्षण छूरे के समान हृदय वाला होना चाहिए । तीक्ष्ण-स्वभाव राजा ही प्रजा को स्वधर्म में स्थापित रख सकता है ।[४] उतथ्य का भी मत है कि जिसमें निग्रह और अनुग्रह दोनों प्रतिष्ठित हों वही राजा मनोवाँछित फल प्राप्त कर सकता है ।[५]

महेश्वर भी राजा को वृद्धों का सत्संग, पूजनीय व्यक्तियों का पूजन, कुलीन, श्रोत्रिय, तपस्वी जनों का सत्कार, दुर्बल, कृपण, अनाथ, असहाय और पीड़ित जनों की सहायता करने का आदेश देते हैं । दूसरी ओर शत्रुओं का दमन, पापी, दस्यु-जनों को दण्डित तथा प्रिय से प्रिय व्यक्ति के भी अपराध को क्षमा न करना उसका कर्तव्य माना गया है ।[७] शुक्राचार्य के अनुसार आपत्ति काल में भी राजा दुष्टों का दमन, और शिष्ट पुरुषों का परिपालन करे ।[८]

अन्य ग्रन्थों की भांति महाभारत भी राजा के लिये इन्द्रिय-संयम आवश्यक मानता है । भीष्म के अनुसार राजा को सर्व प्रथम अपने मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिये, तत्पश्चात् शत्रुओं पर । जिसने अपने मन को नहीं जीता वह शत्रु पर कैसे विजय प्राप्त कर सकता है ? जितेन्द्रिय नरेश ही अपने शत्रुयों का दमन कर सकता है, और उसी का राज्य भी स्थिर रहता है ।[९] उद्योग पर्व में भी कहा गया है कि जिसने इन्द्रियों को वश में नहीं किया वह राज्य का भोग नहीं कर सकता । मन

---

१ आश्वमेधिक (गीता), ९२, पृ० ६३११.
२ शान्ति, ५६, ३७–४०.
३ शान्ति, ५६.२१; ५८.२१–२२.
४ शान्ति, १३८.१३.
५ शान्ति, ९२.३७.
६ अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९५०.
७ शान्ति, ९२.३०—३१.
८ शान्ति, १४० ३३.
९ शान्ति, ११३.१९: ९२.३८.

की जीतने वाला ही राज्य की रक्षा कर सकता है।[1] इन्द्रिय संयम न करने से राजा का अध:पतन होता है।[2]

राजा को पूर्ववर्ती नरेशों द्वारा सेवित स्वधर्म पालन, धर्ममार्गानुसरण, तथा शास्त्रानुमोदित कार्य करने का आदेश दिया गया है।[3] जो राजा शास्त्रानुसार आचरण नहीं करता उसके धर्म और अर्थ दोनों ही अस्थिर रहते हैं और वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण ने भी राजा के लिये स्वधर्म पालन तथा शास्त्रामार्गानुसरण आवश्यक बतलाया है।[4] एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि उसे ब्राह्मण तथा सत्पुरुषों द्वारा निर्दिष्ट धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिये। अन्यत्र, मंत्री, भृत्य, पुरोहित आदि का यह प्रधान कर्तव्य माना गया है कि वे राजा को असत् मार्ग पर जाने से रोकें और सन्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करें।[5]

राजा के लिये आत्मपरीक्षा भी आवश्यक मानी गयी है। उसे सदैव अपनी दुर्बलताओं की ओर ध्यान देना चाहिये और गुप्तचरों द्वारा यह पता लगाते रहना चाहिये कि उसके व्यवहार की जनता प्रशंसा करती है अथवा नहीं।[6] 'जो क्षत्रिय वस्त्रों के मैल दूर करने वाले धोबी के समान चरित्र-दोष को दूर करना जानता है वही प्रजापति है। सतयुग, द्वापर, त्रेता और कलि राजा के आचरण में ही स्थित हैं। युग का प्रवर्तक होने के कारण वह स्वयं युग कहलाता है।'[7]

---

१ उद्योग, १२७.२२; २५–२९.
२ अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९५०.
३ शान्ति, १२.३५ ; २५ ११.
धर्मशास्त्र की आज्ञा उल्लंघन करने से राजा का अध:पतन होता है और उसका अनुसरण करने से कल्याण, शान्ति (गीता), २४.१३.
४ आश्वमेधिक (गीता), ९२, पृ० ६३११.
५ शान्ति, (गीता), ७२. १६-१७, इत्यादि,
६ शान्ति, ९०.१४-१७.
७ शान्ति, ९२.५–६.

तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणामिव शोधनम् ।
शीलदोषान्विनिर्हन्तुं स पिता स प्रजापतिः ।
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजवृत्तानि सर्वाणि राजेव युगमुच्यते ॥

उत्थान

अन्ततः महाभारत में राजाओं के लिये उत्थान को बहुत महत्व दिया गया है। भीष्म उत्थान को प्रारब्ध (दैव) से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार राजा को सदैव उद्योगशील होना चाहिये।[१] बुद्धि और पराक्रम राजा के कार्य-साधक माने गये हैं। पराक्रम से ही वह पृथ्वी को प्राप्त करता है।[२] उसे सदैव उद्यमशील रहना चाहिये। उद्यम ही पौरुष है। अकर्मण्य पुरुष कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता।[३]

महाभारत में हमें अनेक गुण-सम्पन्न राजाओं के उदाहरण प्राप्त होते हैं, यथा काशी-करुष नरेश अनर्घ, भगीरथ, नाभाग, नल, विदर्भराज भीम, रावण, परीक्षित, युधिष्ठिर आदि। इन सब में निस्सन्देह युधिष्ठिर का चरित्र सर्व श्रेष्ठ है। उनमें सभी राजोचित गुण विद्यमान थे, और उन्हें यथार्थ ही धर्मराज कहा गया है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम भी समस्त धर्मों में पारंगत, विद्वान और वृहस्पति के समान बुद्धिमान थे। आदिपर्व में गुण-सम्पन्न २४ राजाओं का उल्लेख किया गया है, जिनका इतिहास देवर्षि नारद ने महाराज श्वेत को बताया था। उसी पर्व में एक अन्य वृहत सूची उन राजाओं की प्राप्त होती है जिनके गुणों का वर्णन उच्च कोटि के विद्वानों एवं श्रेष्टतम कवियों ने किया था।[४]

उपर्युक्त राजाओं के इतिहास से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राचीन भारत के राजा सर्वगुण-सम्पन्न और सदाचारी होते हुए भी व्यसन-ग्रस्त थे। किसी को द्यूत का व्यसन था तो किसी को मृगया का। अन्य स्त्री-आसक्ति अथवा लोभ और क्रोध के वशीभूत थे। धर्मराज युधिष्ठिर तथा नल को द्यूत व्यसन के कारण महान कष्ट झेलने पड़े थे। राम को मृगया आसक्ति के कारण सीता का वियोग सहना पड़ा और रावण का तो स्त्री-आसक्ति के कारण सर्वनाश ही हो गया। इसी भाँति नहुष दर्प, ययाति अभिमान, और दुर्योधन क्रोध और लोभ के वशीभूत थे। परन्तु यह उदाहरण अपवाद मात्र हैं। साधारणतया राजा धर्म और शास्त्र के अनुसार आचरण करते थे और इसी लिये प्रजा के प्रिय-पात्र थे। राजा के गुण तथा शील को इतना महत्व क्यों दिया जाता था इसका उत्तर महेश्वर इस प्रकार देते हैं:— 'जगत के समस्त

१ शान्ति, ५६.१४–१६ ; ५७.१.
२ आरण्य, १५०.४१.
३ शान्ति, ९४,२२.
४ आदि, १.१६३-१८२.

शुभाशुभ आचार व्यवहार राजा के आधीन हैं, और प्रजा भी उसी का अनुसरण करती है।[1]

वर्ण

धर्मशास्त्र के अनुसार शासन क्षत्रियों का कार्य है, और प्राचीन काल में राजा प्रायः क्षत्रिय वर्ण के ही होते थे। महाभारत में भी परम्परागत सूर्य और चन्द्रवंशीय राजकुलों का इतिहास वर्णित है। इनके अतिरिक्त, जिन अन्य राजकुलों का विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है वे सभी क्षत्रिय थे। वस्तुतः इस ग्रन्थ में 'राजन्' और 'क्षत्रिय' पर्यायवाची माने गये हैं। इस मत की पुष्टि में विदुर का उदाहरण बहुत महत्वपूर्ण है जो शूद्रा-गर्भोत्पन्न होने के कारण ही राजपद के लिये अयोग्य माने गये थे।[2]

कालान्तर में अन्य वर्णों के व्यक्ति भी राजपद पर अभिषिक्त होने लगे। शुंग और कण्व ब्राह्मण थे, नन्द शूद्र और वर्धन संभवतः वैश्य थे। ऐसी स्थिति का पूर्वाभास हमें महाभारत में भी प्राप्त होता है। युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न करते हैं कि जब देश में दस्यु-बल उत्तरोत्तर बढ़ रहा हो और समाज में वर्ण-संकरता फैल रही हो उस समय यदि कोई बलशाली ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र दण्ड धारण कर दस्युओं से प्रजा की रक्षा कर सके तो क्या वह राज-पद पर अधिष्ठित हो सकता है? भीष्म ने उत्तर दिया कि ऐसा व्यक्ति सर्वथा सम्मान के योग्य है। जो सत्पुरुषों की रक्षा एवं दुष्टों का दमन करने में समर्थ है उसे ही राजा बनाना चाहिये।[3] इसी प्रकार दुर्योधन कर्ण के राजत्व का समर्थन करते हुये कहते हैं कि राजपद के अधिकारी केवल क्षत्रिय नहीं हैं। शास्त्र के अनुसार राजाओं की तीन योनियां होती हैं, उत्तम कुल में उत्पन्न पुरुष, शूर-वीर, तथा सेना का नेतृत्व करने वाले। और इसी आधार पर उन्होंने सूत-पुत्र कर्ण को अंग देश के राजपद पर अभिषिक्त किया था।[4] इस प्रकार हम

---

१ अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९४८.

स्वामिनं चोपमां कृत्वा प्रजास्तद्वृत्तकाङ्क्षया।
स्वयं विनयसम्पन्ना भवन्तीह शुभेक्षणे॥

२ आदि, १०८. २५.

३ शान्ति, ७८. ३५-४४.

४ आदि, १३५. ३५-३६.

देखते हैं कि महाभारत क्षत्रियेतर वर्ण के व्यक्तियों को भी राजपद पर अभिषिक्त करने की मान्यता देता है।

शिक्षा

राजा में विशिष्ट गुण तो अपेक्षित थे ही, उसके लिये सुशिक्षित होना भी नितान्त आवश्यक था। इसीलिये प्राचीन राजशास्त्रप्रणेता राजा अथवा राजकुमार की शिक्षा को बहुत महत्व देते हैं। प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में राजा की शिक्षा की विस्तृत विवेचना की गई है। कामन्दक तो अशिक्षित राजा की अपेक्षा नेत्रहीन राजा को ही श्रेष्ठ मानते हैं।[१] भारतवर्ष में राजा प्रायः क्षत्रियकुलोत्पन्न हुआ करते थे ओर ब्राह्मणों की भाँति उनके लिये भी विद्याध्ययन आवश्यक था।

राजा को किन विद्याओं में पारंगत होना चाहिये, इस सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में कुछ मतभेद पाया जाता है। अधिकाँश आचार्य उसके लिए अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का अध्ययन आवश्यक मानते हैं। मानव स्कूल केवल तीन विद्यायें—त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति—को मान्यता देता है। अन्वीक्षिकी को वह त्रयी की शाखा मात्र मानता है। बाहर्स्पत्य स्कूल के अनुसार राजा के लिये वार्ता और दण्डनीति तथा औशनस स्कूल के अनुसार केवल दण्डनीति की शिक्षा आवश्यक थी।[२] उशना और बृहस्पति राजतंत्र को धर्म से सर्वथा प्रथक मानते हैं। अतः वे राजा के लिए केवल उसी विद्या का अध्ययन आवश्यक मानते हैं जिसका संबंध भौतिक जगत से था। इनके विपरीत अन्य आचार्य राजा के लिए चारों ही विद्याओं का अध्ययन आवश्यक मानते हैं। दण्डनीति शासन की आधार शिला थी। अतः उसका ज्ञान राजा के लिये नितान्त आवश्यक था। वार्ता से अर्थानर्थ का और त्रयी से धर्मानुकूल शासन करने का ज्ञान प्राप्त होता था। अन्वीक्षिकी अर्थात् तर्क विद्या का ज्ञान भी राजा के लिये आवश्यक था। त्रयी के अन्तर्गत वेद, वेदाङ्ग इतिहास, पुराण सभी प्रकार का साहित्य सम्मिलित है। शुक्र तो इसके अन्तर्गत १४ विद्याओं को भी स्थान देते हैं। प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों से विदित होता है कि राजकुमारों को विभिन्न कलाओं में भी शिक्षित किया जाता था। अस्त्र-शिक्षा तो उनके लिये नितान्त आवश्यक थी। राजपद ग्रहण करने के पश्चात् राजा के लिये

---

१ नीतिसार, १५,४.

२ दृष्टव्य मनु, ७.४३; अर्थशास्त्र, १.२; नीतिसार, २-५, इत्यादि।

स्वाध्याय की भी व्यवस्था की गयी थी। मनु आदि आचार्यों ने राजा के दैनिक कार्यक्रम में इसे स्थान दिया है। उसके लिये वृद्ध, विद्वान, और अनुभवी व्यक्तियों की संगति भी आवश्यक मानी गयी है। यह भी एक प्रकार से उसे सुशिक्षित करने का ही उपक्रम था।

महाभारत भी स्मृतियों की भाँति विद्याध्ययन क्षत्रियों का धर्म मानता है।[१] राजा प्रायः क्षत्रिय ही होते थे और अपने कुल-धर्मानुसार शिक्षा प्राप्त करते थे। इस ग्रंथ के अनुसार राजा को शास्त्रज्ञ, श्रुतवान्, ऊहापोह-विशारद, मेधावी तथा धारणायुक्त होना चाहिये।[२] जिन राजाओं के चरित्र इसमें वर्णित हैं वे सभी ज्ञान-सम्पन्न थे। वेणकुमार राजा पृथु वेद-वेदाङ्ग, धनुर्वेद. और दण्डनीति के ज्ञाता थे।[३] राजा हयग्रीव ने वेद और शास्त्र का भली भाँति अध्ययन किया था।[४] युधिष्ठिर श्रुतिमान, वेद के ज्ञाता, सर्व शास्त्र-विशारद, और नीतिधर्मार्थ-तत्वज्ञ थे।[५] भीष्म वेद, वेदांग, धनुर्वेद, नीतिशास्त्र, चातुर्विद्या, वेदोक्त तथा शिष्टोक्त धर्म, इतिहास तथा पुराण के ज्ञाता, एवम् राजनीति, उशना और वृहस्पति शास्त्र, अध्यात्मज्ञान, यतीधर्म तथा अस्त्र-शस्त्रों में दक्ष थे।[६] राजा कर्ण और पांचाल राजकुमार द्रुपद ने धनुर्वेद में दक्षता प्राप्त की थी।[७]

महाभारत के अनुसार विद्या चार प्रकार की थी। सर्वप्रथम ब्रह्मा जी ने जिस शास्त्र की रचना की थी उसमें चारों प्रकार की विद्याओं (अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, तथा दण्डनीति) का निरूपण किया गया था।[८] राजा को इनमें पारंगत होने का अनेकशः आदेश प्राप्त होता है, परन्तु उसके लिये सबसे अधिक आवश्यक था वेद-वेदाङ्ग, और शास्त्र का ज्ञान। वेद और शास्त्र का सम्यक् अध्ययन करने वाला राजा ही देवलोक में सुख प्राप्त करता है।[९]

---

१ शान्ति, २३.१०.
२ शान्ति, ११८.१६-१८.
३ शान्ति, ५९.१०५-१०६.
४ शान्ति, २५.३१.
५ शान्ति, १९. १; १६. ५; ३४ २१, तथा विराट (गीता) २७.२-३.
६ शान्ति, ५०. २३, ३१-३४; ३८. ७-१४. ४६. १४-१६.
७ शान्ति, २.५, १८; ३.३, तथा आदि, १२२. २५-२६.
८ शान्ति, ५९.३३.
९ शान्ति, २६.३५.

राजकुमारों की अस्त्र-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पाण्डव राजकुमारों की अस्त्र-शिक्षा का विवरण अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। आदि पर्व से विदित होता है कि चूड़ाकरण और उपनयन के पश्चात वे वेदाध्ययन में संलग्न हुये और उसमें पारंगत होने के पश्चात् धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की। भीम गदायुद्ध, युधिष्ठर तोमर, माद्रीपुत्र ढाल-तलवार, और अर्जुन धनुर्वेद में दक्ष हुये।[१] इनकी शिक्षा के लिये भीष्म पितामह ने कृप तथा द्रोण जैसे सुविख्यात आचार्य नियुक्त किये थे। उन्होंने कौरव तथा पाण्डवों को सम्पूर्ण धनुर्वेद एवम् दिव्य तथा मानुष शस्त्रास्त्र की शिक्षा प्रदान की थी।[३] अन्यान्य राज्यों के राजकुमार भी उनसे अस्त्र शिक्षा लेने के लिए आते थे। इनमें अन्धक - वृष्णी वंशीय क्षत्रिय, सूत-पुत्र कर्ण आदि उल्लेखनीय हैं।

अध्ययन के पश्चात् परीक्षा लेने का भी विधान था। द्रोण ने एक नकली गीध बना कर वृक्ष के अग्र भाग में रक्खा और सबसे बारी-बारी से उसे बींधने के लिए कहा। इस परीक्षा में अर्जुन अधिक सफल रहे।[४] तत्पश्चात् उन्होंने धृतराष्ट्र की अनुमति से राजकुमारों की सीखी हुई कला का प्रदर्शन किया। इस अवसर पर लक्ष्य-बेध, रथचर्या, गजपृष्ठ, नियुद्ध, ढाल-तलवार तथा गदा-कौशल आदि का प्रदर्शन किया गया[५] धृतराष्ट्र ने प्रसन्न होकर द्रोण को प्रचुर दक्षिणा दी।[६]

उपर्युक्त विवरण से महाभारत-कालीन राजकुमारों की शिक्षा, विशेषत: अस्त्र-शिक्षा, का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। राजा अपने पुत्रों को शिक्षित करने के लिये दूर दूर से प्रतिष्ठित विद्वानों को आमंत्रित करते थे। अन्यत्र ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि राजकुमार स्वयं प्रसिद्ध गुरुओं के आश्रम में जाकर शिक्षा ग्रहण करते थे। राजकुमार द्रुपद ने भारद्वाज मुनि के आश्रम मे रह कर विद्योपार्जन किया था। कर्ण ने द्रोण से धनुर्वेद की शिक्षा तो प्राप्त की ही थी, उन्होंने परशुराम से धनुर्वेद और ब्रह्मास्त्र का ज्ञान भी प्राप्त किया था।[७] भीम ने बलराम

---

१ आदि (गीता), १२३, पृ० ३६८-३६९.
२ आदि (गीता), १२९.२३ तथा २६-३०.
३ आदि १२२.४५-४७; १२३.९.
४ आदि, १२३. ४५-६६.
५ आदि, १२४-१२५.
६ आदि (गीता), १३३. पृ० ४०६.
७ शान्ति, २-५, १८; ३. ३; आदि, १२२.२४-२६.

से असि, गदा तथा रथ-युद्ध की शिक्षा ग्रहण की थी ।[1] सहदेव ने बृहस्पति से सम्पूर्ण नीति-शास्त्र की तथा नकुल ने द्रोण से अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी । भीष्म ने भार्गव च्यवन तथा वशिष्ट से वेद-वेदाङ्ग, सनतकुमार से आध्यात्मज्ञान, मार्कण्डेय से यतीधर्म, तथा परशुराम और इन्द्र से अस्त्र शिक्षा प्राप्त की थी । यह भी द्रष्टव्य है कि उस युग में ब्राह्मण विद्वान केवल वेद-वेदाङ्ग की ही शिक्षा न देते थे वरन् अस्त्र-शस्त्र की भी शिक्षा देते थे । इसका सर्व श्रेष्ठ उदाहरण कृपाचार्य और द्रोण हैं । द्रोण ने स्वयं परशुराम से अस्त्र-शस्त्र, तथा अग्निवेष से धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी ।[2]

वेद शास्त्र और अस्त्र शस्त्र की शिक्षा के अतिरिक्त राजकुमारों को अन्य प्रकार की कलाओं में भी निपुण किया जाता था । उदाहरणार्थ, इन्द्र ने अर्जुन की संगीत शिक्षा हेतु चित्रसेन की नियुक्ति की थी । उन्होंने उससे गीत, वाद्य, और नृत्य का ज्ञान प्राप्त किया था ।[3] राजा नल अश्व-विद्या के ज्ञाता थे । उन्होंने राजा ऋतुपर्ण को भी उसकी शिक्षा दी थी ।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजाओं की शिक्षा बहुमुखी होती थी जिससे उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास हो सके और वे अपने समस्त कार्यों को यथाविधि सम्पन्न कर सकें ।

---

१ आदि (गीता), १३८.४.
२ आदि, १२१.२२ २३; १२२.२४-२५.
अस्त्र विद्या में द्रोण की समानता करने वाला कोई न था (कर्ण, १-४०).
३ आरण्य, ४५.७-८; १६४.५४.
४ आरण्य, ६९-२, १६; ७६.१६-१८.

४

राजवृत्त

राजा का कार्यक्रम

प्राचीन भारत में राजा केवल राज्य ही नहीं शासन भी करता था। उसका उत्तरदायित्व और कार्यभार अत्यधिक था।[१] एतदर्थ मनु, कौटिल्य प्रभृति आचार्यों ने उसका दैनिक कार्यक्रम निर्धारित किया है।[२] इस कार्यक्रम से केवल उन कार्यों का ही आभास नहीं मिलता जो राजा के लिये करणीय थे, वरन् यह भी विदित होता है कि वह अत्यधिक व्यस्त रहता था।

महाभारत में यद्यपि पूर्वोक्त ग्रन्थों की भांति राजा के कार्यक्रम का विस्तृत विवरण नहीं मिलता किन्तु यह अवश्य विदित होता है कि इस युग में भी राजा का कार्यक्रम निर्धारित था। आश्रमवासिक पर्व में उस का दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार वर्णित है :— प्रातःकाल व्यय-विभाग के कर्मचारियों का निरीक्षण, तत्पश्चात् शौच, स्नान और भोजन इनसे निवृत्त होकर वह सेना का निरीक्षण करता था। सन्ध्या का समय चर और दूतों के लिये तथा दिन और रात्रि के मध्यभाग आमोद-प्रमोद के लिये निर्धारित थे। रात्रि के अवसान पर वह आगामी दिन के कार्यक्रम पर विचार करता था।[३] सभापर्व में भी कहा है कि रात्रि के अवसान पर उसे आगामी दिन का कार्य-क्रम निर्धारित कर लेना चाहिये।[४] उसी पर्व में राजा को यह भी आदेश दिया गया है कि वह नित्यप्रति प्रजा को दर्शन दे।[५] अनुशासन पर्व के अनुसार प्रतिदिन प्रातःकाल राजा को विद्वान ब्राह्मणों की सेवा में उपस्थित होकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।[६] उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट कि महाभारतकार भी मनु और कौटिल्य

---

१ दृष्टव्य, शांति (गीता), १३२.१४ :

यथा, सुमधुरौ दम्यो सुदान्तो साधुवाहिनौ।
धुरमुद्यम्य वहतस्तथा वर्तेत वै नृपः ॥

२ मनु, ७.१४५-१४७, २१६-२२६; अर्थशास्त्र, १.१९.

३ आश्रमवासिक (गीता), ५.३२-३५.

४ सभा (गीता)। ५.२९; (क्रि) ५.१७, एवम् ५.७५.

५ सभा, ५.७६.

६ अनुशासन, ३३.३-७.

की भाँति राजा का कार्यक्रम निर्धारित करता है।

यद्यपि महाभारत में मनुस्मृति अथवा अर्थशास्त्र की भांति राजा का समुचित कार्यक्रम नहीं उल्लिखित है तथापि इस ग्रन्थ से भी उसके कार्यों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। राजा के प्रमुख कार्य निम्नलिखित थे :—

प्रजा रक्षण

भारतीय नीति-शास्त्र प्रजा रक्षण राजा का प्रधान धर्म मानते हैं। मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि ईश्वर ने प्रजा-रक्षार्थ ही राजा की सृष्टि की थी। इसी तथ्य का प्रतिपादन महाभारत में अनेक अवसरों पर किया गया है। अनुशासन पर्व में महेश्वर कहते है कि रक्षणीयता प्रजा का धर्म है और रक्षा करना राजा का।[१] इसी प्रकार द्रोपदी, महर्षि उतंग तथा भगवान् राम भी प्रजा-रक्षण राजा का प्रमुख कर्तव्य वतलाते हैं।[२] भीष्म के अनुसार भी भगवान् विशालाक्ष, महातपस्वी काव्य, सहस्राक्ष महेन्द्र, प्राचेतस मनु, भगवान भरद्वाज और मुनिवर गौरशिरा आदि समस्त राजशास्त्र-प्रणेता प्रजा की रक्षा करना राजा का महान धर्म मानते हैं।[३] स्वयं भीष्म भी इसी मत का समर्थन करते हैं।

प्रजा की रक्षा वाह्य शत्रु से तथा राज्य के निवासी दुर्जनजनों से करना चाहिये।[४] शत्रु से रक्षा करने के लिये राजा सेना और दुर्ग, तथा दुष्टों से रक्षा करने के लिये पुलिस और न्यायालयों की व्यवस्था करता था। इस की आँशिक पुष्टि महेश्वर के इस कथन से होती है:—'राजा को अपने राज्य की रक्षा हेतु अथवा दुष्ट नरेशों द्वारा पीड़ित प्रजा के संकट निवारणार्थ अपने प्राणों का मोह त्याग कर युद्ध मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये'।[५] अन्यत्र कहा गया है कि जो राजा दस्युओं से प्रजा की

---

१ अनुशासन (गीता), १४५ पृ० ५९५० : रक्ष्यत्वं वै प्रजाधर्मः क्षत्रधर्मस्तु रक्षणम्।

२ विराट (गीता), १६-२१-२२ के मध्य; आरण्य, १९३.१०-११; २६१.३८.

३ शान्ति, ७२.२६-२७; ९०.१०; १५.५१; ३२.८. व्यास द्वारा भी इसी मत की पुष्टि की गई है (आरण्य, १९३.१४).

४ अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९५० के अनुसार राजा को अपने भय से, शत्रु के भय से, पारस्परिक भय से तथा अमानुष भयों से अपनी प्रजा की रक्षा करना चाहिये।

५ अनुशासन (गीता), १४५ पृ० ६००७. भीष्म भी इसी मतके समर्थक हैं (शान्ति, ५८.२३).

रक्षा नहीं करता उसे मूर्तिमान कलियुग समझना चाहिये।[१] अनुशासन पर्व में ऐसे राजा को मृतक के समान माना गया है जिसके राज्य में स्त्रियों का बलपूर्वक अपहरण होता है।[२]

महाभारत में यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि प्रजा राजा को रक्षा के निमित्त ही कर देती है। एक स्थल पर उल्लिखित है कि जो राजा प्रजा से धन लेकर उसकी रक्षा नहीं करता वह नरकगामी होता है।[३] अन्यत्र कहा गया है कि कलि के अन्तिम चरण में राजा प्रजा की रक्षा तो नहीं करेंगे केवल उनसे धन संग्रह करेंगे।[४] राजा से रक्षित प्रजा सदाचार-परायण, स्वधर्मरत और निर्भय होती है। सुरक्षित प्रजा के अर्जित-धर्म का चतुर्थांश राजा को भी प्राप्त होता है।[५] धर्मानुकूल प्रजा की रक्षा करने वाले राजा के प्रति प्रजा अनुरक्त रहती हैं।[६] इसके विपरीत रक्षा न करने वाले राजा का प्रजा परित्याग कर देती है।[७] परित्याग ही नहीं, ऐसा राजा वध के योग्य भी माना गया है।[८] भीष्म के अनुसार भी प्रजा की रक्षा न करने से बढ़कर राजा के लिये कोई दूसरा पाप नहीं है।[९]

प्रजा की रक्षा करना राजा का महान कर्तव्य तथा सनातन धर्म है[१०], यह केवल सिद्धान्तमात्र न था वरन् कार्य रुप में भी परिणत किया जाता था। भीष्म, कार्तवीर्य-अर्जुन, पृथु, नहुष आदि नरेशों ने अपनी प्रजा की कठिन विपत्तियों से रक्षा की थी।[११] युधिष्ठिर भी प्रजा रक्षण के लिए प्रसिद्ध थे।[१२] आरण्य पर्व के अनुसार भी राजा

---

१ शान्ति, १२.२७.
२ अनुशासन (गीता), ६१.३१.
३ अनुशासन, २४.७८.
शान्ति, ७६-९-१०, के अनुसार यदि राजा चोरों द्वारा अपहृत धन का पता न लगा सके तो उसे स्वकोष से क्षति पूर्ति करना चाहिये।
४ आरण्य, ३.११-१२.
५ शान्वि, ७३.१९-२१.
६ शान्ति, ७२.१२.
७ शान्ति, ५७.४४.
८ अनुशासन (गीता), ६०.१९-२०.
९ शान्ति, ५७.१४; १३७.९५-९७; ७१.२८-२९.
१० शान्ति, ५७.४२
११ आरण्य, ३.११-१२.
१२ सभा, २२.५८.

प्रजा का संकट से उद्धार करता है।[1] जो राजा रक्षणीय व्यक्तियों की रक्षा नहीं करता वह नरकगामी होता है।[2] ऐसे राजा की जगत में कोई आवश्यकता नहीं।[3] अन्यत्र भीष्म कहते हैं कि राजा प्रजा की भय से रक्षा न करने के कारण एक दिन में जिस पाप का भागी होता है उसका परिणाम उसे सहस्र वर्ष पर्यन्त भोगना पड़ता है।[4]

प्रजा-पालन

अन्यान्य ग्रन्थों की भाँति महाभारत में भी प्रजा-पालन राजा का धर्म माना गया है। इस तथ्य की पुष्टि विभिन्न पर्वों में भिन्न २ व्यक्तियों द्वारा की गयी है। स्वयं भगवान महेश्वर कहते हैं कि क्षत्रिय का प्रधान धर्म प्रजा-पालन है।[5] उनके अनुसार धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने वाला राजा उत्तम लोक प्राप्त करता है।[6] भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि जो राजा प्रजा के पालन में तत्पर रहता है उसे कभी हानि नहीं उठानी पड़ती।[7] प्रजापालन-परायण राजा उत्तम धर्म के फल का भागी होता है।[8] वह धर्म और कीर्ति के साथ इहलोक और परलोक दोनों ही प्राप्त करता है।[9] वह कोई दूसरा कार्य करे या न करे, प्रजा पालन मात्र से ही कृतकृत्य हो जाता है। महाराज धृतराष्ट्र के अनुसार भी धर्मपूर्वक प्रजा-पालन से वही फल मिलता है जो सहस्र अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होता है।[10] इसी प्रकार उतंग भी कहते हैं कि राजा को प्रजापालन से जो फल मिलता है वह बन में तपस्या करने से भी नहीं प्राप्त होता।[11]

---

१ आरण्य, ३. १०.
२ शान्ति, १३७. ९५-९७.
३ शान्ति, ९०. १०.
४ शान्ति, ७२. २८.
५ अनुशासन (गीता), १४१. ४७; १४५, पृ० ५९५३; (वासुदेव) उद्योग, २५; (मुनि चण्डकौशिक) सभा, १७-३०-३१ के मध्य; (कृष्ण) सभा, ४५. ६५; (भीमसेन) आरण्य, ३८.५३; (भीष्म) शान्ति, ६३. १७, (व्यास) शान्ति, २४.२९ तथा ३२.२, इत्यादि के मुख से प्रजापालन को ही राजा का सर्वश्रेष्ठ सनातन धर्म कहाया गया है।
६ अनुशासन (गीता), १४१.४८.
७ अनुशासन (गीता), १०४.१४७.
८ शान्ति, ६६. ३३, तथा ७६.२१.
९ शान्ति, ८६.२.
१० आश्रमवासिक (गीता), ७.२३.
११ आरण्य, १९३.१२.१३.

महाभारत में ऐसे अनेक राजाओं का वर्णन प्राप्त होता है जिन्होंने समुचित रूप से प्रजा का पालन करके यश और कीर्ति प्राप्त की थी। धृतराष्ट्र के अनुसार उनके पूर्वज प्रजा का समुचित पालन करने के कारण ही उस के प्रियपात्र बन सके थे। उपस्थित प्रजा ने भी उनके इस कथन का अनुमोदन किया।[१] युधिष्ठिर भी धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते थे।[२] उनके गुणों से अनुरक्त प्रजा कहती है 'महाराज आप सैकड़ों वर्षों तक हमारे राजा रहें और जिस प्रकार इन्द्र स्वर्ग का पालन करते हैं आप हमारा पालन करें'।[३] युधिष्ठिर के पौत्र जनमेजय की प्रजापालन में इन्द्र से तुलना की गयी है।[४] कौरव नरेश ही नहीं, बलि आदि अन्य शासकों के विषय में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[५] देवताओं ने राजा नहुष को यही आदेश दिया था कि धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन करें।[६] भीम युधिष्ठिर से कहते हैं कि धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन प्राचीन काल से चला आने वाला तप है।[७] नारद भी युधिष्ठिर को आदेश देते हैं कि जैसे पूर्वकाल में इन्द्र तीनों लोकों का पालन करते थे उसी प्रकार उनको भी प्रजा का पालन करना चाहिये।[८]

प्रजापालन के अन्तर्गत राजा का यह कर्तव्य भी समाविष्ट था कि वह प्रजा के भरणपोषण और जीविका का समुचित प्रबंध करे। इस प्रसंग में हम राजा शिवि के वाक्यों को उद्धृत कर सकते हैं। उनके अनुसार जिसके राज्य में द्विज अथवा कोई अन्य व्यक्ति क्षुधा से पीड़ित हो उस राजा के जीवन को धिक्कार है।[९] भीष्म ऐसे राजा को निन्दनीय मानते हैं जिसके राज्य में प्रजा कष्ट पाती हो।[१०] इसके विपरीत जिसकी प्रजा सुख और समृद्धि की अनुभूति करती है वह राजा स्वर्ग लोक का भागी होता है। महर्षि धौम्य भी युधिष्ठर को यही उपदेश देते हैं कि वह धर्मानुसार द्विजों का भरण पोषण करें।[११] स्वयं भगवान रामचन्द्र प्रजा पर अनुग्रह करके ही देवताओं द्वारा

---

१ आश्रमवासिक (गीता), ९.२-३, १०-१५.
२ शान्ति, ४२.९.
३ शान्ति, ३९.११.
४ आदि, ५०.११-१२.
५ आरण्य. २७.१२.
६ उद्योग, १२.४.
७ आरण्य, ३४.७०.
८ आरण्य, ८३.१११-११२; शान्ति ७६.२५.
९ अनुशासन (गीता), ६१.२९.
१० शान्ति, १२८.३४.
११ आरण्य, ३.१२.

सम्मानित हुये थे ।[1] ऐसे व्यक्तियों के भरण-पोषण के लिये राजा का उत्तरदायित्व और भी अधिक होता था जो स्वयं अपना पालन करने में असमर्थ होते थे ।[2]

दीन-अनाथ पालन

जो व्यक्ति स्वयं उपार्जन नहीं करते थे, अथवा उसके लिए असमर्थ थे, उनके भरण पोषण का भार राजा पर था । प्रथम वर्ग के अन्तर्गत ब्रह्मचारी, श्रोत्रिय, तपस्वी और सन्यासी थे, और दूसरे वर्ग में दीन, अनाथ, कृपण, वृद्ध, अपंग आदि । इनका समुचित पालन राजा का कर्तव्य था ।[3] नारद युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं कि क्या वह अन्धे, मूक, पंगु, अंगहीन और बन्धुबान्धवों से रहित अनाथ एवं सन्यासियों का पितावत पालन करते हैं ?[4] उतथ्य के अनुसार भी कृपण, अनाथ और वृद्धों का पालन करना राजा का धर्म था । केकयराज के विषय में कहा गया है कि वह अनाथ, बृद्ध, दुर्बल, आतुर एवं असहाय स्त्रियों को अन्न, वस्त्र और औषधि दिया करते थे । इसी प्रकार वह विद्वान, वृद्ध और तपस्वियों का भी समुचित आदर करते थे ।[5] युधिष्ठिर कृपण, अनाथों का तो पालन करते ही थे, साथ ही वह ऐसी स्त्रियों के भरण-पोषण का भी समुचित प्रबंध करते थे जिनके पति अथवा पुत्र युद्ध में वीर-गति प्राप्त करते थे ।[6] भीष्म ने भी उनको दीन, अनाथ, वृद्ध तथा विधवा स्त्रियों के योगक्षेम एवम् जीविका के प्रबंध करने का आदेश दिया था ।[7] तपस्वियों का, समुचित सत्कार, आदर-सम्मान और यथा समय उनके वस्त्र, भोजनादि का प्रबंध करना राजा का कर्तव्य था ।[8]

प्रजा रञ्जन

राजा का कार्य केवल प्रजा की रक्षा तथा पालन करना ही न था, वरन प्रजा-रंजन भी उसका धर्म माना गया है । वास्तव में प्रजा का रंजन करने के कारण ही

---

१ द्रोण (गीता), ५९.७.
२ अनुशासन (गीता), १४५ पृष्ठ, ५९५०.
३ यथा, शान्ति, ५७. १९–२०; अनुशासन (गीता), ६१.२५; १४५. प्र० ५९५०, ५९५३; आश्रमवासिक (गीता), ६.१३-१४; १३.१२-१३, आदि.
४ सभा, ५.११३.
५ शान्ति, ७८.१८; २३.
६ शान्ति, ४२.१०-१२.
७ शान्ति, ८७.२४.
८ शान्ति, ८७.२५-३०.

वह राजा कहलाता था। वेणुकुमार पृथु प्रजा-रंजन जनित अनुराग के कारण ही राजा कहलाये थे।[1]

महाभारत में अनेक स्थलों पर प्रजा-रंजन राजा का मुख्य कर्तव्य कहा गया है।[2] विदुर कहते हैं कि जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म द्वारा प्रजा को प्रसन्न रखता है, उसी से प्रजा प्रसन्न रहती है।[3] शान्ति पर्व में पूजनी चिड़िया द्वारा व्यक्त किया गया है कि जो राजा पौर-जानपदों का रंजन करता है उसका राज्य कभी अस्थिर नहीं होता।[4] राजा नल के विषय में भी कहा गया है कि वह प्रजा का धर्मपूर्वक पालन और प्रसन्न रखते थे।[5]

वर्णाश्रम-धर्म संप्रवर्तन

सामाजिक मर्यादा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य था। भारतीय समाज वर्णाश्रम धर्म पर आधारित रहा है।[6] अतएव स्वयं वर्णाश्रम धर्म का पालन, तथा प्रजा द्वारा उसका पालन कराना राजा का कर्तव्य माना गया है। महाभारत में इस सिद्धान्त का उल्लेख अनेकशः प्राप्त होता है। भीष्म के अनुसार चातुर्वर्ण धर्म की रक्षा करना और प्रजा को वर्णसंकरता से बचाना राजा का सनातन धर्म है।[7] इसी प्रकार व्यास कहते हैं कि चारों वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करने वाला राजा देवलोक को प्राप्त करता है।[8] अन्यत्र नारद भी ऐसा ही मत व्यक्त करते हैं।[9]

महाभारत में ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने चातुर्वर्ण-धर्म की रक्षा की थी। मनुष्यों के प्रथम राजा मनु ने समस्त प्रजा को वर्णाश्रमोचित कार्यों में लगाया था।[10] परीक्षित, हयग्रीव, जनक इत्यादि के राज्य में वर्णाश्रमधर्म का पूर्णतः पालन

---

१ द्रोण (गीता), ६९.३.
२ शान्ति, ५६.१२;५७ ११; अनुशासन (गीता), १६५.१२.
३ उद्योग, ३४ २३.
४ शान्ति, १३७.१०७.
५ आरण्य (गीता), ५७ ४३.
६ वर्णाश्रम धर्म का विवरण स्मृतियों की भांति महाभारत में भी दिया गया है, यथा शान्ति, ६०-६३; ९२-९४; आरण्य, २०७.२५, इत्यादि।
७ शान्ति, ५७ १५; ६०.१९.
८ शान्ति, २५.३१.
९ सभा, ५.११६.
दृष्टव्य शान्ति, ६५.५, ६, १२; ८७.१७-१८.
१० शान्ति, ६७.३१.

होता था।[1] इसी प्रकार युधिष्ठिर ने भी राज्य प्राप्त करते ही चारो वर्णों को स्वधर्म पालन में प्रवृत्त किया।[2] केकयराज तो बड़े गर्व के साथ कहते हैं कि उनके राज्य में कोई भी व्यक्ति ऐसा न था जो स्वधर्म-रत न हो।[3]

स्वकर्म-निरत प्रजा का पालन, और स्वकर्म परित्याग करने वाले का पुनः स्थापन राजा का कर्तव्य माना गया है।[4] भीष्म तो यहाँ तक कहते हैं कि वर्णाश्रम धर्म का उल्लंघन करने वाले को नियंत्रित तथा दण्डित करना चाहिये। समाज को वर्णसंकरता से बचाने के लिए ही व्यभिचारी स्त्री-पुरुष को कठोर दण्ड देने का विधान था।[5] आरण्यपर्व में वर्णसंकरता से उत्पन्न दोषों का चित्रण किया गया हैं।[6]

गार्हस्थ्य-धर्म प्रतिपालन

सामाजिक ही नहीं गार्हस्थ्य मर्यादा की रक्षा करना भी राजा का कर्तव्य है। महाभारत में गृहस्थाश्रम की महिमा और महत्व अनेक स्थलों पर वर्णित है। वास्तव में सुखी और सफल गृहस्थ जीवन ही समाज और राष्ट्र की उन्नति का आधार था। स्मृतियों में तो गार्हस्थ्य-धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये समुचित दण्ड विधान है। महाभारत में भी इस प्रसंग में कतिपय आदेश दिये गये हैं। यथा, शान्ति पर्व में माता-पिता एवं गुरु का परित्याग करने वाला व्यक्ति पतित माना गया है। वह पैतृक सम्पति से भी वंचित किया जा सकता था।[7] इसी प्रकार व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों के लिये भी कठोर दण्ड निर्धारित किये गये हैं।[8]

आर्थिक कार्य

सामाजिक और गार्हस्थ्य व्यवस्था के साथ साथ प्रजा की आर्थिक और भौतिक उन्नति भी राजा के कर्तव्यों में सम्मिलित थी। इस विषय में अर्थशास्त्र और धर्म-

---

१ आदि, ४९.७-१० (परीक्षित); शान्ति, २५.३१ (हयग्रीव); आरण्य, २०७.२८ (जनक), इत्यादि.
२ शान्ति, ४५.४.
३ शान्ति, ७८ ९-१०.
४ आरण्य, २०७.२६.
५ शान्ति, १६५.६३-६७.
६ आरण्य, २०७.३५-३६.
७ शान्ति, १६५ ६५.
८ शान्ति, १६५.६३-६७.

शास्त्र जैसे विस्तृत नियम तो महाभारत में नहीं प्राप्त होते हैं, परन्तु इस ग्रन्थ में भी वार्ता को समुचित महत्व दिया गया है ।[१]

भारतवर्ष सदैव ही कृषि-प्रधान देश रहा है । अतः कृषि की उन्नति और कृषकों को आवश्यक सहायता देना राजा के धर्म माने गये हैं । इस प्रसंग में नारद द्वारा युधिष्ठिर से पूछे गये निम्नोक्त प्रश्न बहुत महत्व पूर्ण हैं :– 'क्या तुम्हारे राज्य में कृषि कार्य भली भाँति होता है ? राज्य के समस्त भागों में जल से भरे तड़ाग बनवाये गये हैं ? कृषक केवल वर्षा के आश्रित तो नहीं हैं ? उनका अन्न और बीज नष्ट तो नहीं होता ?' स्पष्टतः सिंचाई की सुविधा के लिए राज्य की ओर से कूप और तड़ागों का निर्माण होता था और कृषकों को राज्य की ओर से निर्धारित व्याज पर रुपया भी दिया जाता था ।[२] अनुशासन पर्व में राजा को आदेश दिया गया है कि यदि वर्षा के अभाव में कृषक सिंचाई के लिये कूप इत्यादि का निर्माण करें तो वह उनसे कर न ले ।[३]

कृषि की उन्नति के लिये पशु-पालन भी आवश्यक था, और हमारे ग्रन्थ में तत्सम्बन्धी कतिपय नियम उल्लिखित हैं । आश्रमवासिक पर्व में पशुओं के लिए जलाशय बनवाना राजा का धर्म माना गया है ।[४]

वन और वृक्ष भी राष्ट्र की सम्पति थे । अतः उनकी रक्षा भी राजा का धर्म था । वन राजकीय आय के साधन थे और उनपर राज्य का स्वामित्व था । फलदायक वृक्षों का काटना वर्जित था ।[५] स्मृतियों में तो इस अपराध के लिये दण्ड भी निर्धारित किये गये हैं ।

इसी भाँति व्यापार और शिल्प की उन्नति भी राजा का धर्म माना गया है । शान्तिपर्व के अनुसार राजा को व्यापारियों की पुत्र के समान रक्षा करना चाहिये ।[६] सभापर्व में नारद भी युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं 'क्या तुम्हारे राष्ट्र में व्यापारी सम्मानित हो विक्री के लिये उपयोगी वस्तुयें लाते हैं ? तुम्हारे कर्मचारी उन्हें ठगते तो नहीं है ?'[७] इसी प्रकार शिल्पियों की रक्षा और सहायता करना राजा का कर्तव्य था ।[८]

---

१ यथा, सभा, ५.६९-वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ।
२ सभा, ५.६७-६९.
३ अनुशासन (गीता), ६१.२५ (क्रि० ६० पृ० ३४५).
४ आश्रमवासिक (गीता), १३.१३.
५ शान्ति, ९०. १.
६ शान्ति, ९२.३२.
७ सभा, ५.१०३-१०४.
८ सभा, ५.१०७; आश्रमवासिक (गीता), ५.४०-४१.

सारांशत: अर्थ व्यवस्था पर समुचित ध्यान देना राजा का कर्तव्य था।[1] कृषि, पशु-पालन और वाणिज्य लोक-जीवन के आधार हैं।[2] अत: राजा को उनपर सम्यक् ध्यान देना चाहिये। इन व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों को किसी प्रकार की बाधा पहुंचने से राजा निन्दनीय माना जाता था।[3] केकयराज का यह कथन कि उनके राज्य में वैश्य कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य में बिना किसी प्रकार के भय या बाधा के संलग्न हैं, बहुत महत्वपूर्ण है।[4]

शिक्षा प्रसार

महाभारत से स्पष्टत: विदित होता है कि राजा सुशिक्षित और विद्यानुरागी होते थे। अत: उनके लिये विद्या और ज्ञान के प्रचार में अभिरुचि रखना स्वाभाविक ही था। यद्यपि प्राचीन काल में वर्तमान युग की भाँति राजकीय शिक्षा संस्थायें न थीं परन्तु अन्य उपायों से इस अभाव की पूर्ति की जाती थी। अन्यान्य ग्रन्थों की भांति महाभारत में श्रोत्रिय तथा विद्वान ब्राह्मणों को वृत्ति और दान देना राजा के आवश्यक कार्य माने गये हैं। इस आदेश का उल्लेख अनेकश: प्राप्त होता है।[5] और ऐसे राजाओं के उदाहरण भी हैं जो उसका पालन करते थे। भीष्म के अनुसार आचार्य, ऋत्विज, पुरोहित, साम्वत्सरिक, चिकित्सक तथा विद्वान और बहुश्रुत व्यक्तियों का सम्मान और सत्कार राजा को करना चाहिये।[6] युधिष्ठिर, केकयराज एवं अन्य राजा इस नियम का अक्षरश: पालन करते थे।[7] ये विद्वान ब्राह्मण स्वयं तो ज्ञानोपार्जन करते ही थे, अन्य लोगों को भी शिक्षा प्रदान करते थे। अध्ययन और अध्यापन ही उनके कार्य थे।

प्रशासकीय कार्य

अन्त में हम राजा के प्रशासकीय कार्यों का उल्लेख करेंगे। महाभारत के अध्ययन से विदित होता है कि वह मंत्री, सेनापति तथा अन्य बरिष्ठ पदाधिकारियों की नियुक्ति और उनके कार्यो का निरीक्षण करता था। प्रजा के अभियोगों को सुन

---

१ सभा, ५.१०५.
२ आरणय, २०७.२४.
३ शान्ति, ८९.२३-२४.
४ शान्ति, ७८.१५.
५ यथा शान्ति ७२.३-५; ७८.१२; ३०. ३२; ९०. ५-८; सभा (गीता); ५. ९. (क्रि०) ५.८६, इत्यादि.
६ शान्ति, ८७. १६-१७.
७ यथा, शान्ति; ४५.६-८; ७८.२३-२४, इत्यादि.

कर अन्तिम निर्णय देना, कोष और सेना का निरीक्षण करना, आन्तरिक, वाह्य, सन्धि-विग्रह की नीति निर्धारित करना राजा ही के कार्य थे। वह युद्ध-भूमि में उपस्थित हो स्व-सैन्य संचालन भी करता था। चर और दूत व्यवस्था मुख्यतः राजा ही के आधीन थी। इन कार्यों का विवरण हम यथा स्थान अन्य अध्यायों में करेंगे।

राजा के धार्मिक कार्य

डा० अल्तेकर ने एक स्थान पर लिखा है कि प्राचीन भारत में धर्म निरपेक्ष राज्य थे। इस कथन से यदि उनका यह अभिप्राय है कि राजा किसी धर्म के प्रति पक्षपात नहीं करता था तो यह सर्वथा मान्य है। परन्तु यदि उनका यह अभिप्राय है कि प्राचीन भारत में राजा द्वारा धर्म की उपेक्षा की जाती थी तो हम उनके कथन से सहमत नहीं हैं।

महाभारत-युग में धार्मिक सहिष्णुता-असहिष्णुता का तो कोई प्रश्न ही न था, क्योंकि उस समय देश में एक ही धर्म मान्य था। परन्तु इस ग्रन्थ से राज्य और धर्म का घनिष्ठ संबंध स्पष्टतः प्रकट होता है। राज्य के अधिपति द्वारा करणीय धार्मिक कृत्यों का बारम्बार उल्लेख प्राप्त होता है। राजा द्वारा सम्पादित यज्ञों का विवरण तो हमें वैदिक साहित्य में ही मिलने लगता है। महाभारत काल में भी वह परम्परा अक्षुण्ण बनी रही। इसके अतिरिक्त तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा तथा पितृ-पूजा भी राजा के आवश्यक कार्यों में सम्मिलित थे। दान देना भी श्रेयस्कर माना जाता था। मनु, कौटिल्य प्रभृति ने सन्ध्योपासन आदि धार्मिक कृत्यों को भी राजा के दैनिक कार्य-क्रम मे स्थान दिया है।[1] ऐसी ही स्थिति संभवतः महाभारत काल में रही होगी।

यज्ञ

राजा के पुनीत धार्मिक कार्यों में यज्ञानुष्ठान का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। भारतीय राजा विशिष्ट अवसरों पर यज्ञ किया करते थे —उदाहरणार्थ, राज्याभिषेक एवं दिग्विजय के अवसर पर अथवा विजय के उपलक्ष में। महाभारत में राजा के लिए यज्ञ करने का स्पष्ट आदेश मिलता है, और एसे अनेक राजाओं के उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिन्होंने विभिन्न यज्ञों का अनुष्ठान किया था। स्वयं महाराज युधिष्ठिर को विभिन्न व्यक्तियों ने दक्षिणायुक्त यज्ञ करने का आदेश दिया था। इनमें भगवान

---

१ मनु, ७.१४५; २२३, अर्थशास्त्र, १.१९.

वासुदेव, महर्षिनारद, देवस्थान, और पितामह भीष्म के अतिरिक्त पत्नी द्रौपदी, व्यास, तथा अर्जुन, नकुल, आदि अनुज भी सम्मिलित थे।[1] अर्जुन ने तो यहाँ तक कह डाला था कि 'यदि आप यज्ञ नहीं करेंगे तो आपको सारे राज्य का पाप लगेगा—यज्ञ करना क्षत्रियों के लिये कल्याण का सनातन मार्ग है।'[2] नारद ने भी युधिष्ठिर से, राजा हरिशचन्द्र का उदाहरण देते हुये, कहा था कि जो महीपाल राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं वे इन्द्रलोक प्राप्त करते हैं। उनके स्वर्गीय पिता पाण्डु ने भी नारद द्वारा राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान करने का आदेश दिया था और कहा था कि—'तुम्हारे द्वारा यज्ञ सम्पन्न होने पर मैं भी राजा हरिश्चन्द्र की भांति इन्द्र लोक प्राप्त करूंगा'।[3] महर्षि व्यास ने भी युधिष्ठिर को राम तथा अपने पूर्वज भरत की भांति राज-सूय, अश्वमेध, सर्वमेध, नरमेध आदि यज्ञ करने का आदेश दिया था।[4] युधिष्ठिर से ही नहीं वासुदेव कृष्ण ने कौरवों से भी दक्षिणा-युक्त यज्ञ सम्पन्न करने के लिए कहा था।[5] अन्य प्रसंगों में भी यज्ञों का महत्व व्यक्त किया गया है। नारद के अनुसार जिस देश में स्वाहा, स्वधा तथा वषट्कार का भली भाँति अनुष्ठान होता है—वहीं निवास करना चाहिए।[6] देवस्थान मुनि भी युधिष्ठिर से कहते हैं कि राजा को यज्ञ में ही अपना समस्त धन लगा देना चाहिये।[7] युधिष्ठिर से वह कहते हैं कि जो राजा राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं वे इन्द्रलोक प्राप्त करते हैं।[8] शान्ति और शल्य पर्व के इन वाक्यों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है कि 'कुरुक्षेत्र में यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले राजा स्वर्गगामी होंगे'।[9] अर्जुन ने भी एक प्रसंग में कहा था कि जिन देशों के राजा अश्वमेध का अनुष्ठान करते हैं वहाँ के लोग अवभृत स्नान करके पवित्र हो जाते हैं। इसी लिये देवता और दैत्य भी पुण्यार्थ यज्ञ करने का प्रयत्न करते थे। देवताओं ने यज्ञ ही के द्वारा महान पद प्राप्त किया और दानवों को पराजित किया था।[10] भीष्म के अनुसार

---

१ आश्वमेधिक (गीता), १३.१९-२२; शान्ति, २०.५; अनुशासन, ६०.४.६; शान्ति, १४.३९; आश्वमेधिक (गीता), ३.८-१०; शान्ति, ८.३२-३७; १७.२०, एवम् १२.६-८.

२ शान्ति, ८.३४-३७.

३ सभा, ११.४३-६६.

४ आश्वमेधिक (गीता), ३.८-१०.

५ उद्योग, ५८.१९-२१.

६ शान्ति, २७६.५०.

७ शान्ति, २०.१४.

८ शान्ति, २०.१४.

९ सभा, ११.६२.

१० शल्य (गीता), ५३.२०; शान्ति, २५.२८-२९.

भी रौद्र-कर्मा क्षत्रियों को यज्ञ और दान ही पवित्र करते हैं। अतः राजा को पर्याप्त दक्षिणायुक्त यज्ञ अवश्य करना चाहिये।[१] यज्ञानुष्ठान-परिपाटी की प्राचीनता भी आदि पर्व में वैशम्पायन के इस कथन से स्पष्ट होती है–'पूर्व युग में राजा दक्षिणायुक्त बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया करते थे'।[२]

महाभारत में अनेक राजाओं के यज्ञों का विस्तृत विवरण दिया गया है, यथा युधिष्ठिर का राजसूय, पौरव का अश्वमेध, शिवि, दिलीप अम्बरीष, शशिबिन्दु गय, रन्तिदेव हयग्रीव, भरत, पृथु, दक्ष, उपरिचर, जनमेजय आदि के यज्ञ[३]। इनके अतिरिक्त हमें ययाति, संवरण, श्वेतकी जैसे राजाओं के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं जिन्होंने विभिन्न यज्ञों का अनुष्ठान किया था।[४] राजा सुहोत्र ने अनेक राजसूय, अश्वमेध; पुरु-पुत्र जन्मेजय ने अश्वमेध तथा विश्वजित; भगीरथ ने ज्योतिषटोम, गोसव, सोम, वाजपेय, राजसूय, पुण्डरीक, अश्वमेध, सर्वमेध, नरमेध, विश्वजित् तथा आरकायण; राजर्षि अष्टक ने शत-शत पुण्डरीक, गोसव, तथा वाजपेय; राजा मान्धाता ने शत अश्वमेध एवं शत राजसूय; ययाति ने एक शत राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय तथा एक सहस्त्र पुण्डरीक एवं अविराज यज्ञों के अतिरिक्त अग्निष्टोम; राजा नल ने अश्वमेध तथा अन्य दक्षिणायुक्त, यज्ञ और गय ने सात अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था।[५] श्रीराम ने भी राजसूय, अश्वमेध तथा अन्य यज्ञ किये थे।

यज्ञ करना सबके लिए संभव न था। पुण्यस्तप यथेष्ठ ही कहते हैं कि राजा तथा अन्य समृद्धिशाली व्यक्ति ही यज्ञ कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। जिसके पास धन का अभाव है, अथवा जो अकेले और साधनहीन है उनके लिए यज्ञ का अनुष्ठान करना असंभव है।[६]

---

१ आश्वमेधिक (गीता), ३. ४-७.

२ अनुशासन, ६०.४-५.

३ आदि, १.८४-८६; सभा (गीता), ३५; ४९. ३१-३२; द्रोण (गीता), ५७; ५८; ६१.२-६; ६५-६९; शान्ति (गीता), २८४; ३३६.५-६०, (क्रि) ३२३.५-५७; ३३१.

४ आदि, ७०. २९; तथा, उद्योग, १२०.१२; ८९.४०-४१.

५ आदि, ८९-२२-२५; ९०-११; अनुशासन (गीता), १०३. ८-४१; उद्योग १२०-१३. द्रोण (गीता), ६२-१२-१५; ६३.१-२, आरण्य, ५४. ३५-३६; १२१.३-४.

६ आरण्य, ८०.३६.

तीर्थाटन व देव–पूजा

वैदिक युग में देवताओं की आराधना का साधन यज्ञ था, परन्तु महा-काव्य युग में यज्ञ के साथ साथ मूर्ति-पूजा का भी प्रचार आरम्भ हो गया था। साथ ही तीर्थ-यात्रा को भी प्रोत्साहन मिला। राजा और प्रजा दोनो ही भक्ति भाव से प्रेरित हो कर पूजा और तीर्थाटन करने लगे। महाप्रस्थानिक पर्व में हम युधिष्ठिर को भगवान शारंगिण का कीर्तन,[1] और आश्रमवासिक पर्व में भगवान शंकर की पूजा करते, हुये देखते हैं।[2] आदि पर्व में अर्जुन की तीर्थ यात्रा का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। उन्होंने तीर्थ-स्थानों की यात्रा की, पवित्र नदियों में स्नान किया, पितृतर्पण और अग्निहोत्र के साथ साथ मन्दिरों (पुण्य आयतन) में पूजा की।[3] आश्रमवासिक पर्व में धृतराष्ट्र की,[4] मोसल पर्व में यादवों[5] की, आरण्य पर्व में पाण्डवों की,[6] तथा शान्ति पर्व में राजा ययाति की तीर्थ यात्राओं का विशद वर्णन प्राप्त होता है।[7] आश्रमवासिक पर्व में धृतराष्ट्र के सन्ध्योपासन, व्रत तथा हवन एवम् आरण्य पर्व में पाण्डवों के होम करने का भी उल्लेख है।

महाभारत में हमें यह भी विदित होता है कि राजा अपने मृत-सम्बन्धियों के निमित श्राद्ध करते थे और उस अवसर पर विपुल दान दिया करते थे। उदाहरणार्थ, धृतराष्ट्र ने अपने मृत पुत्रों की श्राद्ध में अन्न, धन, गो, रत्न, आदि दान में दिये थे।[8] भीष्म के भी विषय में कहा गया है कि वह पितृ कार्य के लिये गंगाद्वार गदे थे जहां उन्होंने शास्त्रीय विधि से देव, ऋषि और पितृों का तर्पण किया था।[9] आरण्य पर्व से ज्ञात होता कि वनवास काल में पाण्डव नित्य-प्रति श्राद्ध करते थे।[10]

---

१ महाप्रस्थानिक (गीता), १.१२-१३.
२ आश्रमवासिक (गीता), ६५.२१.
३ आदि, २०६.२०९.
४ आश्रमवासिक (गीता), ३७.१०-१८; १९.४-८.
५ मोसल (गीता), २.२४.
६ आरण्य, ११४.१४-२३.
७ शान्ति, १९८.८.
८ शान्ति, ४२.१-२; तथा आश्रमवासिक (गीता), १४. २-७.
९ आरण्य, ८०.१२-१३.
१० आरण्य, ३७.४१; ११४.१३.

भारत युद्ध के पश्चात महाराज युधिष्ठिर ने अपने मृत-सम्बन्धियों के निमित्त सभा, प्रपा, तटाक आदि बनवाकर उनका श्राद्ध कर्म सम्पन्न किया था। इसी प्रकार आश्रमवासिक पर्व में हम युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र, गांधारी और कुन्ती की अस्थियों को गंगा में प्रवाहित तथा श्राद्ध कर्म करते हुये देखते हैं। इस अवसर पर उन्होंने अतुल दान भी दिय था।[1]

तपस्या

वर्णाश्रम धर्म के सिद्धान्त के अनुरूप राजा भी वृद्धावस्था में राज्य परित्याग कर तपस्या किया करते थे। स्वयं युधिष्ठिर के मुख से तपस्या का महत्व व्यक्त कराया गया है। पराशर गीता में भी तप और तपोबल की श्रेष्ठता की विवेचना की गई है। महर्षि नारद प्राचीन राजर्षियों की तप-सिद्धि का दृष्टान्त देते हुए केकय नरेश सहस्रचित्र, भगदत्त के पितामह शैलालय, मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स, एवं राजा शशिलोमा का उल्लेख करते हैं। उन्होंने धृतराष्ट्र को भी तपस्या करने के लिए प्रोत्साहित किया था।[2] राजा सिंधुद्वीप, देवापि तथा विश्वामित्र ने तो तपस्या द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था।[3] ययाति, कुरु, भगीरथ और वसु तपोनिधि कहे जाते थे।[4] नहुष ने तो तप-बल से इन्द्र-पद प्राप्त कर लिया था। राजा ही नहीं, रानी तथा राजकुमारी भी तपस्या करती थीं। गान्धारी और कुन्ती, के अतिरिक्त राजकुमारी आम्बा की कठिन तपस्या का भी उदाहरण मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राजा और धर्म का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। प्रायः सभी राजा धर्मानुसार व्यवहार करते थे। धृतराष्ट्र युधिष्ठिर को आदेश देते हैं — 'धर्म को सम्मुख रखना, इसके संरक्षण और संचालन में प्रमाद न करना'। राज्य की रक्षा धर्म से ही हो सकती है इस उपदेश का पालन युधिष्ठिर ही नहीं वरन् प्राचीन युग के अधिकांश राजा किया करते थे।

---

१ आश्रमवासिक (गीता), ३९.

२ आश्रमवासिक (गीता), १९-२०, तथा, ३७ . १०-१२ .

३ शल्य, ३९ . १०-११, तथा अनुशासन (गीता), १०६.३८ .

४ आदि, ७०.४६ : ८९ . ४३-४४; सभा, ३. ८-१०; तथा आदि, ५७ . ३-४.

५ अनुशासन (गीता), ९९ . ४ .

दान

हिन्दू संस्कृति में दान का स्थान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। महाभारत में भी इस का महत्व अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है। भीष्म का कथन है कि संसार में शूर-वीर सैकड़ो हैं परन्तु उनमें जो दान-शूर हैं वही सर्व-श्रेष्ठ हैं।[१] ब्राह्मणों की आजीविका का प्रबंध करना वह क्षत्रिय के लिये राजसूय से अधिक कल्याणकारी मानते हैं।[२] दान देने से राजा की समृद्धि में अभिवृद्धि होती है।[३] अतः वह युधिष्ठिर को सदा दान देने का आदेश देते हैं।[४] अनुशासन पर्व में विभिन्न प्रकार के दान, उनका महत्व, उपयुक्त दानपात्र एवम् दानशील राजाओं के नाम उल्लिखित हैं।[५]

अन्य पर्वो में भी दान का महत्व व्यक्त किया गया है। आरण्य पर्व में कहा गया है कि ब्राह्मणों को दान देने से राजा पापमुक्त हो जाता है।[६] इसी पर्व में मार्कण्डेय कहते हैं कि 'त्रिलोक में दान से बढ़ कर कोई पुण्य-दायक कर्म न कभी हुआ है और न अब है। इसीलिये उत्तम बुद्धि वाले मनुष्य दान को ही सर्वोच्च कर्म बतलाते हैं'।[७] शान्ति पर्व में भी अर्जुन युधिष्ठिर से कहते हैं–'यदि हम लोग उत्तम दान धर्म का आश्रय लेकर प्रजा पालन मे तत्पर रहेंगे तो हम अपने अभीष्ठ लोक प्राप्त कर लेंगे'।[८] उसी पर्व में शौनक जी जन्मेजय से कहते हैं "यज्ञ, दान, दया, वेद, तप और सत्य यह छः पवित्र कार्य हैं। इनका पालन करके तुम श्रेष्ठतम धर्म को प्राप्त कर लोगे —दान के द्वारा स्वर्गलोक पर भी विजय प्राप्त कर लोगे'।[९] पराशर कहते हैं कि जो राजा ब्राह्मणों को सत्कार पूर्वक दान देता है वह उत्तम फल का उपभोग करता है। नकुल भी युधिष्ठिर से कहते हैं — 'यदि हम लोग ब्राह्मणों को दान नहीं देगें तो राजाओं में कलि-युग समझे जायगें —जो दान नहीं देते उन्हें दुख ही दुख भगना पड़ता है, सुख कभी नहीं मिलता'।[१०]

---

१ अनुशासन, ८.९-१०.
२ अनुशासन, ६०.१४-१५.
३ अनुशासन, ६०.१३-१४.
४ अनुशासन (गीता), १३७-३१.
५ अनुशासन, ६०-६८ तथा अनुशासन (गीता), १३७-१३८.
६ आरण्य, ३४.७६.
७ आरण्य (गीता), २००.१२७-१२९.
८ शान्ति, १८.३७-३८.
९ शान्ति, १४८.६-७; १६-१७.
१० शान्ति, १२.२८-३०.

दान के अवसर

यों तो प्रतिदिन और प्रति समय दान देना उत्तम माना गया है, परन्तु हमारे धर्म ग्रन्थों ने इस के लिये कुछ विशिष्ट अवसर भी निर्धारित किये हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि महाभारत के अनुसार राजा यज्ञ, तीर्थाटन, श्राद्ध, आदि के अवसर पर दक्षिणा और दान दिया करते थे। इनके अतिरिक्त राज-कुल के व्यक्तियों के संस्कार के अवसर पर भी दान देने की प्रथा थी। उदाहरणार्थ, द्रोपदी के स्वयम्वर के अवसर पर द्रुपद के राज-समाज द्वारा प्रचुर धन, रत्न, आदि दान में दिये गये थे।[१] इसी प्रकार युधिष्ठिर ने अभिमन्यु और उत्तरा के विवाह के उपरान्त सहस्रों गो, रत्न, नाना प्रकार के वस्त्राभूषण, वाहन, शय्या, भोजन-सामग्री तथा पेय पदार्थों का दान दिया था।[२] अभिमन्यु के जन्म के पश्चात दस सहस्त्र गो तथा स्वर्ण मुद्रायें दान मे दी गयी थीं।[३] युद्ध यात्रा के समय भी राजा दान दिया करते थे। सात्यकी ने यात्राकालिक मंगल कृत्य सम्पन्न करके प्रचुर धन दान में दिया था।[४] अनुशासन पर्व से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत-काल में दान के लिये कुछ विशिष्ट अवसर निर्धारित किये गये थे। इस पर्व के ६३ वें अध्याय में विभिन्न नक्षत्रों के योग में भिन्न २ वस्तुओं के दान का माहात्म्य वर्णित है।[५]

विभिन्न प्रकार के दान

महाभारत से धन, रत्न गो, भूमि अन्न आदि विभिन्न प्रकार के दान तथा उनके माहात्म्य का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। अनुशासन पर्व के धर्मदान-खण्ड में भूमि दान को सब दानों से श्रेष्ठ कहा गया है। उसी पर्व में अन्यत्र अन्नदान का माहात्म्य व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार अन्य अध्यायों में सुवर्ण, जल, पदत्राण, शकट, तिल, दीप, रत्न, गो दान आदि के माहात्म्य का उल्लेख मिलता है।[६] आरण्य पर्व में भी विभिन्न दानों का महत्व वर्णित है। अन्न, भूमि, स्वर्ण, गो, तथा पृथ्वी दान के अतिरिक्त शय्या-दान, एवं अविवाहित युवतियों को दान में देने की प्रथा का भी उल्लेख मिलता है।[७] राजा के भवनों में प्रायः प्रतिदिन ब्राह्मणों को भोजन दिया जाता था।

---

१ आदि, १७६.२८.
२ विराट (गीता), ७२.३८-४०.
३ आदि, २१३.६२.
४ द्रोण, ८७.६०.६१.
५ अजुशासन, ६३.
६ अनुशासन, ६४-६८.
७ सभा, ३०.५१.

स्वयं युधिष्ठिर के महल मे दस सहस्त्र ब्राह्मण नित्य भोजन करते थे।[1] अनुशासन पर्व में भी हम महाराज युधिष्ठिर को ब्राह्मण-भोजन की सराहना करते हुये पाते हैं।[2] उद्योग पर्व मे गरुड़ द्वारा अश्व-दान का माहात्म्य व्यक्त कराया गया है ;[3] और द्रोण पर्व में हम पौरव द्वारा दसलक्ष श्वेत अश्वों के दान का उदाहरण पाते है।[4] राजा कन्याओं को भी दान में देते थे। उनके साथ वस्त्राभूषण के अतिरिक्त यान, वाहन, पशु, दास, दासियां भी दिया करते थे।[5] इस प्रसंग में हम एक अन्य महत्वपूर्ण प्रथा का उल्लेख कर सकते हैं। दानशील राजा ब्राह्मणों और तपस्वियों के रहने के लिये आश्रमों का निर्माण कराते थे,[6] और उनकी सुविधा के लिये प्रपा, तड़ाग आदि भी निर्मित किये जाते थे। राजा अम्बरीष का दान बहुत ही अद्भुत प्रतीत होता है। उन्होंने दस लक्ष यज्ञकर्ता ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में उतने ही राजाओं को दान में दे दिया था। ये राजा मूर्धाभिषिक्त नरेश तथा राजकुमार थे, जिन्हें दण्ड और कोश के सहित ब्राह्मणों के अधीन कर दिया गया था।[7]

महाभारत में अनेक दानी राजाओं के उदाहरण प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें हम अपूर्व दानी कह सकते हैं। राजा श्वेतकी के मन में यज्ञ और दान के अतिरिक्त कोई दूसरा विचार ही न उठता था। वह निरन्तर दान में रत रहते थे।[8] राजर्षि नृग भी अपूर्व दानी थे।[9] नहुष तथा ययाति ने लाखों गौएँ दान में दी थीं।[10] राजा कुशिक च्यवन मुनि को गो-धन के अतिरिक्त राज-भवन तथा राज-सिंहासन तक अर्पित करने के लिये प्रस्तुत थे।[11] अनुशासन पर्व मे राजा भगीरथ के अनुपम दानों का उल्लेख है जिनके फलस्वरुप उन्हें स्वर्ग लोक प्राप्त हुआ था।[12] इसी प्रकार हमें धृतराष्ट्र, पौरव तथा जनक के दिये हुये दानों का भी विस्तृत

---

१ सभा (गीता), ४९ १८.
२ अनुशासन, ८.९-१०.
३ उद्योग, ११२ १८.
४ द्रोण (गीता), ५७.
५ द्रोण (गीता), ६०.२.
६ आदि, २०७.३-८.
७ द्रोण (गीता), ६४ १४.
८ आदि (गीता), २२२ १८-२०.
९ अनुशासन, ६.३८.
१० अनुशासन ८०.५.
११ अनुशासन, ५२. १७-१८.
१२ आश्वमेधिक (गीता), ८.९-१०.

विवरण प्राप्त होता है ।[१] स्वयं महाराज युधिष्ठिर अपूर्व दानी थे । उन्होंने तथा उनके अनुजों ने विभिन्न अवसरों पर अनेक प्रकार के दान दिये थे ।[२] परन्तु इनमें सबसे अधिक महत्व-पूर्ण दान राजा दधीच, उषीनर तथा शिवि के थे जिन्होंने अपनी अस्थि तथा माँस तक परोपकार में दान कर दिया था ।[३] कर्ण के अपूर्व दान की कथा भी महाभारत में सविस्तार वर्णित है ।

राजाओं द्वारा दिये हुए दान का धार्मिक महत्व तो था ही, उसका सामाजिक महत्व भी कम न था । उस युग में दान ब्राह्मणों को दिया जाता था, परन्तु सब ब्राह्मणों को नहीं । केवल सुपात्रों को ही दान देने का विधान था ।[४] महाभारत में पात्र-सुपात्र का विचार और सुपात्र के लक्षण भी वर्णित है ।[५] एक स्थान पर स्पष्ट कहा गया हैं कि भूमिदान केवल सुपात्र को ही देना चाहिए,[६] अपात्र को नहीं ।[७] अन्यत्र स्नातक तथा विद्वान, यज्ञकर्ता, एवं तपस्वी ब्राह्मणों को दान देने का आदेश है ।[८] विद्वान, षट्कर्मरत ब्राह्मण केवल यजन और अध्ययन ही नहीं किया करते थे, वरन् याजन और अध्यापन कार्य भी करते थे । उस युग में आज की भांति राज्य की ओर से शिक्षा का प्रबन्ध नहीं था । विद्वान ब्राह्मण ही स्वेच्छया निर्धनता को वरण कर, ज्ञान प्रसार के कार्य में संलग्न थे । अतः उनके समुचित भरण-पोषण का प्रबन्ध करना समाज ही नहीं राजा का भी कर्त्तव्य था । इस प्रकार जैसा पहिले लिखा जा चुका है राजाओं की दानशीलता परोक्षरुप से समाज में शिक्षा का प्रचार और प्रसार करने में में सहायक होती थी ।

ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के दीन-दुखियों को भी दान देने का विधान

---

१ द्रोण (गीता), ५७; शान्ति, ३१३.५, इत्यादि.

२ आरण्य, ९८.९-१०; १३१.२५-२८; (गीता) १९७.२१-२३.

३ आरण्य, (गीता), १००.२१ (दधीच); १३०-१३१ (उशीनर); १९०.२१-२३ (शिवि).

४ शान्ति, २०. ९ .

५ आरण्य (गीता), २००.

६ अनुशासन, ६१.२३ .

७ अनुशासन, ६१.१३ .

८ शान्ति, ४५.५, तथा द्रोण (गीता), ५७ .

था ।[1] यह लोग राजकोष से सहायता के अधिकारी माने गये हैं। इनको दान देकर भारत के प्राचीन राजा समाज का उसी प्रकार से कल्याण करते थे, जैसे आजकल पाश्चात्य देशों में 'पुवर लाज़' के द्वारा हो रहा है। दान स्वाध्यायरत ब्रह्मचारी, तथा तपस्यारत वानप्रस्थ एवं सन्यासियों के भरण पोषण का भी साधन था। वास्तव में दान देना राजा ही के लिए नहीं वरन् समस्त जनता के लिये आवश्यक माना गया था। यह प्रथा समाज की एक बड़ी भारी कमी की पूर्ति करती थी।

देवत्व

राजा के कार्यों की गुरुता के कारण ही उसे श्रेष्ठता और परमता प्रदान की गई है। इतना ही नहीं, उसके देवत्व की भी कल्पना की गई है। कुछ स्थलों पर तो राजा और देवताओं के कार्यों में साम्य दर्शाया गया है, जिसके आधार पर उसे देवताओं के समकक्ष स्थान प्रदान किया गया है। अन्यत्र राजा को स्पष्टतः देवता कहा गया है।

प्रथम प्रकरण के संदर्भ में हमें निम्नलिखित प्रमाण प्राप्त होते हैं : राजा समयानुसार पांच रूप धारण करता है, अग्नि, आदित्य, मृत्यु, वैश्रवण तथा यम। जब वह अपने उग्र तेज से मिथ्या व्यवहार करने वाले पापियों को जला कर भस्म करता है तब अग्नि, जब गुप्तचरों द्वारा प्रजा-जन का निरीक्षण तथा रक्षा करता है तब भाष्कर; जब अशुद्धाचारी मनुष्यों तथा उनके पुत्र-पौत्र एवम् अमात्यों का संहार करता है तब अन्तक, और जब तीक्ष्ण दण्ड द्वारा अधार्मिक मनुष्यों को नियंत्रित, तथा धार्मिक मनुष्यों पर अनुग्रह करता है तब वह यम स्वरुप समझा जाता है। इसी प्रकार जब वह उपकारी पुरुषों को धन देकर तृप्त करता है और पापाचारी पुरुषों का धन अपहरण करता है तब उसे वैश्रवण कहा जाता है।[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि कार्य समता के आधार पर ही राजा की तुलना उपर्युक्त पांच देवताओं से की गई है। यही भाव अन्य स्थलों पर भी दर्शाया गया है। उतथ्य मान्धाता से कहते हैं कि 'दुष्टों को दण्ड देने के कारण यम, तथा धार्मिक मनुष्यों पर अनुग्रह करने के कारण राजा परमेश्वर के समान है।······जैसे यमराज सभी प्राणियों पर समान रुप से शासन करते हैं, वैसे ही राजा भी बिना भेद-भाव के समस्त प्रजा पर नियंत्रण करता है'।[3] राजा की तुलना सहस्र-नेत्रधारी इन्द्र वन्हि, वैश्रवण

---

१ अनुशासन, ६१. ७४, तथा शान्ति, ४५.६-७.

२ शान्ति, ६८.४१-४७.

३ शान्ति, ९२. ३८-४०.

तथा यम से की गयी है। स्वयं अपने तथा अपनी प्रजा के अहित करने वाले व्यक्तियों को दग्ध करने के कारण राजा अग्नि, दुष्टों का दमन करने के कारण यम, तथा दान देकर लोगों की कामना पूर्ति करने के कारण वह कुबेर के समान है।[१]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि उसके कार्यों के कारण राजा की तुलना कतिपय देवताओं से की गई है। परन्तु महाभारत में राजा को स्पष्टतः देवता भी कहा गया है। आरण्य पर्व में एक स्थल पर उसे भव (ईश्वर) तथा बभ्रु (बिष्णु) कहा गया है।[२] उसी पर्व में अत्रि के द्वारा राजा पृथु को सब देवताओं के समान कहलाया गया है।[३] भीष्म का भी कथन है कि जो प्रजा श्रुति के अनुसार राजा का वरण करती है वह मानो इन्द्र का ही वरण करती है। अतः लोक-कल्याण चाहने वाले पुरुषों को इन्द्र के समान राजा का पूजन करना चाहिये।[४] राजा धर्मरूप से विख्यात है। वही शुक्र, शक्र, धाता बृहस्पति तथा प्रजापति है। सनत्कुमार भी कहते हैं कि जिस राजा की प्रजापति, विराट, सम्राट, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दों द्वारा स्तुति की जाती है उसकी अर्चना कौन नहीं करेगा? पुरायोनि, युधाजित, अभिया, मुदित, भव, स्वर्णोता, सहजित तथा बभ्रु नामों द्वारा राजा का वर्णन किया जाता हैं। वह सत्ययोनि, पुराविद् तथा सत्य-धर्म प्रवर्तक है। जैसे देवलोक में सूर्य अपने तेज से अन्धकार का नाश करता उसी प्रकार राजा पृथ्वी पर अधर्म का सर्वथा विनाश करता है।[५] शान्ति पर्व में राजा पृथु के विषय में कहा गया है कि भगवान बिष्णु ने स्वयं उनके शरीर में प्रवेश किया था और उसी कारण से नरदेव पृथु को समस्त जगत देववत् मस्तक झुकाता था। इसी प्रसंग में हम यह महत्वपूर्ण वाक्य भी पढ़ते हैं कि दैवी गुण के अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है जिससे समस्त जगत एक व्यक्ति की आधीनता स्वीकार कर लेता हैं (को हेतुर्यद्वशे तिष्ठेल्लोको दैवादृते गुणात्)।[६] राजा के देवत्व की पुष्टि प्रभु, ईश्वर, आदि उपाधियों से भी होती है।

राजा के देवत्व के प्रसंग में युधिष्ठर और भीष्म के प्रश्नोत्तर भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। युधिष्ठर के इस प्रश्न के उत्तर में कि राजा को विप्र लोग देवस्वरूप क्यों मानते हैं, भीष्म ने पूर्व काल में राजा वसुमना और बृहस्पति के संवाद का उल्लेख किया।

---

१ शान्ति, ९०. ४१; १३९. १०५-१०६, तथा विराट (गीता), ४.२२.
२ आरण्य, १८३.२४.
३ आरण्य, १८३.२९.
४ शान्ति, ६७.४.
५ आरण्य, १८३.२२-२६.
६ शान्ति, ५९ १३०-१३२.

राजा वसुमना ने भी वृहस्पति से ऐसा ही प्रश्न किया था। उत्तर में वृहस्पति ने राजा के अभाव में प्रजा को होने वाले कष्ट और उसके अस्तित्व से होने वाले लाभ का विस्तार पूर्वक वर्णन किया, और कहा 'जिनके अभाव में समस्त जग का अस्तित्व समाप्त, और जिसके होने से सबका अस्तित्व बना रहता है उस राजा का कौन नहीं पूजन करेगा' ? दूसरे शब्दों में राजा देववत् है। उन्होंने यह भी कहा कि राजा को मनुष्य समझ कर कभी अवहेलना न करना चाहिये क्योंकि मनुष्य रूप में वह महान देवता है।[1]

परन्तु महाभारत में केवल धर्मानुसार शासन करने वाले राजा को देवत्व प्रदान किया गया है, अधर्मी शासक को नहीं। शान्ति पर्व में भीष्म उतथ्य को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि धर्माचरण करने वाला राजा देवता है। इसके विपरीत अधर्माचरण करने वाला राजा नरकगामी होता है। जो राजा भली भांति धर्म का पालन और उसके अनुसार शासन करता हैं वही वास्तविक राजा है। धर्म की अवहेलना करने वाला राजा धर्मात्मा नहीं पापात्मा है।[2] शुक्र ने भी धर्माचारी राजा को देवता और अधर्माचारी को राक्षस कहा है।[3]

---

१ शान्ति, ६८.१-४० :

यस्याभावे च भूतानामभावः स्यात्समन्ततः।
भावे च भावो नित्यः स्यात्कस्तं न प्रतिपूजयेत् ॥३७
नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥४०

२ शान्ति, ९१.४-६.

३ शुक्रनीति, १.८५-८६.

५

राज वैभव एवम् राज परिवार

राजा राष्ट्र और समाज का अधिनायक था। अतएव उसे अपनी मर्यादा के अनुरूप रहना पड़ता था। प्राचीन ग्रन्थ राजकीय वैभव के कुछ चिन्हों का उल्लेख करते हैं, जिनमें छत्र, सिंहासन, चमर तथा व्यजन प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त उत्तम यान-वाहन, वस्त्राभूषण, साज-शृंगार आदि भी राजा के ऐश्वर्य के प्रतीक थे। उसकी सेवा के लिए अनेक दास-दासी नियुक्त किये जाते थे। महाभारत में वर्णित राजाओं को हम राजोचित वैभव से युक्त पाते हैं।

इस ग्रन्थ में राज चिन्हों का उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, उद्योग पर्व में भगवान कृष्ण के स्वर्णिम रत्न-जटित सिंहासन का उल्लेख है।[१] युधिष्ठिर का सर्वतोभद्र आसन स्वर्ण का बना हुआ था और उसमें मुक्ता, वैदूर्य आदि जड़े थे।[२] लंका के राजा विभीषण का सिंहासन भी इसी भाँति सोने का बना था, और उसमें मोती और मणि जड़ित थे।[३] आदि पर्व में राजा कर्ण के स्वर्ण सिंहासन का भी वृत्तान्त मिलता है।[४]

छत्र और व्यजन का उल्लेख भी कई स्थानों पर प्राप्त होता है।[५] युधिष्ठिर का छत्र श्वेत था, जिसे एक अवसर पर हम अर्जुन द्वारा धारण किये हुए पाते हैं। उसी अवसर पर नकुल और सहदेव रत्न-भूषित चमर और व्यजन हाथ में लिये थे।[६] सभा पर्व में हम दो सुन्दर युवतियों को विभीषण पर बहुमूल्य चामर तथा व्यजन डुलाते

---

१ उद्योग, ५८.६.
२ द्रोण, ८२.२३-२४, तथा शान्ति, ४०.१.
३ सभा (गीता), ३१ पृ० ७६१.
४ आदि, १२६.३६ .
५ आदि, १२१.३६-३७; शान्ति, ५७.२५, इत्यादि.
६ शान्ति, ३८.३४-३६.

हुए देखते हैं ।[1]

महाभारत से यह भी विदित होता है कि राजा और राजकुल के अन्य व्यक्ति बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करते थे ।[2] द्रोपदी के स्वयंवर में उपस्थित राजा किरीट, हार, अंगद और कड़े पहनते थे ।[3] शान्तिपर्व में भी राजाओं के स्वर्ण आभूषणों का उल्लेख है ।[4] उसी पर्व में हम राजा जनक को सुन्दर माला, अन्य अलंकार तथा भांति २ के वस्त्रों से विभूषित पाते हैं ।[5] विभीषण को भी दिव्याभूषण और दिव्य माला से युक्त देखा जाता है ।[6]

राजा के श्रृंगार का भी कुछ परिचय प्राप्त होता है । स्नान एवम् अनुलेपन का उल्लेख शान्ति पर्व में किया गया है ।[7] इसी पर्व में हम राजा जनक को सुगन्धित पदार्थों का प्रयोग करते हुए पाते हैं,[8] और सभा पर्व में विभीषण को दिव्य सुगन्ध से अभिषिक्त कहा गया है ।[9]

राजाओं के अस्त्र-शस्त्र भी बहुमूल्य होते थे । उदाहरणार्थ, कर्ण की शक्ति का दण्ड स्वर्ण और वैदूर्य जड़ित था ।[10] इसी प्रकार राजाओं के प्रयोग में आने वाली अन्य वस्तुयें भी बहुमूल्य हुआ करती थीं । विभीषण के पर्यंक हाथी दाँत और स्वर्ण के बने हुये थे । उसके बर्तन भी सोने के थे ।[11] कौरव राज-प्रासाद में भी रत्न-

---

१ सभा (गीता), ३१, पृ० ७६१.
२ विराट (गीता), १.७; आदि, ११६.२३; १८६.१; सभा (गीता), ३१, पृ० ७६१; शान्ति १८.२१; ३८.३७.
३ आदि (गीता), १८६.१७.
दृष्टव्य, आदि, १२६.३६-३७.
४ शान्ति, ४.९.
५ शान्ति. १८.१६.
६ सभा (गीता), ३१, पृ० ७६१ तथा ७६३.
७ शान्ति, ५६.५७-५८
८ शान्ति, १८.१६ .
९ सभा (गीता), ३१, पृ० ७६१.
१० द्रोण (गीता), १३३.२०.
११ सभा (गीता), ३१, पृ० ७६३.

विभूषित पर्यंकों का उल्लेख प्राप्त होता है।[१] युधिष्ठिर के राजभवन में नित्य एक लाख दासियां सोने के पात्रों में अतिथियों भोजन कराती थीं[२]।

राजा की सवारी के लिये विशिष्ट प्रकार के यान वाहनों का प्रबंध रहता था।[३] युधिष्ठिर के रथ में शुभ-लक्षण युक्त सोलह श्वेत वृष जोते जाते थे।[४] शान्ति पर्व में श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों के रथों का वर्णन किया गया हैं।[५] उद्योग पर्व में भी श्रीकृष्ण के रथ का वर्णन हैं।[६] रथ के अतिरिक्त, राजा गज और अश्व की भी सवारी करते थे। एक स्थान पर हमें दिलीप के सुनहरे और स्वर्णाभूषित हाथियों का वर्णन प्राप्त होता है। आदि पर्व में महाराज दुष्यन्त हाथी पर बैठकर आखेट के लिये जाते हैं।[७] इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर की सवारी के लिये एक लाख रथ रहते थे जिनमें स्वर्णाभूषण विभूषित तथा मोती की जाली से आच्छादित अश्व जोते जाते थे।[८] एक अवसर पर हम धृतराष्ट्र और गान्धारी को नर-यान (पालकी) पर जाते हुए पाते हैं।[९] राजा जब कभी यात्रा करता था उसके आगे और पीछे चतुरंगिणी सेना तथा बहुत बड़ी संख्या में अन्य व्यक्ति चला करते थे। विराट पर्व से विदित होता है कि यात्रा के अवसर पर दस सहस्र गज तथा स्वर्णमाला-विभूषित सहस्त्रों अश्व युधिष्ठिर के पीछे चलते थे।[१०] इसी प्रकार जब महाराज दुष्यन्त आखेट के लिए जाते थे, तो सभी वर्णों के लोग उनके पीछे चलते थे।[११] राजा की यात्रा के अवसर पर स्थान-स्थान पर विश्रामालय निर्मित किये जाते थे, जिनमें समस्त आवश्यक वस्तुयें विद्यमान रहती थीं।[१२]

राजप्रासाद भी राजा के वैभव का परिचायक था। महाभारत में अनेक राजाओं के भवनों का विवरण प्राप्त होता है। दुर्योधन का राजप्रासाद तीन-कक्ष वाला, श्वेत,

---

१ उद्योग, ८९. ७-९; सभा (गीता) ४७.२७.
२ विराट (गीता), १८.१६-१८.
३ शान्ति, ४.४.
४ शान्ति, ३७.३१–३३.
५ शान्ति, ४६.३३-३५; ४८.१-२, ५९.१.
६ उद्योग (गीता),९४.१२-१३.
७ आदि (गीता), ६९.१३-१४ .
८ कर्ण (गीता) ८१.३.
९ शान्ति, ३८.४०.
१० विराट (गीता), १८.१५-१८.
११ आदि (गीता), ६९.१३-१४.
१२ उद्योग, ८३.१६-१८.

तथा पर्वत-शिखर के समान उच्च था।[1] खाण्डव बन में युधिष्ठर का समृद्धिशाली राज-भवन था।[2] सभापर्व में विभीषण के राजप्रासाद का वर्णन मिलता है।[3] शान्ति पर्व में जनक तथा राजा स्रंजय के भवनों का वर्णन है।[4] इनके अतिरिक्त धृतराष्ट्र के पुत्रों के वैभवशाली भवनों का भी वर्णन प्राप्त होता है, जिन्हें युधिष्ठिर ने अपने भ्राताओं के निवास के लिये दिया था। दुर्योधन का भवन बहुत सी अट्टालिकाओं से सुशोभित एवं बहु-रत्न समाकीर्ण था। दुःशासन के भवन में कई अट्टालिकायें हेम-तोरण भूषित एवं प्रभूत धन-धान्यवती थीं। दुर्धर्षण का भवन कुबेर के भवन के समान स्वर्ण और मणियों से विभूषित था। दुर्मुख का भवन भी कनक विभूषित था।[5] सबसे सुन्दर और विस्तृत वर्णन हमें युधिष्ठिर के भवन, विशेष कर उनके सभा भवन, का मिलता है, जिसमें दुर्योधन को जल-स्थल भ्रम हो गया था। यह सभा भवन स्फटिक का बना था। इसकी बावली तथा द्वार भी स्फटिक जड़ित थे।[6] इसकी प्रतिस्पर्धा में दुर्योधन ने शीघ्र ही तोरण-स्फटिक नामक सभा तैयार करने का आदेश दिया, जिसमें सुवर्ण तथा बैदूर्य से जटित एक सहस्त्र स्तम्भ तथा एक शत द्वार थे। इसे स्वर्ण आसनों से सुसज्जित किया गया था, और इसमें अनेक प्रकार के रत्न जड़े थे।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि राज भवन में सभा भवन ही सबसे अधिक अलंकृत होता था। इसका आभास हमको विराट, धृतराष्ट्र, एवं दिलीप के सभा भवनों से होता है।[8] राज भवन की भूमि पर विशिष्ट अवसरों पर सुगन्धित जल से छिड़काव भी किया जाता था।[9]

महाभारत से यह भी विदित होता है कि राजा के वैभव के अनुरूप अनेक सेवक होते थे। इनमें बंदी-जन, वैतालिक, सूत, मागध, दास और दासियां होती थीं। दुर्योधन और दुःशासन के भवन दास-दासियों से समाकीर्ण थे।[10] बन्दीजन युधिष्ठिर की स्तुति किया करते थे।[11] शान्तिपर्व में राजकन्या की धात्री तथा वर्षवर का उल्लेख है।[12]

---

१ उद्योग, ८९.२-४.
२ आदि, २१४.२५.
३ सभा (गीता), ३१, पृ० ७६१.
४ शान्ति, १८.२१-३०.
५ शान्ति, ४४.६-१३.
६ सभा (गीता), ४७.
७ सभा (गीता), ५६.१७-२२.
८ उद्योग, १.२; ४६.३-५; द्रोण (गीता), ६१.४.
९ उद्योग, ४६.३-५.
१० शान्ति, ४४. ६-९.
११ शान्ति, ३८. ३३.
१२ शान्ति, ४. १०.

सभापर्व से विदित होता है कि राजा द्रुपद ने चौदह सहस्र दासियाँ और दस सहस्र सपत्नीक दास पाण्डवों को प्रदान किये थे ।[१] सूत और मागध शंख, दुंदुभी आदि बजाकर कृष्ण को प्रातः काल जगाते थे ।[२] आदि पर्व में बंदीजन राजा का यश गान करते हैं ।[३] सूत-मागध सायं और प्रातः युधिष्ठिर की स्तुति करते थे ।[४] उद्योग पर्व में द्ववास्थ (द्वार पाल) तथा सभा पर्व में विभीषण के द्वारपाल का उल्लेख मिलता है ।[५]

आमोद-प्रमोद

राजाओं की दिनचर्या अत्यधिक व्यस्त रहती थी, किन्तु कुछ समय उनके आमोद-प्रमोद के लिये भी निर्धारित रहता था । प्राचीन साहित्य के अवलोकन से विदित होता है कि भारतीय राजा आखेट प्रिय थे, और कतिपय शासकों की द्यूत क्रीड़ा में भी आसक्ति थी । इनके अतिरिक्त संगीत और नृत्य भी राजाओं के आमोद-प्रमोद के साधन थे । महाभारत से भी हमें ऐसा ही आभास मिलता है । अनेक राजा मृगयासक्त पाये जाते हैं, यथा पाण्डु,[६] परीक्षित,[७] दुष्यन्त,[८] विश्वामित्र,[९] आदि । आखेट में राजाओं को जो कठिनाइयां झेलनी पड़ती थीं उनका भी उल्लेख किया गया है, और इसीलिये मृगया को व्यसन माना गया है। कुछ अप्रत्यासित घटनायें भी घटीं जिनके कारण परीक्षित तथा विश्वामित्र को शाप मिले, और उन्हें महान क्षति उठानी पड़ी । इसके विपरीत मृगयासक्ति के कारण ही दुष्यन्त का शकुन्तला से परिचय हुआ, और गान्धर्व व्याह भी ।

द्यूत क्रीड़ा भी राजाओं को बहुत प्रिय थी । उसके दोष जानते हुये भी वे उसमें अभिरुचि रखते थे । स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर को द्यूत क्रीड़ा से बहुत प्रेम था । शकुनि के कपट जाल में फंस कर उन्होंने अपना सर्वस्व खो दिया,[१०] और परिणामतः महाभारत का युद्ध हुआ । राजा नल को भी द्यूत-आसक्ति के कारण राज्य खोकर अनेक यातनायें

---

१ सभा (गीता) ५२. २९.
२ उद्योग, ९२. ४.
३ आदि (गीता) २२२. ६२.
४ आरण्य, १९. १९.
५ उद्योग, ४६.१३; सभा (गीता) ३१, पृ० ७६०.
६ आदि, १०९.३१.
७ आदि, ३६.९-१०.
८ आदि (गीता), ६९.१३-१४.
९ आदि, १६५.५-७.
१० सभा (गीता), द्यूत पर्व.

सहन करनी पड़ीं ।[1] द्यूत को यथेष्ठ ही राजाओं का व्यसन माना गया है, और उत्तर-युगीन आचार्यों ने इसके दोषों को व्यक्त करते हुये युधिष्ठिर और नल के ही उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । अतएव प्राचीन राजशास्त्र-प्रणेता मृगया और द्यूत के दोष बताते हुये यही आदेश देते हैं कि राजा उनमें अत्यधिक न अनुरक्त हो ।

इस ग्रन्थ से यह भी विदित होता है कि राजाओं के दरबार में नट, नर्तक और गन्धर्व भी उपस्थित रहते थे, जो अपनी क्रीड़ा दिखा कर राजा तथा उसके अतिथि और प्रजा का मनोरञ्जन किया करते थे ।[2] राजकुमारों को संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी । इन्द्र ने अर्जुन को संगीत की शिक्षा देने के लिये चित्रसेन की नियुक्ति की थी, जिससे उन्होंने गीत, वाद्य, और नृत्य की शिक्षा प्राप्त की थी ।[3] विराट ने भी अपनी राजकुमारी को संगीत शिक्षा देने के लिये बृहन्नला वेषधारी अर्जुन की नियुक्ति की थी ।[4] इससे यही आभास मिलता है कि राजाओं के मनोरंजन का साधन संगीत भी था । वे संगीत से अनुराग रखते थे और अपनी सन्तति के लिऐ संगीत शिक्षा की समुचित व्यवस्था करते थे ।

राज-रक्षा

प्राचीन भारत में शासन-व्यवस्था राजा पर ही निर्भर थी । अतएव यह नितान्त आवश्यक था कि वह स्वस्थ और सुरक्षित रहे । हमारे आचार्यों ने राजा के स्वस्थ रहने के लिए शारीरिक व्यायाम, नियमित भोजन, एवं औषधि-सेवन आवश्यक बतलाया है ।[5] इसी ध्येय से उन्होंने मृगया को भी महत्व दिया है । परन्तु राजा के स्वास्थ्य की अपेक्षा उस की रक्षा की ओर उन्होंने अधिक ध्यान दिया है । उनके अनुसार रानी, कुमार, अस्वामिभक्त सेवक तथा शत्रु से राजा को सदैव सावधान रहना चाहिये । इनके अतिरिक्त हिंसक पशु, सर्प आदि से उस की रक्षा कैसे की जाय, इस विषय की भी कौटिल्य, कामन्दक, मनु, आदि ने विस्तृत विवेचना की है ।

महाभारत में भी कहा गया है कि प्रजा की रक्षा का मूल साधन राजा का सुरक्षित शरीर है ।[6] अतः सभी उपायों से उसकी रक्षा करना चाहिये ।[7] इस ग्रन्थ

---

१ आरण्य, नलोपाख्यान पर्व.
२ द्रोण (गीता), ५७.४.
३ आरण्य (गीता), ४४.८; १०-११; १६८.५८-५९, (क्रि) १६४.५४-५६.
४ विराट (गीता), ११.१०-११.
५ यथा नीतिसार, १५.३८; ७.३६,५६; १५.२६.
६ शान्ति, ९०.१३.
७ आश्रमवासिक (गीता), ७.१८.

में राजा की रक्षा पर बहुत बल दिया गया है। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं 'तुम सब ओर से अपनी रक्षा करते हुये ही इस पृथ्वी की रक्षा करो......। जो राजा अपनी रक्षा नहीं करता वह प्रजा कीं भी रक्षा नहीं कर सकता है'।[१] इसी प्रकार अनुशासन पर्व में महेश्वर कहते हैं कि 'राजा को प्रजा की रक्षा के लिए ही अपनी रक्षा अभीष्ठ होती है। अतः वह सावधान होकर आत्म-रक्षा करे'।[२]

महाभारत में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि किससे, तथा किन विशेष अवसरों पर राजा की रक्षा अधिक सतर्कता से करना चाहिए। वामदेव के अनुसार दण्डित अमात्य, विषम पर्वत, दुर्गम स्थान, गज, अश्व एवं सर्प से राजा अपनी रक्षा करे, विशेषतः स्त्रियों से।[३] महेश्वर तो यहां तक कहते हैं कि राजा भोजन, आच्छादन, स्नान, बहिर्यात्रा, स्त्री, स्वजन, शत्रु, शस्त्र तथा विष के अतिरिक्त अपनी पत्नी तथा पुत्रों से भी सदा सतर्क रह कर अपनी रक्षा करे।[४] धृतराष्ट्र भी युधिष्ठिर को आदेश देते हैं कि राजा को भोजन, आहार-विहार, माला-धारण और आसन ग्रहण करते समय अपनी रक्षा का ध्यान रखना चाहिये।[५] उनके अनुसार राजद्रोहियों से बहुत सतर्क रहना चाहिए और गुप्तचरों द्वारा पता लगा कर आप्त पुरुषों द्वारा उनका बध करा देना चाहिए।[६]

मंत्री, सेना एवं अन्य राज-कर्मचारियों पर तो राजा की रक्षा का भार रहता ही था, प्रजा-जन का भी कर्तव्य था कि वे आपत्तिकाल में अपने राजा की रक्षा करें। राजा और प्रजा दोनों ही अपनी रक्षा के लिए एक दूसरे के आश्रित थे। अतः दोनों ही का यह कर्तव्य था कि यथा-शक्ति एक दूसरे की रक्षा करें।[७] युद्ध के अवसर पर तो राजा की रक्षा का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता था। द्रोण पर्व में धृतराष्ट्र कहते हैं:—

'सर्वोपायैर्हि युद्धेषु रक्षितव्यो महीपतिः।
एषानीतिः परा युद्धे दृष्टातत्र महर्षिभिः।'

---

१ शान्ति, ९०.१३; ९१.३६.
२ अनुशासन (गीता), १४५, पृष्ठ ५९०९.
३ शान्ति (गीता), ९३.३१.
४ अनुशासन (गीता), १४५, पृष्ठ ५९४९.
५ आश्रमवासिक (गीता), ५.१८-१९.
६ आश्रमवासिक (गीता), ५.३७-३८.
७ शान्ति (गीता), १२९.३०-३१.

हमारे ग्रन्थ में राजा की रक्षा सम्बन्धी विधान और उपायों पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। प्रथमतः राजधानी और राजभवन की समुचित रक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए। राजा के निकटवर्ती वही जन हों जिनका कुल तथा शील अच्छी तरह ज्ञात हो। अन्तःपुर में शीलवान, कुलीन, विद्वान, वृद्ध तथा विश्वासपात्र व्यक्तियों को ही नियुक्त करना चाहिए।[१] भीष्म मयूर का उदाहरण देते हुए राजा को आत्म-रक्षा के कुछ उपाय बताते हैं। जैसे मयूर रात्रि के समय एकान्त स्थान में अधिक रहता है उसी प्रकार की सावधानी राजा को भी बरतना चाहिए। उसे स्त्रियों से भी अलक्षित रहना चाहिये। राजा अपना कवच कभी न उतारे, और शत्रुओं के चरों द्वारा बिछाये गये जाल से सदा सतर्क रहकर उसके निवारणार्थ उपाय करे।[२] उनके अनुसार राजा किसी का पूर्णतया विश्वास न करे। ऐसा विश्वास धर्म और अर्थ का नाशक ही नहीं, वरन् अकाल मृत्यु के समान है। विश्वस्त जनों से भी राजा को सदा सशंक रहना चाहिए, विशेषतः ऐसे व्यक्तियों से जो राज्य के उत्तराधिकारी हो सकते हैं।[३]

इसी प्रकार उतथ्य मान्धाता के उपदेश देते हैं कि राजा को मत्त-प्रमत्त, पौगण्ड, उन्मत्त व्यक्तियों से, निगृहीत अमात्य, और स्त्रियों से सदा सतर्क रहना चाहिये। पार्वतीय दुर्गम प्रदेशों से एवं हस्ति, अश्व और सर्पों से भी सावधान रहे। रात्रि में घूमना, अपरिचित, क्लीब, स्वैरिणी, तथा पर-स्त्री के साथ का भी निषेध था, क्योंकि वे शत्रु के गुप्तचर हो सकते हैं।[४]

इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण कथन पलित नामक मूसिक का है। वह कहता है कि आत्मरक्षार्थ सन्तति, राज्य, रत्न और धन सबका परित्याग किया जा सकता है। क्योंकि यदि प्राणी जीवित रहेगा तो वह शत्रुओं द्वारा अधिकृत ऐश्वर्य, धन, और रत्न पुनः प्राप्त कर सकता है।[५] यह बात प्रत्यक्ष देखी भी गई है, और राजा सर्वथा इस नीति का अनुसरण भी करते थे। कामन्दक ने इस कथन की अक्षरशः पुष्टि की है,

---

१ आश्रमवासिक (गीता), ५.१६-२०.

२ शान्ति, १२०.१३-१४ : मायूरेण गुणेनैव स्त्रीभिश्चालक्षितश्चरेत् ।
न जह्याच्च तनुत्राणं रक्षेदात्मानमात्मना ।।
चारभूमिष्वभिगमान्पाशांश्च परिवर्जयेत् ।
पीडयेच्चापि तां भूमिं प्रणश्येद्गहने पुनः ।।

३ शान्ति, ८१.१०-१३.

४ शान्ति, ९१.२७-३०.

५ शान्ति, १३६.७२-७३.

और स्वयं युधिष्ठिर का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि सफलतापूर्वक रक्षा करके ही वह खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त कर सके थे।[१]

युद्ध के अवसर पर राजा की रक्षा का समुचित प्रबंध किया जाता था। अर्जुन भूरिश्रवा से कहते हैं कि महासमर में राजा की रक्षा करना सुहृदों का कर्तव्य है।[२] धृतराष्ट्र भी कहते हैं कि युद्ध में सभी उपायों से राजा की रक्षा करना चाहिए। महर्षियों ने भी इस नीति का समर्थन किया है।[३]

महाभारत में ऐसे राजाओं के उदाहरण भी मिलते हैं, जिनकी रक्षा बड़ी सतर्कता से की गई थी। शान्ति पर्व से विदित होता है कि युधिष्ठिर की रक्षा हेतु सहदेव नियुक्त किये गये थे, जो सदैव उनके साथ रहते थे।[४] द्रोणपर्व में उनकी रक्षा का भार भीमसेन को सौंपा गया था, जिन्होंने इस कार्य को महान धर्म समझकर ग्रहण किया था।[५] इसी प्रकार दुर्योधन की रक्षा का भी प्रबन्ध किया गया था। उसकी रक्षा के लिए समस्त सुहृद अस्त्र-शस्त्र लेकर उसी प्रकार उसके साथ रहते थे जैसे स्वर्ग में देवता इन्द्र की रक्षा के लिए।[६] द्रोण पर्व में हम आचार्य द्रोण को दुर्योधन की रक्षा का भार ग्रहण करते हुए देखते हैं।[७]

राजमहिषी

भारतीय राजशास्त्र में राजमहिषी का स्थान भी राजा के समान ही महत्वपूर्ण है। वैदिक साहित्य में महिषी को ही नहीं वरन् दो अन्य प्रकार की रानियों (बवाता तथा परिवृक्ति) को भी रानियों में स्थान दिया गया है। उत्तरकालीन साहित्य में भी महिषी का महत्व स्पष्टतः व्यक्त होता है। राजा के साथ उसका भी अभिषेक होता था और अश्वमेध जैसे यज्ञों के अवसर पर उस की उपस्थिति अनिवार्य थी। भगवान राम को भी ऐसे अवसर पर सीता की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित करनी पड़ी थी। गुप्त नरेशों के अश्वमेध प्रकार के सिक्कों पर भी हम महारानी का चित्र अंकित पाते हैं। महिषी का केवल धार्मिक महत्व न था, वह राजनीति में भी सक्रिय भाग लेती थी।

---

१ नीतिसार, ११.३०-३१.
२ द्रोण (गीता), १४३.२१.
३ द्रोण (गीता), १५३. पृ० ३५५१.
४ शान्ति, ४१. १४.
५ द्रोण, ८७. ६६-७०, तथा १०२. ४६-४८.
६ भीष्म, ९३. २५-२६.
७ द्रोण (गीता), १५३. ४२-४३, पृ० ३५५३.

महाभारत में तो अनेक महिषियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं जिन्होंने अपने पद को गौरवान्वित किया था। वह शिक्षित तथा धर्मज्ञ होती थीं। राजकुमारों की भांति राज पुत्रियों की भी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध किया जाता था। इस का प्रमाण हमें विराट पर्व में मिलता है। बृहन्नला रूपधारी अर्जुन की नियुक्ति द्रुपद-कुमारी उत्तरा को गान्धर्व विद्या की शिक्षा के लिए की गयी थी। जब सब प्रकार की परीक्षा में बृहन्नला को आप्त पाया गया तभी राजकुमारी की शिक्षिका के रूप में उसको नियुक्त किया गया था।[१] शान्ति पर्व में द्रौपदी को धर्मज्ञा और धर्मदर्शिनी कहा गया है। इसी प्रकार गान्धारी को भी महाप्रज्ञा तथा दीर्घदर्शिनी कहा गया है।[२]

इस ग्रन्थ से विदित होता है कि राजकुमारियों का लालन-पालन यथोचित रूप से किया जाता था। पत्नी के रूप में सम्मान, तथा राज-माता के रूप में वे श्रद्धा तथा आदर की पात्र थीं। राजरानी तथा राजमाता राजनीति में सक्रिय भाग लेती थीं, और अनेक विषम परिस्थितियों में राजा भी उनसे राय लिया करते थे। सर्व प्रथम हम कुन्ती का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसने बिदुला के दृष्टान्त द्वारा अपने पुत्रों को क्षत्रिय-धर्म पालन के लिए उत्साहित किया था। धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ जब वह बन जाने को तत्पर हुयी तब युधिष्ठिर ने विरोध करते हुए कहा कि 'पहले तो तुमने राज्य प्राप्ति के लिए हमें उत्साहित किया और अब उसका उपभोग न करके बन जा रही हो'। कुन्ती इसका मार्मिक शब्दों में उत्तर देती है, 'उस समय तुम कष्ट से शिथिल थे। द्यूत में तुम्हारा राज्य नष्ट हो गया था, तुम्हारे भाइ-बन्धु तुम्हारा तिरस्कार करते थे। मैं नहीं चाहती थी कि पाण्डु की सन्तान नष्ट हो, अथवा उनके पुत्रों का यश विनष्ट हो। इसीलिए मैंने तुमको युद्ध के लिए उत्साहित किया था। मैं स्वामी के राज्य का सुख भोग चुकी, बड़े २ दान किये, और यज्ञों में विधि पूर्वक सोम-पान किया, अब मुझे उसकी लिप्सा नहीं है'।[३]

उपर्युक्त वाक्यों से कुन्ती का पुत्र-स्नेह ही नहीं वरन् उसकी राजनीतिज्ञता का भी परिचय मिलता है। इसकी पुष्टि शान्तिपर्व से भी होती है, जब कुन्ती कर्ण के पास जाकर उसके जन्म का इतिहास बता कर उसको अपना पुत्र बतलाती है। इस प्रयास में उसे आंशिक सफलता भी मिली और कर्ण ने प्रतिज्ञा की कि अर्जुन के अतिरिक्त वह कुन्ती के अन्य पुत्रों का बध नहीं करेगा।[४]

---

१ विराट (गीता), ११.
२ उद्योग, १२९.२.
३ आश्रमवासिक (गीता), १७.
४ शान्ति, १.२५-२७;६.७.

इस प्रसंग में अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण द्रोपदी का है। सुख-ऐश्वर्य में पली द्रोपदी अपने पतियों के साथ बनवास का कष्ट सहर्ष झेलती है। यही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर वह राजा विराट के महल में सैरिन्ध्री का कार्य भी करती है।[१] बनवास के कष्ट सहते हुये भी द्रोपदी ने अपना साहस तथा प्रत्युत्पन्नमति नहीं खोया था। इसका परिचय हमें आरण्य पर्व में मिलता है, जब जयद्रथ उसका अपहरण करना चाहता था। उसके एक धक्के से ही वह जड़ से कटे हुये वृक्ष की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़ा था। द्रोपदी अबला नहीं सबला थी।[२] विराट पर्व में भी द्रोपदी कहती है कि वह अपनी रक्षा करने में स्वयं समर्थ थी।[३]

द्रोपदी राजनीति में भी कुशल थी। जब युधिष्ठर के मन में विराग उत्पन्न हुआ तब उसने उन्हें राजधर्म का उपदेश दिया था।[४] आरण्य पर्व में भी हम उसे युधिष्ठर से शत्रु-विषयक क्रोध उभाड़ने के लिये संतापपूर्ण बचन कहते हुये पाते हैं 'आप जैसे क्षत्रिय में क्रोध का अभाव क्षत्रित्व के विपरीत दिखायी देता है। जो क्षत्रिय अपने प्रभाव को नहीं दिखाता उसका सब प्राणी तिरस्कार करते हैं। आपको शत्रुओं के प्रति किसी भांति क्षमा-भाव न धारण करना चाहिए। तेज से उन सबका बध किया जा सकता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं'।[५] इसी प्रसंग में उन्होंने प्रहलाद और बलि का सम्बाद उद्धृत किया था जिसमें तेज और क्षमा के समुचित अवसर बतलाये गये हैं। द्रोपदी युधिष्ठर के बुद्धि, धर्म एवं ईश्वर के न्याय पर आक्षेप करती है। वह पुरुषार्थ को ही प्रधान मान कर उन्हें प्रेरित करती है।[६] इस प्रकरण से द्रोपदी की राजनीति-कुशलता स्पष्ट हो जाती है। उसे यथेष्ठ ही पण्डिता कहा गया है।[७] वह केवल राजनीति में ही दक्ष न थी वरन् सत्यभामा को सती धर्म की शिक्षा भी देती है।[८]

अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण गान्धारी का है। पतिपरायणा गान्धारी के पति धृतराष्ट्र दृष्टि-हीन थे। अतः उसने भी सारी आयु नेत्रों,में पट्टी बाँध कर व्यतीत की। गान्धारी केवल पतिव्रता ही न थी, वरन् राजनीति में भी उसकी अच्छी गति

---

१ विराट (गीता), २९.
२ आरण्य, (गीता), २६७-२६८.
३ विराट (गीता), ३.२०.
४ शान्ति, १४.१३.
५ आरण्य (गीता), २७.३७-४०.
६ आरण्य (गीता), ३०.३२.
७ आरण्य (गीता), २७.२.
८ आरण्य (गीता), २३३-२३४.

थी । इसका ज्ञान हमें उद्योग पर्व से होता है, जब धृतराष्ट्र उसके माध्यम से अपने पुत्रों को सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं । गान्धारी ने दुर्योधन की तो भर्त्सना की ही थी, धृतराष्ट्र को भी नहीं छोड़ा और उपस्थित विषम परिस्थिति के लिये उन्हें ही उत्तरदायी ठहराया था । इस प्रसंग में गान्धारी ने अनेक राजनीतिक तथ्यों का उल्लेख किया था जिससे विदित होता है कि वह राजनीति की पूर्ण ज्ञाता थी ।[1]

इनके अतिरिक्त, महाभारत में जो प्राचीन काल के कथानक प्राप्त होते हैं, उनसे भी रानियों का महत्व सिद्ध होता है । विदेहराज जनक जब राज्य परित्याग कर भिक्षावृत्ति अपनाने जा रहे थे, उस समय उनकी रानी ने राजधर्म का उपदेश दिया था, जिससे प्रभावित हो उन्होंने अपने निश्चय को बदल दिया था ।[2] इसी प्रकार दमयन्ती ने भी राजा नल को द्यूत से विमुख करने का यथा-शक्ति प्रयास किया था । इस कार्य म उसने मंत्रियों से सहायता की याचना भी की थी । जब सभी प्रयास विफल हुये तब उसने अपनी बुद्धिमता का परिचय दिया और अपने पुत्र तथा पुत्री को कुण्डलपुर भेज दिया था । दमयन्ती को देश-कालज्ञ कहा गया है ।[3] महाभारत में सीता और सावित्री के भी कथानक मिलते हैं जिन्होंने पतिव्रत-धर्म के अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किये हैं ।[4] इसी प्रकार जब दशार्ण-राज हिरण्यवर्मा द्रुपद पर आक्रमण करना चाहते थे तब द्रुपद ने अपनी रानी के साथ मंत्रणा की थी ।[5] एक अन्य उत्कृष्ट उदाहरण गान्धार की राजमाता का है । जब उसके पुत्र की सेना युद्ध-भूमि में अर्जुन से पराजित होने लगी तब राजमाता वृद्ध मंत्रियों सहित स्वयं रणभूमि में उपस्थित हुयी, अपने पुत्र को युद्ध करने से रोका, और अर्जुन को प्रिय बचनों से प्रसन्न किया ।[6]

महाभारत की रानी पति की सच्ची अनुगामिनी थी । राजा कुशिक की रानी अपने पति के आदेश से च्यवनमुनि की सेवा में संलग्न हुई थी ।[7] गान्धारी तथा माद्री ने अपने पति के साथ बनगमन किया था । माद्री तो अपने पति पाण्डु के साथ सती भी हो गई थी ।[8]

---

१ उद्योग, १२७.
२ शान्ति, १८.
३ आरण्य, ५७.११.
४ आरण्य, रामोपाख्यान तथा सावित्र्युपाख्यान ।
५ उद्योग, १९२.
६ आश्वमेधिक (गीता), ८४ १९-२०.
७ अनुशासन, ५२.
८ उद्योग, १२२.

राजकुमार

महाभारत में राजकुमारों के सम्बन्ध में भी कुछ बातें ज्ञात होती हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाता था, जिसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। उनकी नियुक्ति महत्वपूर्ण पदों पर की जाती थी। वे राजा को मंत्रणा भी देते थे। स्वयं महाराज युधिष्ठर ने अपने भ्राताओं की नियुक्ति विभिन्न पदों पर की थी।[१] अनुशासन पर्व में उल्लिखित है: 'राजकुमारों को जन्म से ही विनयशील बनाना चाहिये। उनमें से जो भी उपयुक्त गुणों से सम्पन्न हो उसे युवराज पद पर नियुक्त करें'।[२] इस ग्रन्थ में युवराज के अभिषेक का भी उल्लेख है। आदि पर्व में युधिष्ठिर, आरण्य पर्व में सत्यवान तथा शान्ति पर्व में भीम के यौवराज्याभिषेक का विवरण प्राप्त होता है।[३]

---

१ शान्ति, ४१.११-१२.
२ अनुशासन (गीता), पृ० ५९५०.
३ आदि (गीता), १३८.१; आरण्य, २८३.११; शान्ति, ४१.८.

६

नियंत्रित राजतंत्र

भारत के प्राचीन राजशास्त्रप्रणेता यह तो अवश्य चाहते थे कि राज्य का शासक शक्ति-सम्पन्न और प्रतापशाली हो, परन्तु वे निरंकुशता के समर्थक न थे। उन्होंने राजा के अधिकारों की अपेक्षा उसके कर्तव्यों को ही प्रमुखता दी है। महाभारत से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है। प्राचीन काल में आधुनिक संवैधानिक नियंत्रणों का तो अस्तित्व न था, परन्तु फिर भी राजा की स्वच्छन्दता सफलतापूर्वक नियंत्रित कर दी गयी थी।

सर्वप्रथम इस बात पर बल दिया गया है कि राजा को शास्त्रानुसार शासन करना चाहिए। इसी नियम से राजा का वास्तविक स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है, क्योंकि शास्त्र कभी भी निरंकुशता और अत्याचार के समर्थक नहीं रहे हैं। इसी प्रकार इस बात पर भी बल दिया गया है कि राजा को सत्पथ का अनुसरण करना चाहिए। मंत्री, मित्र, और अनुयाइयों का यह कर्तव्य था कि वे उसको कुपथ पर जाने से रोकें।

एक स्थल पर कहा गया है कि राजा को कुशल मंत्री तथा दक्ष कर्मचारियों की सहायता से शासन करना चाहिये। अन्य अध्याय में हम देखेंगे कि मंत्री शासन पर बहुत अधिक नियंत्रण रखते थे, और महाभारत का आदेश है कि राजा उनके साथ सम्यक् विचार करके ही शासन करे। सभा भी राजा के कार्यों का नियंत्रण करती थी। महाकाव्य युग में सभा का वह स्वरूप तो नहीं रह गया था जो वैदिक युग में था, फिर भी वह किसी अंश तक राजा को प्रभावित करती थी।

महाभारत में इस बात पर भी बहुत बल दिया गया है कि राजा वृद्ध, विद्वान, तथा श्रेष्ट पुरुषों के मतानुसार कार्य करे। भारत के प्राचीन राजा प्राय: ऐसे पुरुषों द्वारा प्रदर्शित मार्ग का ही अनुसरण करते थे। धृतराष्ट्र युधिष्ठिर को आदेश देते हैं:—

विद्यावृद्धान् सदैव त्वमुपासीथा युधिष्ठिर ।
श्रुणुयास्ते च यद् ब्रूयु: कुर्याश्चैवाविचारयन् ।।[१]

उद्योग पर्व में कृष्ण यथेष्ठ ही कुरु-कुल के वृद्धों को दुर्योधन पर नियंत्रण न रखने के लिए दोष देते हैं। वह राज्य पर नियंत्रण करना कुल-वृद्धों का परम कर्तव्य मानते हैं।

सर्वेषां कुरु-वृद्धानां महानयमतिक्रमः ।
प्रसह्य मन्दमेश्वर्येन नियच्छत नृपम ।।[२]

महाभारत युग की प्रवृत्ति धार्मिक थी, और प्रत्येक राजा की यही इच्छा थी कि वह धार्मिक शासक के नाम से विख्यात हो। ऐसा राजा कभी भी शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता, क्योंकि उसके कानों में यह वाक्य निरन्तर प्रतिध्वनित हुआ करते थे कि अधार्मिक आचरण उसे पतन अथवा नरक की ओर ले जायगा। नहुष जैसे राजाओं के दृष्टान्त भी उसके मस्तिष्क पर यही प्रभाव छोड़ते रहे होंगे। आधुनिक युग की अपेक्षा उस युग में नैतिकता और आध्यात्मिकता तथा नरक का भय अधिक व्यापक था।[३] भीष्म महर्षि वामदेव को उदधृत करते हुये युधिष्ठिर से कहते हैं कि धर्म से ही राजा शोभा पाता है (धर्मेण बिराजते) और इसके विपरीत, अधर्माचरण करने वाले के धर्म और अर्थ दोनो ही पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं। यही नहीं, ऐसा राजा सबका वध्य होता है।[४] राजा को प्रजा में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए धर्मा-नुसार आचरण करना चाहिए।[५] शौनक मुनि जनमेजय को धर्म पर दृढ़ रहने का आदेश देते हैं। राजा भी उनसे प्रतिज्ञा करता है कि वह कभी धर्म की मर्यादा का लोप न होने देगा।[६] शान्ति पर्व में स्पष्ट कहा गया कि जो राजा धर्मानुकूल आचरण नहीं करता उसके अत्याचार से प्रजा विनष्ट हो जाती है। इस प्रसंग में धृतराष्ट्र का निम्नोक्त आदेश भी बहुत महत्वपूर्ण है :—

तत्तु शक्यं महाराज रक्षितुं पाण्डुनन्दन ।
राज्यं धर्मेण कौन्तैय विद्वानसि निबोधतत् ।।[७]

---

१ आश्रमवासिक (गीता), ५.१०.
२ उद्योग, १२६.३३.
३ उद्योग, १३२.१३८ 'सचेद धर्म चरति नरकायैव गच्छति'.
४ शान्ति, ९३.७-९.
५ शान्ति, ५८,२०.
६ शान्ति, १४७.१४-१५.
७ आश्रमवासिक (गीता), ५.९.

भारत की प्राचीन परिपाटी की भांति महाभारत भी राजा को कानून बनाने का अधिकार नहीं देता। प्राचीन भारत में राजा न नया कानून बना सकता था और न पुराने कानून में परिवर्तन कर सकता था। कानून के मूल श्रोत श्रुति, स्मृति और शिष्टाचार ही माने जाते थे। कौटिल्य और नारद के विपरीत, महाभारत राज-शासन को कानून का श्रोत नहीं मानता है। धर्म राजा से श्रेष्ठ था। राजा का कार्य केवल धर्ममर्यादा की रक्षा करना था। वह न उसमें परिवर्तन कर सकता था, न उसका अति-क्रमण। राजा के प्रशासकीय अधिकार भी बहुत सीमित थे। वह केवल निर्धारित कर ग्रहण कर सकता था, और धर्मानुसार दण्ड दे सकता था। अनियंत्रित दण्ड देने का उसे अधिकार न था।

ब्राह्मणों का राजा पर नियंत्रण

वैदिक युग से ही ब्राह्मण और क्षत्रियों के मध्य एक प्रकार से शक्ति सन्तुलन प्रारम्भ हो चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मण पुरोहित 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाम् राजा' कहकर अपने को राज-शक्ति के नियंत्रण से स्वतंत्र घोषित करते हुए दिखायी देते हैं।[१] स्मृति ग्रन्थों में भी ब्राह्म-शक्ति और क्षात्र-शक्ति के समन्वय पर बल दिया गया है।[२] प्रत्येक राजनीति-विचारक ब्राह्मणों का समुचित आदर करना राजा का परम पावन कर्तव्य मानता है। वह ब्राह्म-मत की सहज ही अवहेलना नहीं कर सकता था। अत: ब्राह्मणों का, जो राष्ट्र की बौद्धिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे, मत राजा को मान्य था, और वह एक प्रकार से उसकी शक्ति को नियंत्रित करते थे। महाभारत से भी यही विदित होता है। शान्ति पर्व में भीष्म कहते हैं कि ब्राह्मण अपने तप, ब्रह्मचर्य शास्त्रबल, निष्कपट व्यवहार, अथवा भेदनीति से जैसे भी संभव हो क्षत्रिय जाति को दबाने का प्रयत्न करें। प्रजा पर अत्यचार करने वाले क्षत्रिय को ब्राह्मण ही दबा सकता है, क्योंकि क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्राह्मण से ही हुयी है।[३] शौनक जनमेजय को आदेश देते हैं कि उसे ब्राह्मणों से कभी द्वेष न करना चाहिये, और राजा शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि 'मनसा-वाचा कर्मणा मैं कभी भी ब्राह्मण से द्रोह न करूंगा'।[४] शान्ति पर्व में उल्लिखित है कि जनमेजय को ब्रह्महत्या के कारण राज्य से वंचित होना पड़ा था।[५]

---

१ वाजसनेयी संहिता, ९.४०,१०.१७-१८.
२ यथा, मनु, ७.५८-५९.
३ शान्ति, ७९.२०-२३.
४ शान्ति, १४७.२१-२२.
५ शान्ति, १४६-१४७.

जनमत

जनमत भी राजा की अत्याचारी प्रवृत्ति को नियंत्रित करने का प्रबल साधन था। महाभारत से विदित होता है कि यदि सम्पूर्ण समाज नहीं तो उसका उच्च-वर्ग सुशिक्षित, जागरूक, तथा अपने अधिकार और कर्तव्यों से भली भांति परिचित था। इस ग्रन्थ में अनेक प्रसंगों में पुष्ट और सबल जनमत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। राजा के निर्वाचन से लेकर निष्कासन तक अनेक क्षेत्रों में राजनीति जनमत से प्रभावित देखी जाती है।

सर्व प्रथम हम राजा के निर्वाचन में प्रजा-प्रभाव पर दृष्टिपात करेंगे। आदि पर्व में कहा गया है कि प्रजा ने सर्व सम्मति से कुरु को राजा के पद पर प्रतिष्ठित किया था।[१] इसी प्रकार परीक्षित की मृत्यु के उपरान्त जनमेजय को अभिषिक्त करने वाले पुरवासी जन, मंत्री तथा राज पुरोहित थे।[२] उद्योग पर्व में भी हम जनमत को सक्रिय पाते हैं। विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् प्रजा (प्रजासर्वाः) भीष्म से राजभार ग्रहण करने का आग्रह करती है।[३] अन्यत्र शाल्व राज्य की प्रजा द्युमत्सेन को पुनः राज्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठित करती हुई देखी जाती है।[४] आश्वमेधिक पर्व में भी खनीनेत्र को पदच्युत करके प्रजा ने उसके पुत्र सुवर्चा को राजपद पर अभिषिक्त किया था।[५]

युवराज के निर्वाचन में भी हम प्रजा को हस्तक्षेप करते हुए पाते हैं। जब ययाति ने अपने सबसे छोटे पुत्र पुरु को युवराज बनाना चाहा, तब प्रजा ने प्रबल प्रतिरोध किया, और तभी शान्त हुयी जब शुक्र ने राजा के कार्य को उचित बतलाया।[६] दूसरा उदाहरण उद्योग पर्व में प्राप्त होता है, जब ब्राह्मण बृद्ध ओर पौरजानपदों ने देवापि की युवराज पद पर नियुक्ति का विरोध किया था। अन्ततः राजा प्रतीप को जनमत के सामने झुकना पड़ा था।[७]

इसी प्रकार कतिपय अवसरों पर हम राजा की नीति के विरुद्ध उत्तेजित जनता को प्रतिवाद करते हुए पाते हैं। आदि पर्व में पाण्डवों के प्रति धृतराष्ट्र की अनुचित नीति के विरूद्ध सभाओं में तथा चौराहों पर (संसत्सु, चत्वरेषु) जनता के विरोधी

---

१ आदि, ८९.४२.
२ आदि, ४०.६.
३ उद्योग, १४५.२५-३०.
४ आरण्य, २८३ ३-११.
५ आश्वमेधिक (गीता), ४.९.
६ आदि, ३२; ८०.१२-२४.
७ उद्योग, १४७.२२-२४.

प्रदर्शनों का विस्तृत विवरण मिलता है।[1] प्रजा दुर्योधन के कार्य का विरोध ही नहीं, निन्दा भी करती है। पौर-जन कुरुराज और उसके मंत्रियों को पाण्डवों के बनवास के लिये दोषी ठहराते हैं, और स्पष्ट रूप से दुर्योधन की निन्दा करते हैं।[2] जनता का प्रतिवाद व्यर्थ नहीं जाता था। दुर्योधन भी इससे भयभीत हो उठा।[3] धृतराष्ट्र का कथन बहुत ही मार्मिक तथा यथार्थ है :—'हम पाण्डवों के साथ अन्याय करेंगे, तो प्रजा हमको बन्धुबान्धवों सहित मार डालेगी'।[4] वह विदुर से पूछते हैं कि प्रजा का समर्थन प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिये जिससे वह हमें समूल नष्ट न करदे।[5] धृतराष्ट्र का भय निर्मूल न था। स्वयं कुरुवंश में विचित्रवीर्य तथा परीक्षित-पुत्र जन्मे-जय प्रजा द्वारा अपदस्थ किये गये थे। खनीनेत्र की भी ऐसी ही दशा हुयी थी।

धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने प्रजा को भयभीत करके नहीं वरन् दान-सम्मान से ही स्वपक्ष में लाने की चेष्टा की थी।[6] जनमत के महत्व का उत्कृष्ट उदाहरण हमको आश्रमवासिक पर्व में मिलता है जब धृतराष्ट्र बनगमन से पूर्व प्रजा से क्षमा याचना करते हैं।[7] भीष्म तो यहां तक कहते हैं कि राजा को अपने विश्वस्त चरों द्वारा जनमत का पता लगाते रहना चाहिये —क्या प्रजा उसके व्यवहार की प्रशंसा करती है, प्रजा को उसका यश अच्छा लगता है अथवा नहीं, इत्यादि।[8]

महाभारत में केवल आध्यात्मिकता और नैतिकता की दुहाई देकर संतोष नहीं किया गया है, वरन् राजा की निरंकुशता के दमन के उपाय भी बतलाये गये हैं। भीष्म, वामदेव को उदधृत करते हुए, कहते हैं कि जो राजा धर्म को हानि पहुंचाता है वह बध्य है। स्वेच्छाचारी (कामाचारी विकत्थनः) राजा समस्त पृथ्वी का राज्य पाकर भी नष्ट हो जाता है।[9] उनके अनुसार रक्षा न करने वाला राजा उसी प्रकार त्याज्य है जैसे समुद्र की यात्रा में टूटी हुई नौका।[10] अन्यत्र कहा गया है कि जो राजा

---

१ आदि (गीता), १८०.२३-२९.
२ आरण्य, (गीता), १.१२-१८ (क्रि.) १.१३-१६; २४-१०; आदि, १३३.६-१८
३ आदि, (गीता), १४०.२९-३८; (क्रि०) १८९.९-१८.
४ आदि, १३०.२-७ :— कथं युधिष्ठिरस्यार्थे ननो हन्युः सबान्धवान्।
५ आरण्य, ४.३.
६ आदि, १३०.८-९.
७ आश्रमवासिक (गीता), ८.९.
८ शान्ति, (गीता), ८९.१५-१६; (क्रि०) ९०.१५.
९ शान्ति, ९३. ९-१०.
१० शान्ति, ५७. ४४-४५; ८६. १३-१४.

न उपकार कर सकता है और न अपकार, वह उपेक्षणीय है ।[१] इसी प्रकार अनुशासन पर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि प्रजा की रक्षा न करके धन लूटने वाला राजा, राजा नहीं कलियुग है । प्रजा को चाहिए कि ऐसे निर्दयी राजा को बाँध कर मार डाले । जो राजा प्रजा-रक्षा की प्रतिज्ञा करके उसकी रक्षा नहीं करता वह पागल और रोगी कुत्ते की भाँति बध्य है ।[२] बिदुर भी असंविभागी, दुष्ट, कृतघ्न, तथा सबको भयभीत करने वाले राजा को त्यागने का आदेश देते हैं ।[३] प्रस्तुत प्रसंग में कामन्दक का कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि जब राजा न दुष्टों और दुराचारियों का दमन करता है और न स्वधर्म का पालन, तब प्रजा उद्विग्न हो कर उससे विमुख हो जाती है । ऐसी स्थिति में यदि वह मारा न भी गया, तो भी पद-भ्रष्ट हो, दुखमय जीवन व्यतीत करता है । कामन्दक तो ऐसे राजा के लिये प्रायश्चित विधान भी बतलाते हैं । उसको चाहिये कि अपने पाप को स्वीकार कर, वेदाध्ययन, ब्राह्मण-सेवा, धर्माचरण, तथा सत्पुरुषों का संग करे, और प्रजा से कहे कि 'मैं आपका ही हूं ।'[४]

यद्यपि महाभारत में कतिपय अत्याचारी और अधार्मिक नरेशों का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु वे असाधारण हैं । साधारणतः राजा संवैधानिक होते थे । वे शास्त्र और लोक-धर्म का पालन तथा जनमत का आदर करते थे । उनको निरंकुश अथवा स्वच्छन्द शासक कहना उचित न होगा । जनक और उनकी रानी सुलभा के सम्बाद से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि राजा अपने शासन कार्य में ही नहीं वरन् व्यक्तिगत जीवन में भी परतन्त्र था ।[५]

राजा और प्रजा के सम्बन्ध

अन्य राजनीतिक ग्रन्थों की भाँति महाभारत में भी राजा और प्रजा के बहुत आदर्श सम्बन्ध प्रस्तुत किये गये हैं । यदि एक ओर हम यह पढ़ते हैं कि प्रजा को अपने राजा का सदैव आदर और सम्मान करना चाहिए और उसकी देववत् पूजा करना चाहिए, तो दूसरी ओर हम यह भी पढ़ते हैं कि राजा को अपनी प्रजा का रक्षण, पालन एवं रंजन करना चाहिये । वस्तुतः राजा और प्रजा का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट था । राजा का ऐश्वर्य प्रजा के आश्रित था तो प्रजा की आजीविका राजा के । दोनों

---

१ शान्ति, ६९.१८.
२ अनुशासन, ६०. १९-२०.
३ उद्योग, ३४.२४, ३८.३६.
४ शान्ति, १२३. १९-२२.
५ शान्ति, ३०८.१३७-१४१.

की रक्षा भी एक दूसरे पर आश्रित थी।[1] महाभारत के अनुसार, उनके पारस्परिक सम्बन्ध पिता और पुत्र की भांति होना चाहिए। इतना ही नहीं, राजा और प्रजा एक दूसरे के पुण्य और पाप के भी भागी होते थे। कौटिल्य की भांति यह ग्रन्थ भी दोनों को समान-हित मानता है।[2]

महाभारत में पैतृक आदर्श अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है, और ऐसे राजाओं के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जो अपनी प्रजा के साथ पितृवत् व्यवहार करते थे। भीष्म के अनुसार वही राजा श्रेष्ठ है जिसके राज्य में प्रजा पिता के घर में पुत्र की भांति निर्भय रहती है।[3] उनका स्पष्ट आदेश है कि प्रजा के साथ पुत्र-पौत्रवत् व्यवहार करना चाहिये।[4] इसी प्रकार इन्द्र का कथन है कि 'राजाओं द्वारा पुत्रवत् पालित होकर जगत के समस्त प्राणी निर्भय विचरते हैं'।[5] द्रोपदी भी राजा विराट से कहती है कि राजा को प्रजा और सन्तान में अन्तर न मानना चाहिये[6], और नारद युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं — क्या तुम्हारी प्रजा तुमको पिता से समान मानती है ?[7]

जैसा हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, इस ग्रन्थ में पैतृक आदर्श पालन करने वाले अनेक राजाओं के उदाहरण प्राप्त होते हैं। अविक्षित, रामचन्द्र, व्युषिताश्व, जनक, आदि अपनी प्रजा पर पुत्रवत् स्नेह रखते थे। स्वयं कुरु राष्ट्र की प्रजा धृतराष्ट्र से कहती है कि उनके शासक सदैव पिता और अग्रज के समान उनका पालन करते रहे

---

१ शान्ति, १२८.३०-३१.

२ अनुशासन (गीता, १४५ पृ० ५९४९ :—

प्रजाकार्यं तु तत्कार्यं प्रजा सौख्यं तु तत्सुखम्।
प्रजाप्रियं प्रियं तस्य स्वहितं तु प्रजाहितम्॥
प्रजार्थं तस्य सर्वस्वमात्मार्थं न विधीयते॥

द्रष्टव्य, अर्थशास्त्र. १.१९.

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञा प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

३ शान्ति, ५७.३३.

४ शान्ति, ६९.२६ :—

यथा पुत्रास्तथा पौरा द्रष्टव्यास्ते न संशयः।
भक्तिश्चैषां प्रकर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते॥

५ शान्ति, ६४.२९.

६ विराट (गीता), १६.२१-२२ के मध्य में :

स्व प्रजायां प्रजायां च विशेषं नाधिगच्छताम्।

७ सभा, ५.४६.

हैं। वे दुर्योधन को भी पिता तुल्य मानते थे।[१] युधिष्ठिर के विषय में उल्लिखित है कि जैसे पिता का अपने पुत्र पर वात्सल्य होता है उसी प्रकार उन्होंने अपनी प्रजा के प्रति आन्तरिक स्नेह का परिचय दिया था, और प्रजा भी उन पर वैसी ही अनुरक्त थी जैसा पुत्र अपने पिता पर।[२]

राजा प्रजा के पारस्पारिक सम्बन्ध के प्रसंग में पिता-पुत्र की ही नहीं, गर्भिणी स्त्री की भी उपमा दी गयी है। भीष्म के अनुसार राजा को प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री जैसा वर्ताव करना चाहिए। गर्भवती स्त्री अपनी रुचि का ध्यान न रख कर केवल गर्भस्थ बालक के ही हित का ध्यान रखती है। उसी प्रकार राजा को भी प्रजा के हित-साधन मे संलग्न रहना चाहिए।[३] अन्यत्र यथेष्ट ही उसको प्रजा का गुरू, माता, पिता तथा रक्षक कहा गया है।[४]

वास्तविकता यह थी कि राजा और प्रजा का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ था। यदि प्रजा की भौतिक उन्नति राजा के आश्रित थी तो राजा का वैभव प्रजा पर अवलम्बित था। युधिष्ठिर के अनुसार प्रजा अपनी आजीविका के हेतु उसी प्रकार राजा के आश्रित रहती है जैसे सब प्राणी मेघ के, अथवा पक्षी वृक्ष के। जैसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी से रस ग्रहण कर वर्षा के रूप में उसे लौटा देता है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से धन लेकर उसी का हित साधन करना चाहिए।[५] उपर्युक्त उद्धरण एक ऐसे तथ्य का प्रतिपादन करते हैं जो सर्वमान्य है, अर्थात राजा से रक्षित होकर ही प्रजा भौतिक उन्नति कर सकती है, और प्रजा की उन्नति में ही राजा की उन्नति निहित है।[६]

राजा और प्रजा भौतिक उन्नति के लिए ही एक दूसरे पर आश्रित न थे वरन् अपनी रक्षा के लिए भी। हम ऊपर लिख चुके हैं कि प्रजा का धर्म रक्षणीयता और राजा का धर्म रक्षण था, परन्तु राजा की रक्षा भी प्रजा के आश्रित थी। भीष्म के अनुसार आपत्ति काल में राजा और प्रजा दोनों को एक दूसरे की रक्षा करना चाहिए।

---

१ आश्रमवासिक (गीता). १०.१६; २१-२२.
२ आरण्य, २४.७, तथा सभा, १२.८ एवम् विराट (गीता), ७०.२४.
३ शान्ति, ५६.४४-४६.
४ शान्ति, १३७.९९.
५ अनुशासन, ६०.२४-२५; शान्ति, ७६.१३.
६ शान्ति, ७२.१९.

यही सनातन धर्म है। जैसे राजा संकटग्रस्त प्रजा की रक्षा करता है उसी प्रकार राजा के ऊपर संकट पड़ने पर प्रजा को उसकी रक्षा करना चाहिए।[1] इसीलिए भीष्म युधिष्ठिर को आदेश देते हैं कि राजा को केवल ऐसे कार्य करना चाहिये जिनसे दोनों ही का हित साधन हो।[2] जब राजा प्रजा के साथ यथोचित व्यवहार करता है तब लोक-मर्यादा सुरक्षित रहती है। राजा के अधर्म-परायण होने से प्रजा की अवनति होती है।[3] बृहस्पति कोशल नरेश वसुमना से कहते हैं कि राजा प्रजा का प्रथम अथवा प्रधान शरीर है। राजा के बिना न देश रह सकता है और न देश के निवासी।[4] इसीलिए तो कहा गया है राजा प्रजा का गुरु हृदय, गति, प्रतिष्ठा और उत्तम सुख है।[5]

भौतिक उन्नति तथा रक्षण के अतिरिक्त राजा और प्रजा पाप-पुण्य में भी एक दूसरे के समभागी थ। प्रजा द्वारा किये गये पुण्य अथवा पाप-कर्म का चथुर्थांश अथवा अर्धांश राजा को प्राप्त होता था।[6] इसी भांति राजा के शुभ कर्मों का फल प्रजा को प्राप्त होता था।[7] शान्ति पर्व में हम पढ़ते हैं कि प्रजा के उत्तम धर्माचरण से राजा पाप मुक्त और उसके अधर्माचरण से पुण्य-क्षीण होता है। जब राज्य में पापी प्रकट रूप से निर्भय विचरण करते हैं तब यही समझा जाता है कि वहां के राजा को कलियुग ने घेर लिया है।[8] शान्ति पर्व में यथेष्ठ ही कहा गया है कि जैसा राजा का शील-स्वभाव होता है वैसा ही प्रजा का। वह प्रजा को भी कल्याण का भागी बना देता है।[9]

हमारे ग्रन्थ में यह आदेश अनेकशः प्राप्त होता है कि राजा को प्रजा का विश्वास और अनुराग प्राप्त करना चाहिए।[10] धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से कहते हैं कि राजा को प्रजा का प्रिय-पात्र बनना चाहिए।[11] अन्यत्र प्रजा को प्रिय समझने वाला शासक ही श्रेष्ठ

---

१ शान्ति, १२८.३०-३१.
२ शान्ति, ८९.३.
३ आरण्य, १४९.३९; १९८.३५-३६.
४ शान्ति, (गीता), ६८.५८-५९ के मध्य :
राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा देशै विहीना न नृपाभवन्ति॥
५ शान्ति, ६८.५९.
६ अनुशासन, ६०.२१-२३; उद्योग, १३०.११.
७ शान्ति, ७०.३०.
८ शान्ति, ९२.२६-२७.
९ शान्ति, २७६.५६.
१० यथा, शान्ति, १२०.२३.
११ आश्रमवासिक (गीता), ७.२२.

माना गया है।[१] इस तथ्य की पुष्टि अनेक उदाहरणों से होती है। प्रजा-अनुराग के अभाव में खनीनेत्र अपने निष्कन्टक राज्य की रक्षा न कर सका, परन्तु उसका पुत्र सुवर्चा प्रजा अनुराग के कारण अपने समस्त शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ हुआ।[२] इस प्रसंग में धृतराष्ट्र का कथन और भी महत्वपूर्ण है। वह प्रजाजन को सम्बोधित कर कहते हैं, 'आप और कुरुवंशी राजा सदैव ही एक दूसरे के हित-साधन में तत्पर रहे हैं। पान्डु आप के प्रिय पात्र थे और मैंने भी यथाशक्ति आप लोगों की सेवा की है'।[३] उपस्थित जनता का यही उत्तर था कि कुरुवंश में कोई भी राजा प्रजा का अप्रिय न था, और यह आशा व्यक्त की कि युधिष्ठिर भी उन्हीं का अनुसरण करेंगे।[४] साथ ही यह विश्वास दिलाया कि पौर-जानपद भी उनके प्रेम की अवहेलना न करेंगे। आदि पर्व में भी उल्लिखित है कि युधिष्ठिर के प्रति प्रजा में अनन्य श्रद्धा तथा भक्ति थी, क्योंकि वह ऐसे ही कार्य करते थे जो प्रजा को प्रिय थे।[५] उसी पर्व में जनमेजय भी कहते हैं कि उनके कुल में एक भी शासक ऐसा न था जो प्रजा का प्रिय-पात्र न रहा हो।[६] अन्यत्र कहा गया है कि जो राजा पौर-जानपद का सम्मान करता है वह दोनो लोकों में सुख प्राप्त करता है, और ऐसे शासक के प्रति मिथ्या भाव प्रदर्शित करने वाला व्यक्ति पशु-पक्षी की योनि में जन्म लेता है।[७] प्रजा का विश्वास एवम् अनुराग प्राप्त राजा न कभी श्री-भ्रष्ट होता है और न शत्रुओं से पराजित।[८] उसकी शक्ति प्रबल हो जाती है और वह दुर्धर्ष हो जाता है।[९] इसके विपरीत प्रजा अनुराग हीन राजा क्षीण-शक्ति हो जाता है।[१०] प्रत्येक राजा की यही आकांक्षा होती थी कि प्रजा उसमें अनुरक्त हो। युधिष्ठिर ने भीष्म से यही प्रश्न किया था कि राजा कैसे प्रजा का प्रेम प्राप्त कर सकता है।

राजा अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन और रंजन तो करता ही था, धर्म-विरुद्ध आचरण करने वालों को दण्ड भी देता था। यदि वह ऐसे व्यक्तियों को दण्ड द्वारा वशीभूत नहीं करता है तो प्रजा उद्विग्न हो जाती है और राजा का परित्याग कर देती है।[११]

---

१ शान्ति, १२०.२३.
२ आश्वमेधिक (गीता), ४.८; ११-१५.
३ आश्रमवासिक (गीता), ८.१५; ९.२.
४ आश्रमवासिक (गीता), १०.१५-१६; ४४-४५.
५ आदि (गीता), २८१.९-१०.
६ आदि, ४५.१७.
७ शान्ति, १३७.१००.
८ शान्ति, १३७.१०३-४; ९५.३; ५७.२८.
९ शान्ति, ६७.३७.
१० शान्ति, १३७.१०५.
११ शान्ति, १२३.१६-१८; आरण्य, ११८.२८.

प्रजा को सन्मार्ग-गामी और स्वधर्म पालक बनाना भी राजा का कर्तव्य था।[१] उद्योग पर्व में तो यह भी आदेश दिया गया है कि राजा का प्रजाजनों के गुण-दोषों का अन्वीक्षण करने के लिए किसी धर्मनिष्ठ पुरुष को नियुक्त करना चाहिए, और इसका पता लगाना चाहिए कि उसके राज्य में कोई पाप तो नहीं हो रहा है।[२]

महाभारत में राजा को यही आदेश दिया गया है कि वह अपयी प्रजा के साथ उत्तम और उदार व्यवहार करे। ऐसा करने से वह स्वर्गलोक का भागी होता है और इसके विपरीत आचरण करने से नरक का।[३] नारद के युधिष्ठिर से यह दो प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हैं —'क्या तुम अपनी प्रजा के साथ धर्मार्थ-युक्त उत्तम एवम् उदार व्यवहार करते हो ? क्या समस्त प्रजा तुम्हें समदर्शी मानती है'?[४] स्पष्टतः जब निग्रह और अनुग्रह द्वारा राजा प्रजा के साथ यथोचित व्यवहार करता है तभी लोक-मर्यादा सुरक्षित रहती है,[५] और तभी शासन सूत्र का सफल संचालन हो सकता है।

महाभारत में एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है —राजा प्रजा का वेतन-ग्राही सेवक है।[६] कोषशीर्षिक अध्याय में हम देखेंगे कि राजा प्रजा से जो कर ग्रहण करता है वह उसका वेतन है। शान्ति पर्व का यह कथन इस मत का स्पष्टत :समर्थन करता है। आश्रमवासिक पर्व से भी इसकी पुष्टि होती है।[७] धृतराष्ट्र अपनी प्रजा से विदा लेते समय कहते हैं कि 'मैंने आप लोगों की यथाशक्ति सुश्रूषा की है'। सुश्रूषा शब्द से भी प्रतीत होता है कि राजा प्रजा का सेवक था। महाभारत ही नहीं यह सिद्धान्त बौधायन के धर्मसूत्र एवम् शुक्रनीति में भी प्रतिपादित किया गया है।[८]

---

१ उद्योग, २९.२५; शान्ति ६०.१९; १२०.१८-२०.
२ उद्योग, २१.२६.
३ विराट (गीता), १६.२१,२२ के मध्य.
४ सभा, ५.८;४६.
५ आरण्य, १४९.३९.
६ शान्ति, ७१.१०; १३७.९६.
७ आश्रमवासिक, ८.३.
८ बौधायन धर्मसूत्र १.१०.१.

७
अमात्य

महत्व

भारत के प्राचीन राजशास्त्रप्रणेता निरंकुश शासन के सवर्था विरूद्ध थे। अतएव उन्होने अमात्य को राज्य की सप्त-प्रकृतियों में द्वितीय स्थान प्रदान किया है। सभी आचार्य मंत्रि-पद के महत्व को स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, मनु का कथन है कि साधारण से साधारण कार्य भी कोई व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता फिर राजकार्य, जो बहुत ही गुरुतर है, बिना दूसरों की सहायता के कैसे सम्पन्न किया जा सकता है।[1] कौटिल्य भी राजा और मंत्री की तुलना रथ के दो पहियों से करते हुए कहते हैं कि राजत्व सहायकों की सहायता से संभव है, अकेले एक पहिये से रथ नहीं चल सकता।[2] शुक्र और भी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि राजा कितना ही योग्य और विद्वान क्यों न हो, उसे राजकीय कार्य बिना मंत्रियों की सहायता के न करना चाहिए। अन्यथा, वह राज्य को तो विपत्ति में डाल ही देगा, स्वंय भी विनाश की ओर अग्रसरित होगा।[3] सोमदेव का भी ऐसा ही कथन है। 'जो राजा अपने मंत्रियों की अवहेलना करेगा वह अपने शत्रुओं से पराभूत होगा'।[4]

इसी भांति महाभारत में भी मंत्रियों के महत्व को अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है। शान्ति पर्व में कालकवृक्षीय मुनि विदेहराज जनक से कहते हैं कि बिना मंत्री की सहायता के राजा तीन दिन भी राज्य का संचालन नहीं कर सकता 'न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपित्र्यहं'।[5] उसी पर्व में अन्यत्र कहा गया है :—

---

१ मनु, ७.५५.
२ अर्थशास्त्र, १.७.
३ शुक्रनीति, २.२-४.
४ नीतिवाक्यामृत, १०.
५ शान्ति, १०७.११ (पाठान्तर, शास्तुममित्रहन्)।

यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरूषेणासहायेन किमु राज्यं पितामह ।।[1]

एक स्थल पर बिदुर दुर्योधन से कहते हैं, 'तुम्हारे माता-पिता मित्र और अमात्यों के मारे जाने से पंख कटे हुए पक्षी की भांति हो जायंगे'।[2] यह सभी उद्धरण मंत्रियों के महत्व को सिद्ध करते हैं। भीष्म तो यहां तक कहते हैं कि सहायकों के बिना किसी भी अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती, यदि अर्थ की प्राप्ति हो भी गयी तो उसकी रक्षा असंभव हो जाती है।[3] शान्ति पर्व में एक स्थल पर कुल, बाहु, धन, अमात्य, तथा बुद्धि राजा के प्राकृतिक बल कहे गये हैं।[4] सुसहाययुक्त राजा ही सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन कर सकता है।[5] इसकी पुष्टि दुर्योधन के इस कथन से होती है, 'असहायोहिकोराजा राज्यमिच्छेत् प्रशासितुम्'।[6] मनुष्य ही नहीं पशुराज शार्दूल को भी मंत्री की आवश्यकता हुई थी महाभारत के रचयिता ने एक श्रृगाल के मुख से भी 'न शक्यमनमात्येन महत्वमनुशासितुम्' जैसे शब्द कहलाये हैं।[7]

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुरूप ही मंत्री को राज्य का स्तम्भ कहा गया है।[8] मत्स्य पुराण के अनुसार मंत्री ही राज्य को स्थैर्य तथा दृढ़ता प्रदान करते हैं।[9] अन्य लेखकों ने भी मंत्री की तुलना राजा के नेत्र, भुजा जिह्वा, कर्ण, तथा हृदय से की है।[10] कौटिल्य ने इस प्रसंग में अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के मतों का उल्लेख किया है, और उनकी आलोचना भी। भारद्वाज के अनुसार मंत्रियों के अभाव में राजकाज भली भांति सम्पादित नहीं किया जा सकता। बिना मंत्री के राजा अपनी धर्मशीलता खो देता है। यही नहीं राजा का जीवन भी संकट में पड़ जाता है। कौटिल्य भी स्वीकार करते हैं

---

१ शान्ति, ८१.१.
२ उद्योग, १२३.२०.
३ शान्ति, ११३.१४.
४ शान्ति, १२१.४२—कुलबाहुधनामात्याः प्रज्ञा चोक्ता बलानि च।
५ शान्ति. ११३.२०.
६ शल्य, ३०.४५.
७ शान्ति, ११२.२२.
८ पंचतंत्र, १ १२६.
९ मत्स्य, २१५.२.
द्रष्टव्य, शान्ति, ८४.४५ : मंत्रिणो मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते।
१० यथा, अर्थशास्त्र, १.१५; शुक्रनीति, २.१२-१३; नीतिसार, १८.२८.

कि राजा के समस्त कार्यों का भार मंत्रियों पर ही रहता है ।[१] इसी कारण से मंत्रियों पर शत्रु का विशेष लक्ष्य रहता था ।[२]

उपाधि

प्राचीन भारत के राजनीतिक ग्रंथ तथा अभिलेख आंग्लभाषा के 'मिनिस्टर' शब्द के स्थान पर तीन शब्दों का प्रयोग करते हैं –अमात्य, सचिव और मंत्री। साधारणतया, यह तीनों ही शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं । परन्तु कभी कभी वह एक दूसरे से भिन्न भी माने गये हैं । उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में सचिव और अमात्य एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं ।[३] राजनीतिप्रकाश में भी मंत्री और अमात्य पर्यायवाची माने गये हैं ।[४] रामायण से भी ऐसा ही आभास मिलता है । इस ग्रन्थ में सुमंत्र को कभी मंत्री कहा गया है तो कभी अमात्य ।[५] कतिपय प्राचीन अभिलेखों से भी इसी मत की पुष्टि होती है ।[६]

इसके विपरीत अमरकोष का साक्ष्य है, जिसमें अमात्य को दो वर्गों में विभक्त किया गया है —(१) धी सचिव और (२) कर्म सचिव । इनमें केवल धी सचिव ही मंत्रिपद के अधिकारी थे ।[७] इसी भांति अन्य ग्रन्थों में भी अमात्य और मंत्री में भिन्नता देखी जाती है ।[८] शुक्र के अनुसार सचिव तथा अमात्य क्रमशः सेना तथा राजस्व विभाग के अध्यक्ष थे और मंत्री का कार्य था राजा को मंत्रणा देना ।[९] कौटिल्य ने भी अमात्य और मंत्री के लिए भिन्न भिन्न योग्यतायें निर्धारित की हैं । एक उपधा परीक्षा में सफल व्यक्ति केवल अमात्य पद पर नियुक्त किया जा सकता था, परन्तु मंत्री पद पर वही व्यक्ति नियुक्त किया जा सकता था जो चारों उपधा परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो ।[१०] सोमदेव ने भी नीतिवाक्यामृत में मंत्री और अमात्य के गुणों एवं कर्तव्यों की विवेचना पृथक् २ समुद्देशों में की है ।

---

१ अर्थशास्त्र, ८.१.
२ आश्रमवासिक (गीता), ६.३-४. भीष्म के अनुसार भी शत्रु के अमात्यों में परस्पर भेद उत्पन्न करा देना चाहिये; शान्ति, ६९.२२.
३ मनु, ७.५४; ६०.
४ राजनीति प्रकाश, पृ० १७८.
५ रामायण, १.७-३; १.८-४.
६ *E. I.*, I, p. २००, इत्यादि.
७ अमरकोष, अध्याय २, क्षत्रियवर्ग.
८ यथा, रामायण, २.११२.१७; अर्थशास्त्र, १.८.
९ शुक्रनीति, २.९४-१०६.
१० अर्थशास्त्र, १.१०.

महाभारत में मंत्री, सचिव, तथा अमात्य तीनों ही उपाधियों का उल्लेख प्राप्त होता है। किसी किसी स्थान पर इनमें से दो या दो से अधिक उपाधियों का एक साथ उल्लेख किया गया है जिसके आधार पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि ये उपाधियां पृथक २ थी। इसके विपरीत ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि यह तीनों ही शब्द पर्यायवाची थे। आदि पर्व में सचिव और मंत्री समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[1] राजा संवरण के मंत्री को सचिव तथा अमात्य दोनों ही उपाधियों से सम्बोधित किया गया है।[2] इसी प्रकार लोमपाद के मंत्रियों को सचिव तथा अमात्य; राजा सोमक के मंत्रियों को अमात्य तथा मंत्री ; और अयोध्या-ननेश राजा दशरथ के मंत्रियों को सचिव तथा मंत्री कहा गया है।[3] इसी पर्व में रावण के मंत्री शुक्र और सारण को अमात्य भी कहा गया है और मंत्री भी।[4] शुक्र के अनुसार तो मंत्रणा देना केवल मंत्रियों का कार्य था, परन्तु महाभारत में हम राजा को अमात्यों तथा सचिवों के साथ भी मंत्रणा करते हुए पाते हैं।[5] उपर्युक्त साक्ष्य से ऐसा आभास मिलता है कि यह तीनों ही शब्द पर्यायवाची थे।

संख्या

मंत्रियों की संख्या के प्रश्न पर प्राचीन ग्रन्थों में बड़ी मत-भिन्नता है। कामन्द-कीय नीतिसार के अनुसार मनु, बृहस्पति और उशना के अनुयायी क्रमशः बारह, सोलह और बीस मंत्रियों के पक्ष में थे। उनके बिपरीत अन्य आचार्य पांच, सात या अधिक सदस्यों वाले मंत्रिमंडल के समर्थक थे। एक तृतीय दृष्टिकोण और था, जिसके अनुसार मंत्रियों की संख्या राज्य की आवश्यकता तथा सामर्थ्य के अनुरूप होना चाहिए। यह मत निश्चय ही कामन्दक के गुरू कौटिल्य का है।[6] मध्यकालीन राजशास्त्र-प्रणेता सोमदेव सूरी के मतानुसार मंत्रि-मण्डल न बहुत बड़ा होना चाहिए और न बहुत छोटा। वह तीन, पांच अथवा सात सदस्यों वाले मन्त्रि-मण्डल के समर्थक हैं।[7] इस विषम संख्या के वह इसलिए पक्षपाती हैं कि यह बहुमत से निर्णय करने में सहायक होती है।

---

१ आदि (गीता), ४३.३२-३४.
२ आदि, १६२.३-६.
३ आरण्य, ५७.४-५; ११०.२८-२९; १२७.८-११; २६१.७-८.
४ आरण्य, २६६.५०-५१.
५ आरण्य, १२७.८; ११०.२८. इस पद में सचिव को 'मंत्र-कोविद' कहा गया है।
६ नीतिसार, १२.४८-४९.
७ नीतिवाकयामृत, १०.६६-७४.

स्मृतिकारों में मनु, सात या आठ संख्या वाले मंत्रि-मडल के पक्षपाती हैं।[१] रामायण, मानसोल्लास तथा शुक्रनीति में भी ऐसा ही मत प्रतिपादित किया गया है।[२]

महाभारत के अनुसार राजकार्य विधि पूर्वक संचालन करने के लिए मंत्रियों से मंत्रणा करना आवश्यक था, परन्तु एक ही व्यक्ति में उन समस्त गुणों का होना असंभव था जो मंत्रणा के लिए आवश्यक थे। भीष्म के अनुसार राजा को अनेक विशेषज्ञों से परामर्श करने की आवश्यकता होती है[३], अतः उसके मंत्रियों की संख्या बहुत स्वल्प न होनी चाहिए।

इस ग्रन्थ में संख्या के विषय में भिन्न भिन्न विचार प्रतिपादित किये गए हैं। भीष्म युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं कि मंत्रियों की संख्या सैंतिस होनी चाहिए—चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र तथा एक सूत।[४] इस कथन से स्पष्ट है कि भीष्म छोटे मंत्रिमण्डल के पक्ष में न थे। यह संख्या सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल की हो सकती है। किन्तु इसके अन्तर्गत एक छोटा मंत्रिमण्डल भी होता था, जिसकी तुलना हम आधुनिक युग की 'केबिनेट' से कर सकते हैं। इस मण्डल के सदस्यों की संख्या साधारणतया आठ होती थी। इसकी पुष्टि हमें शान्ति पर्व के इस कथन से होती है—"अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्र राजोपधारयेत्'।[५] एक अन्य स्थल पर पांच मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने का भी उल्लेख है।[६] भीष्म के अनुसार मंत्रियों की संख्या कम से कम तीन होनी चाहिए।[७] 'राजा तीन मंत्रियों का पृथक्-पृथक् मत जान कर उस पर मनोयोग पूर्वक विचार करें'।[८] डा० श्याम लाल पाण्डे के अनुसार यह तीन मंत्री परम-अन्तरंग समिति के सदस्य होते थे।[९] परन्तु उनका यह मत समुचित नहीं प्रतीत होता। भीष्म के कथन का अभिप्राय यही है कि राजा कम से कम तीन मंत्रियों से अवश्य मंत्रणा करे।

---

१ मनु, ७ ५४.
२ रामायण, १.७-२-३; मानसोल्लास, २.२.५७.
३ शान्ति, ८६.५-६.
४ शान्ति (गीता), ८५.७-११. शान्ति (क्रि०), ८६.७-८, में केवल ४ ब्राह्मण, ३ शूद्र तथा १ सूत मंत्री का उल्लेख है।
५ शान्ति, ८६.१०.
६ अनुशासन (गीता), १४५, पृ०५९४९.
७ शान्ति, ८४.४४.
८ शान्ति, ८४.५० : तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं बुद्धयेत चित्तं विनिवेश्य तत्र।
९ भीष्म का राजधर्म, पृ० ७२-७३.

इन उद्धरणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाभारत-युग में राजा को सहायता देने के लिए एक विस्तृत मंत्रिमण्डल होता था जिसकी संख्या सैंतिस होती थी। परन्तु उन सब मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने में मंत्रभेद का भय था। अतः मंत्र-संवरण के अभिप्राय से राजा उनमें से कुछ मंत्रियों के साथ ही मंत्रणा करता था। इस मंत्रणा-समिति के सदस्यों की संख्या कम से कम तीन और अधिक से अधिक आठ होती थी। पाँच मंत्रियों के साथ भी मंत्रणा करने का उल्लेख मिलता है।

इसी भाँति वाल्मीकि और कौटिल्य भी राजा को तीन या चार मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने का आदेश देते हैं।[1] अर्थशास्त्र में एक स्थल पर राजा को यह आदेश दिया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर वह मंत्री तथा मंत्रि-परिषद के साथ मंत्रणा करे।[2] इस कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में दो प्रकार के मंत्री होते थे—(१) जो मंत्रि-परिषद (अन्तरंग परिषद) के सदस्य होते थे, और (२) जो उसके सदस्य न होते थे। महाभारत से भी 'कैबिनेट' प्रथा का आस्तित्व प्रमाणित होता है।

महाभारत के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी आठ मंत्रियों का उल्लेख है। प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक में राजा 'मोह' के अष्टामात्यों का उल्लेख है।[3] मध्यकाल में शिवाजी ने आठ मंत्रियों का मंत्रिमण्डल बनाया जिन्हें अष्टप्रधान कहा जाता था। शुक्रनीति में तो आठ मंत्रियों की उपाधियों का भी उल्लेख है। यह उपाधियाँ इस प्रकार हैं: प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मंत्री, पंडित प्राड्विवाक, अमात्य, तथा सुमंत्र।[4] कुछ आचार्य दूत और पुरोहित को भी मंत्रि-मण्डल का सदस्य मानते हैं। महाभारत में सचिव, अमात्य तथा मंत्री के अतिरिक्त दूत और पुरोहित का भी उल्लेख किया गया है, परन्तु वे मंत्रिमण्डल के सदस्य होते थे अथवा नहीं, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

गुण

शासन व्यवस्था में मंत्रियों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। अतः इनकी नियुक्ति में बहुत सावधानी से काम लेना पड़ता था। इस पद पर वही व्यक्ति नियुक्त किया

---

१ रामायण, २. १००. ७१; अर्थशास्त्र, १. १५.
२ अर्थशास्त्र, १. १५.
३ प्रबोध चन्द्रोदय (त्रिवेन्द्रम), १, पृ० २३.
४ शुक्रनीति, २. ७१.

जाता था जिसमें अपेक्षित गुण विद्यमान हों। कौटिल्य ने मंत्रियों की नियुक्ति के संबंध में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की विवेचना की है। भारद्वाज के अनुसार राजा को अपने सहपाठियों में से मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिये, क्योंकि वह उनके आचरण तथा गुणों से भली-भाँति परिचित रहता है। इसके विपरीत, विशालाक्ष के अनुसार मंत्रि-पद पर उन्हीं व्यक्तियों की नियुक्ति करनी चाहिए जिनके गुप्त रहस्य राजा जानता हो, क्योंकि उनके प्रकट होने के भय से वे राजा के विरुद्ध आचरण नहीं करेंगे। इसी भाँति पराशर स्वाभि भक्ति, पिशुन योग्यता, कोणपदन्त, अन्वय-प्राप्त, वातव्याधि नीति कुशल, बाहुदन्त अभिजात कुल, बुद्धि, शौच, शौर्य तथा शासन कार्य में दक्ष व्यक्ति को महत्व देते हैं। कौटिल्य भी इन्हीं गुणों के समर्थक हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ में मंत्रियों में अपेक्षित गुणों का सविस्तार वर्णन किया है, और उन गुणों की परीक्षा विधि का भी उल्लेख किया है।[१]

मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, बृहस्पति आदि स्मृतिकारों ने भी इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर अपने अपने विचार व्यक्त किये हैं।[२] परन्तु उनकी विवेचना कौटिल्य जैसी विस्तृत नहीं है। वाल्मीकि, कामन्दक, शुक्र, सोमेश्वर, सोमदेव तथा पुराणकारों ने भी मंत्रियों के गुणों पर प्रकाश डाला है। उन सबके कथन का सारांश यहीं है कि मंत्री राज्य का नागरिक, कुलीन, समस्त विद्याओं में पारंगत, बुद्धिमान, उत्साह-सम्पन्न, वाग्मी, शूरवीर शुचि-युक्त, तथा स्वामिभक्त एवम् क्रोध, मद-मान, अस्थिरता आदि दोषों से विमुक्त हो।[३] यह गुण आदर्श मात्र नहीं वरन् वास्तविक थे, इनकी पुष्टि प्राचीन अभिलेखों से होती है।

महाभारत में भी हमें मंत्रियों के गुणों की बहुत बड़ी तालिका प्राप्त होती है। भीष्म के अनुसार सचिव को कुलीन, सुशिक्षित, विद्वान, ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, सब शास्त्रों के तत्व का ज्ञाता, सहन-शील, अपने देश का नागरिक, कृतज्ञ, बलवान, क्षमाशील, मन को दमन करने वाला, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, संतोषी, आलस्य रहित, और स्वामी तथा मित्रों का हितैषी, देश-काल का ज्ञाता, सन्धि-विग्रह कोविद, राजा के धर्म, अर्थ और काम की उन्नति चाहने वाला, व्यूह-निर्माण कुशल, अपनी सेना का उत्साह बढ़ाने वाला,

---

१ अर्थशास्त्र, १. ८-९.

२ देखिए, मनु, ७. ५४; याज्ञवल्क्य, १.३१२; विष्णु, ३. ७१; बृहस्पति, १. १७१.

३ द्रष्टव्य, रामायण, १. ७. ७-१४; २. १००. ४; नीतिसार, ४. २४-३०; ३२-३९; शुक्रनीति २. ५२-६४; मानसोल्लास, २. २. ५२-५९; नीति-वाक्यामृत १०. ५. अग्नि पु०, २४९. ११-१५, इत्याद।

मनोभावों को समझने में चतुर, हस्ति-शिक्षा का ज्ञाता, अहंकार रहित, निर्भीक, उदार, स्वयं शुद्ध तथा शुद्ध पुरुषों से युक्त, प्रसन्न-मुख, प्रिय दर्शन, नीतिकुशल, श्रेष्ठ गुण और उत्तम चेष्टाओं से युक्त, उदण्डता रहित, विनयशील, स्नेही, मृदु-भाषी, धीर, शूर-वीर तथा महान ऐश्वर्य सम्पन्न होना चाहिए।[१] 'जो राजा ऐसे योग्य पुरूष को सचिव पद पर नियुक्त करता है उसका राज्यचन्द्रमा की चाँदनी की भाँति चारों ओर फैल जाता है।[२]

शान्ति पर्व में ही अन्यत्र कहा गया है कि सचिव रूप, वर्ण, स्वर-युक्त, क्षमाशील, कुलीन, शील-सम्पन्न, मेधावी, स्मृतिवान् दक्ष, तथा अपमानित होने पर भी राजा के प्रति द्वेषभाव न रखने वाला होना चाहिए। सुसचिव कीर्ति को प्रधानता देता है, मर्यादा के भीतर स्थित रहता है और लोभ, मोह, काम, क्रोध, के वशीभूत होकर कभी भी धर्म का परित्याग नहीं करता। वह अपने कार्य में दक्ष तथा पर्याप्त बचन होता है।[३]

इस ग्रन्थ में हमें अमात्य के आवश्यक गुणों का भी विवरण प्राप्त होता है, जिनका उल्लेख प्राय: अनेक स्थलों पर किया गया है।[४] उसे धर्म-शास्त्र का ज्ञाता, सन्धि-विग्रह के अवसर को सभझने वाला, मतिमान, धृतिमान, ह्रीमान, कुलीन, सत्व-सम्पन्न तथा रहस्य को गुप्त रखने वाला[५] होना चाहिये। शौर्य और बुद्धि भी उसके आवश्यक गुण माने गये हैं। अन्यत्र कहा गया है कि अमात्य को कुलीन, शील-सम्पन्न, सहनशील, शूरवीर, विद्वान तथा प्रत्युत्पन्न-मति होना चाहिए।[६]

मंत्री को कुलीन, शील-सम्पन्न, राजा का हितैषी, देश-काल एवम् इंगितआकार का ज्ञाता होना चाहिए।[७] अन्यत्र कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, धार्मिक, नीतिविद्, सुहृद, सत्यवादी शील-सम्पन्न, लज्जाशील, मृदु, संतुष्ट, सत्पुरुषों द्वारा सम्मानित, सत्यपरायण, शूर-वीर तथा मंत्रविद् व्यक्ति को हीं मंत्रिपद पर नियुक्त करने का आदेश दिया गया है। साथ

---

१ शान्ति, ११८. ७-१४.
२ शान्ति, ११. १५.
३ शान्ति, ८१. २३; २६-२७.
आरण्य, ११०. २८. के अनुसार सचिव को मंत्रकोविद होना चाहिए।
४ शान्ति, ८१.२२-२३.
५ शान्ति, १०७.१२.
६ शान्ति, ८१.२८-२९.
७ अनुशासन (गीता), १४५ पृ० ५९४८-४९; आश्रमवासिक (गीता), ५.१४; सभा ५.३३; शान्ति (गीता), ८३.८-९; शान्ति, ८४.२१-२२.

ही उसे योधा, नयज्ञ, पौर-जानपद-प्रिय, सबके द्वारा सम्मानित तथा अन्य व्यक्तियों को समझा बुझा कर अपने वश में रखने वाला होना चाहिए।[1] अमित्र-सेवी, अस्थिर-संकल्प, कुटिल, अनुभवहीन, अन्य राज्य का निवासी, परनिन्दक, मूर्ख, अश्रुत, काम-क्रोध, मान, लोभ, तन्द्रा, अशुचि तथा ईर्षायुक्त व्यक्ति मंत्रिपद के लिए सर्वथा अयोग्य माने गए हैं।[2]

शान्तिपर्व में एक स्थल पर मंत्रियों के गुणों की आलोचनात्मक विवेचना की गयी है। भीष्म के अनुसार उत्तम कुल में उत्पन्न मंत्री यदि अल्प-श्रुत है तो वह धर्म, अर्थ, काम से संयुक्त होकर भी मंत्र की परीक्षा समुचित रूप से नहीं कर सकता। अकुलीन व्यक्ति बहुश्रुत होते हुए भी कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं रखता। अस्थिर-संकल्प मंत्री आगम-ज्ञान तथा नीति-सम्पन्न होकर भी कार्य को शीघ्र संपन्न नहीं कर सकता। दुर्मति तथा अश्रुत मंत्री का परामर्श युक्ति संगत नहीं होता है। इसी प्रकार जो मंत्री अपने राजा में अनुरक्त नहीं है उसका भी विश्वास न करना चाहिये। वह राजा के गुप्त मंत्र को जान कर उसे उसी प्रकार कष्ट पहुँचाता है जैसे अग्नि वृक्ष को सन्तप्त करती रहती है। अनुरक्त मंत्री ही राजा के प्रिय और अप्रिय व्यवहार को सहन कर सकता है। अनुराग-शून्य मंत्री अप्रिय व्यवहार को सहन नहीं कर सकता। दण्ड-प्राप्त व्यक्ति को भी मंत्रि पद न देना चाहिये।[3]

राज्य के नागरिक, अन्वय-प्राप्त, लोक-प्रिय, चरित्रवान, कुलीन, नीति-शास्त्र तथा धर्म-शास्त्र के ज्ञाता, एवम् सप्त-व्यसन रहित व्यक्ति मंत्रि पद के लिए उपयुक्त होते हैं। राज्य का नागरिक अपने देश के प्रति श्रद्धा रखेगा, विदेशी से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। लोक-प्रिय मंत्री पर प्रजा का विश्वास होने से वह राजा के अनुकूल रहेगी। कुलीन व्यक्ति में शालीनता स्वभावतः विद्यमान रहती है। इसके अतिरिक्त वह शिष्टाचार एवं लोक-व्यवहार कुशल भी होता है। धर्मशास्त्र तथा नीति शास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक था क्योंकि राजनीति के मूल तत्व इन्हीं ग्रन्थों में संग्रहीत हैं। कई स्थलों पर हमें अन्वय-प्राप्त सचिव का भी उल्लेख मिलता है। भीष्म के अनुसार राजा को ऐसे मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिये जिनके कुल में मंत्रि पद परम्परा से चला आ रहा हो। अनेक स्थलों पर भीष्म ने चरित्र पर भी बल दिया है। सुचरित्र व्यक्ति राजा को पथ-विचलित न होने देगा और वह सर्वथा उसका हितैषी रहेगा।[4]

---

१ शान्ति, ८४.३८-४४.
२ ८१.२१-२३; २८; ८४.२१-२२, २३-३६.
३ शान्ति, ८४.२४-३७.
४ शान्ति, ११८.७-११.

शान्ति पर्व में एक स्थल पर वर्ण के अनुसार भी गुणों का उल्लेख किया गया है। ब्राह्मण मंत्री वेद का ज्ञाता, प्रगल्भ, स्नातक तथा शुचि-सम्पन्न, क्षत्रिय मंत्री बलवान तथा शस्त्रधारी, वैश्य मंत्री वृत्त-सम्पन्न, शूद्र मंत्री विनीत, शुचियुक्त और सूत को अष्ट-गुण संयुक्त होना चाहिए।[1] इस कथन से इस विचार धारा की पुष्टि होती है कि महाभारत काल में सभी वर्णों के मंत्री नियुक्त किए जाते थे। संभवतः उनके कार्य भी वर्ण आधार पर निर्धारित रहे होंगे। महाभारत कई स्थलों पर वृद्ध मंत्रियों का उल्लेख करता है। एक स्थान पर कहा गया है कि मंत्री की आयु कम से कम पचास वर्ष की होनी चाहिए।[2] कारण स्पष्ट है। अनुभव-प्राप्त व्यक्ति ही इस पद के भार को वहन कर सकता था।

यद्यपि महाभारत में अमात्य, मंत्री तथा सचिव के गुणों की तालिकायें अलग अलग प्राप्त होती हैं, परन्तु उनमें प्रायः साम्य पाया जाता है। इन तालिकाओं के आधार पर हम यह नहीं निश्चित कर सकते हैं कि मंत्री, अमात्य और सचिव शब्द भिन्न भिन्न पदाधिकारियों के द्योतक हैं। इस ग्रन्थ में राज्य की द्वितीय प्रकृति के लिए जो गुण निर्धारित किए गए हैं वही गुण अन्य आचार्यों ने भी मंत्री के लिए आवश्यक माने हैं।

परीक्षा प्रणाली

मंत्रियों की परीक्षा उपधा प्रणाली द्वारा की जाती थी। कौटिल्य के अनुसार जिस व्यक्ति को अमात्य पद पर नियुक्त करना हो उसे प्रथमतः साधारण पद देकर गुप्त रूप से उसके आचरण तथा गुणों की परीक्षा करे। उपधा चार प्रकार की होती थी: धर्मोपधा, कामोपधा, अर्थोपधा तथा भयोपधा। जो व्यक्ति इन चारो परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता था उसी की नियुक्ति इस पद पर की जाती थी।[3] मनु ने भी मंत्रि-परिषद के सदस्यों के लिए परीक्षा प्रणाली का समर्थन किया है। इस परीक्षा परम्परा की पुष्टि अभिलेखों से भी होती है।

महाभारत के अनुसार बिना परीक्षा लिये किसी व्यक्ति को सचिव पद पर न नियुक्त करना चाहिए। 'न परीक्ष्य महीपाल सचिवं कर्तुमर्हति'।[4] विदुर का भी कथन

---

१ शान्ति, ८६.७-१०, (गीता), ८५.७-११.
२ शान्ति, ८६.८.
३ अर्थशास्त्र, १.१०.
४ शान्ति, ११८.४. पाठान्तर, प्रकर्तुं भृत्यमर्हति.

है कि राजा बिना परीक्षा लिये हुए किसी को अपना सचिव न नियुक्त करे,[१] क्योंकि धन की प्राप्ति और मंत्र की रक्षा का भार उसी पर निर्भर रहता है। भीष्म के अनुसार जिस व्यक्ति की सब अवस्थाओं में परीक्षा ले ली गयी हो उसी को मंत्र-सहाय नियुक्त करना चाहिये।[२] महेश्वर का भी कथन है कि उपधा परीक्षा में उत्तीर्ण व्यक्ति को ही मंत्रिपद प्रदान करना चाहिये।[३] गुण-अवगुणों की परीक्षा करना अमात्य पद के लिए भी आवश्यक था।[४] इस प्रकार अभ्यर्थी की गुप्तरीति से भली भांति परीक्षा लेकर ही उसको मंत्री पद प्रदान किया जाता था। केवल मंत्री ही नहीं, अन्य वरिष्ठ पदाधिकारियों की भी नियुक्ति इसी प्रकार की जाती थी।

अन्वय-प्राप्त साचिव्य

स्मृतियों में अन्वय-प्राप्त मंत्रित्व का उल्लेख मिलता है।[५] कौटिल्य के पूर्वाचार्यों में इस मत के समर्थक तथा विरोधी दोनों ही मिलते हैं। कौणधिपदन्त वंशानुगत मंत्रित्व के प्रबल समर्थक थे। इसके विपरीत बातव्याधि का मत है कि ऐसे व्यक्ति स्वयं राजा के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं, और ऐसा व्यवहार करते हैं मानो वह स्वयं ही राजा हों।[६] बातव्याधि के कथन में कुछ सार अवश्य है किन्तु उत्तर-युगीन लेखक प्राय: वंश-परम्परागत मंत्रित्व का ही समर्थन करते हैं।[७] परन्तु वे यह भी कहते हैं कि पिता के समान गुणवान पुत्र ही इस पद का अधिकारी हो सकता है। राजनीतिप्रकाश में स्पष्ट कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने पिता अथवा पितामह के समान गुण सम्पन्न न हो, वह अन्वय-प्राप्त साचिव्य का अधिकारी नहीं हो सकता।[८] प्राचीन अभिलेखों से भी वंशानुगत मंत्रित्व की पुष्टि होती है।[९]

महाभारत में भी इस प्रश्न की विवेचना की गयी है। भीष्म का मत है कि राजा को ऐसे मंत्रियों की नियुक्ति करना चाहिए जिनके कुल में मंत्रिपद परम्परा से चला आ

---

१ उद्योग, ३८.१८-१९; (गीता) ३८.१९-२०.
२ शान्ति, ८४.१३.
३ अनुशासन (गीता), १४९, पृ० ५९४८.
४ शान्ति, ८४.१६.
५ मनु, ७.५४; याज्ञवल्क्य, १.३१२, इत्यादि.
६ अर्थशास्त्र, १.८.
७ रामायण, २.१००-२६; शुक्रनीति, २.११४; इत्यादि.
८ राजनीतिप्रकाश, पृ० १७६.
९ यथा, चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि अभिलेख.

रहा हो । 'पित्रपैतामहो यः स्यातस मंत्रं श्रोतुमर्हति' ।[१] धृतराष्ट्र युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'जो पितामहों के समय से काम देखते आ रहे हों……ऐसे मंत्रियों को सब तरह के उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यों में नियुक्त करना' ।[२] शान्ति पर्व में एक स्थल पर कई पीढ़ियों से राजकीय सेवा करने वाले को मंत्रिपद देने का आदेश दिया गया है।[३] सभापर्व से भी इस बात की पुष्टि होती है । नारद युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं; 'क्या तुम बाप-दादों के क्रम से चले आये पवित्र आचार-विचार वाले मंत्रियों को श्रेष्ठ कार्यों में लगाये रखते हो' ।[४] परन्तु भीष्म मंत्रियों की योग्यता को भी यथेष्ठ महत्व देते हैं । उनके अनुसार मंत्रि-कुल में यदि कोई गुण-सम्पन्न व्यक्ति न हो तो उसे इस पद पर न प्रतिष्ठित करना चाहिए ।

वर्ण

इस प्रसंग में हमें मंत्रियों के वर्ण के प्रश्न पर भी विचार करना है । मनु, जो ब्राह्म-शक्ति और क्षात्र-शक्ति के समन्वय में दृढ़ विश्वास रखते हैं, राजा को यही उपदेश देते हैं कि वह मंत्री-पद पर, कम से कम मुख्य मंत्री के पद पर, ब्राह्मण की ही नियुक्ति करे ।[५] याज्ञवल्क्य भी इसी मत के समर्थक हैं ।[६] परन्तु स्मृतिकारों का यह मत सर्वमान्य न हो सका । बृहस्पति कहते हैं कि योग्य ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय अथवा वैश्य को मंत्री बनाना चाहिए, किन्तु वह शूद्र की नियुक्ति का विरोध करते हैं ।[७] शुक्र और सोम-देव का भी ऐसा ही विचार है ।[८] प्राचीन अभिलेखों से विदित होता है कि मंत्रित्व किसी वर्ण विशेष तक सीमित न था ।

इस सम्बन्ध में महाभारत के विचार अत्यन्त उदार हैं । शान्तिपर्व के अनुसार विद्वान क्षत्रिय, वैश्य, तथा अनेक शास्त्रों का ज्ञाता ब्राह्मण, भी यदि दण्डनीति में निपुण हो तो मंत्रि-पद के अधिकारी हैं ।[९] इस स्थल पर शूद्र का उल्लेख नहीं किया गया

---

१ शान्ति, ८४.४०.
२ आश्रमवासिक (गीता), ५.१४.
शान्ति (गीता), ८३.३९. से भी अन्वयप्राप्त मंत्रित्व की पुष्टि होती है ।
३ शान्ति, ८३.१७-१८.
४ सभा, ५.३३.
५ मनु, ७.५८-५९.
६ याज्ञवल्कय, १.३१२.
७ बृहस्पति, १.१.७९.
८ शुक्र, २.४१८-४१९; नीति वाक्यामृत, १०.५.
९ शान्ति (गीता), ६९, पृ० ४६०२ :
विद्वांसः क्षत्रिया वैश्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
दण्डनीतौ तु निष्पना मंत्रिणः पृथ्वीपते ।।

है परन्तु अन्यत्र शूद्र मंत्रियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। भीष्म के अनुसार मंत्रि-परिषद में ३७ सदस्य होने चाहिए —४ ब्राह्मण स्नातक, आठ क्षत्रिय, २१ वैश्य, ३ शूद्र तथा एक सूत।[१]

इससे यही विदित होता है कि भीष्म ने मंत्रियों की नियुक्ति चारो वर्णों के प्रतिनिधित्व के आधार पर की थी। परन्तु ब्राह्मण मंत्री का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से कहते हैं: 'राजन् तुम उन्हीं ब्राह्मणों को अपना मंत्री बनाओ जो विद्या में प्रवीण विनयशील, कुलीन, धर्म और अर्थ में कुशल तथा सरल स्वभाव वाले हों'।[२]

मंत्रियों के कार्य

भारतवर्ष में मंत्रियों का इतिहास वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो जाता है। इस युग में मंत्री राजा के निर्वाचन में भी भाग लेते थे। अतः वे राजकृत तथा राष्ट्र-प्रदाता कहे जाते थे।[३] कालान्तर में जब राजपद वंशानुगत, और राजा के ज्येष्ठ पुत्र का उत्तराधिकार सर्वमान्य हो गया, तब मंत्रियों का यह अधिकार जाता रहा। फिर भी उनका मंत्रणा-अधिकार अक्षुण्ण बना रहा। स्मृतियों तथा अन्य राजनैतिक ग्रन्थों के अनुसार राजा को राज्य के समस्त कार्यों के विषय में मंत्रियों के साथ विचार विमर्श करना चाहिए। अन्तिम निर्णय तो राजा का ही होता था, परन्तु साधारणतया कोई भी शासक मंत्रियों की अवहेलना नहीं कर सकता था। कामन्दक यथेष्ठ ही कहते हैं कि जो राजा अपने मंत्रियों की अवहेलना करता है वह शीघ्र ही अपने शत्रुओं से पराभूत होता है।[४]

मंत्रियों का मुख्य कर्तव्य था राजा को मंत्रणा देना। इसके अतिरिक्त वे भिन्न २ प्रशासकीय विभागों के अध्यक्ष के रूप में भी कार्य करते थे।[५] प्राचीन आचार्यों ने दो प्रकार के सचिवों का उल्लेख किया है—(१) मति सचिव तथा (२) कर्म सचिव।[६] परन्तु यह अन्तर कार्य रूप में परणित होता था या नहीं इसमें सन्देह है। आचार्य भारद्वाज मंत्रियों के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख करते हैं —परिषद में मंत्रणा, कार्यों का प्रारम्भ और उनकी पूर्ति, आय-व्यय का निरीक्षण, सैनिकों की नियुक्ति, शत्रु तथा

---

१ शान्ति, (गीता), ८५.६-९.
२ आश्रमवासिक, ५.२०.
३ यथा, तैत्तिरीय ब्राह्मण, १७.३२—एते वैराष्ट्रस्य प्रदातारः।
४ यथा, मनु, ७.५७-५९; याज्ञवल्क्य, १.३१२; नीतिसार, १२.५६.
५ यथा, शुक्रनीति, २.७०-१०६.
६ यथा, रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ अभिलेख.

आटविक जातियों का दमन, राष्ट्र-रक्षा, व्यसनों का प्रतिकार, युवराज की रक्षा तथा उसका अभिषेक।[१] कौटिल्य भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार मंत्री ही सब कार्यों का स्रोत है। जनता के कार्यों का सम्पादन, वाह्य तथा आभ्यान्तरिक शत्रुओं से धन-जन की रक्षा, व्यसनों का प्रतिकार, निर्जन स्थानों को बसाना, सैनिक-नियुक्ति, कर संग्रह, आदि मंत्रियों के ही कार्य हैं।[२] मेगस्थनीज का वृत्तान्त तथा प्राचीन अभिलेख भी ऐसी ही व्यवस्था का परिचय देते हैं। अभिलेखों में यदा-कदा मंत्रियों के नाम के साथ कुछ विशेषण संलग्न मिलते हैं, जो विशेष विभागों से उनका सम्बन्ध व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में हरिषेण को सन्धि-विग्रहिक, कुमारामात्य, तथा महादण्डनायक कहा गया है। इसी प्रकार कुमारगुप्त के करमडांडा अभिलेख में पृथ्वीसेन को मंत्री, कुमारामात्य, तथा महाबलाधिकृत कहा गया है।

स्मृतियों के अनुसार राजा को विदेशी दूत तथा चरों से मंत्रियों की उपस्थिति में ही मिलना चाहिये।[३] मंत्री न्याय कार्य करते थे[४], और सेना का नेतृत्व भी उन्हें सौंपा जाता था।[५] इनका उत्तरदायित्व राजा की अस्वस्थता तथा मृत्यु के पश्चात् बहुत बढ़ जाता था। रिक्त सिंहासन पर युवराज की नियुक्ति और उसकी अल्पवयस्कता में संरक्षक के रूप में शासन करना भी उनका कार्य था। आवश्यकता पड़ने पर मंत्री शासन-सूत्र की बागडोर भी अपने हाथ में ले लेते थे।[६] यही नहीं राजवंश में सिंहासन के उपयुक्त व्यक्ति के अभाव में वे किसी अन्य व्यक्ति को भी शासक बना सकते थे। उदाहरणार्थ, कान्यकुब्ज के मंत्रियों ने हर्ष को मौखरी राज्य का भार ग्रहण करने के लिए आमंत्रित किया था।

महाभारत भी मंत्रियों के कार्यों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि अमात्यों से मंत्रणा करके ही शत्रु के साथ सन्धि करना चाहिये।[७] इसी प्रकार कृष्ण जी दुर्योधन से कहते हैं कि 'आपके पिता अपने अमात्यों

---

१ अर्थशास्त्र, ८.१.
२ अर्थशास्त्र, ८.२३-२४.
३ मनु, ७.१५३-१५४; याज्ञवल्क्य, १.३२८.
४ यथा कात्यायन (वीरमित्रोदय में उक्त) :
स प्राडविवाकः सामात्यः स ब्राह्मणपुरोहितः।
स सभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गेतिष्ठतिधर्मतः।।
५ शुक्र, ४.११६६.
६ मनु, ७. २२६; अर्थशास्त्र, ५.६; शुक्र, २.२६५-६६.
७ शान्ति, ६९.१४.

की राय से पाण्डवों के साथ सन्धि करने के पक्ष में हैं' ।[१] सन्धि ही नहीं, शत्रु पर आक्रमण भी मंत्रियों की राय से किया जाता था। बृहस्पति इन्द्र से कहते हैं कि राजा मंत्रवेत्ता मंत्रियों के साथ कर्तव्य का निश्चय करके ही शत्रु पर प्रहार करे।[२] इसी प्रकार कालकवृक्षीय मुनि कोशल राजकुमार क्षेमदर्शी को आदेश देते हैं कि वह सुमंत्रियों के साथ मंत्रणा करके शत्रुदल में भेद उत्पन्न कराके बेल को बेल से तुड़वाने का प्रयत्न करे।[३] दुर्योधन भी शकुनि तथा कर्ण के साथ मंत्रणा करते हैं कि पाण्डवों को युद्ध में कैसे जीता जाय।[४] अर्जुन की जयद्रथ-बध की प्रतिज्ञा विफल करने के लिए भी वह अपने मंत्रियों के साथ मंत्रणा करता है।[५] सिन्धु-सौवीर नरेश जयद्रथ को तथा कौरवों को अपने अपने शिविर में हम मंत्रियों के साथ युद्ध की प्रगति पर विचार-विमर्श करते हुये पाते हैं।[६]

मंत्री केवल सन्धि और विग्रह पर विचार ही न करते थे, वे युद्ध में भी भाग लेते थे। इसके उदाहरण हमें भीष्म, द्रोण तथा विराट पर्व में मिलते हैं। अभिमन्यु ने कर्ण के छः शूरवीर मंत्रियों को युद्ध भूमि में मार गिराया था। दुर्योधन ने जब विराट देश पर आक्रमण किया तब उसके अमात्य भी युद्ध में उपस्थित थे।[७] यदा-कदा मंत्री युद्ध स्थगित भी करा देते थे। उदाहरणार्थ, जब अर्जुन ने गान्धार देश पर आक्रमण किया था तब वहां की राजमाता ने वृद्ध मंत्री के साथ रण भूमि में जाकर युद्ध स्थगित करा दिया था।[८] विपत्तिग्रस्त राजा को मंत्री विपत्ति से मुक्त कराने का भी प्रयास करते थे। युद्ध में जब दुर्योधन गन्धर्वों द्वारा बन्दी बना लिए गये तब उनके अमात्यों ने पाण्डवों से सहायता लेकर बन्दी कौरवों को मुक्त कराया था।[९] इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि सन्धि और विग्रह में मंत्रियों का प्रमुख हाथ रहता था।

इसी भांति आन्तरिक शासन व्यवस्था में भी उनके अधिकार बहुत विस्तृत थे। उद्योग पर्व में स्पष्ट उल्लिखित है कि अर्थव्यवस्था अमात्य पर ही निर्भर रहती है।[१०]

---

१ उद्योग, १२२.१९.
२ शान्ति, १०४.१३-१४.
३ शान्ति, १०६.१०; दृष्टव्य, उद्योग, २७.२७.
४ भीष्म, ९३.१.
५ द्रोण, ५६.१८-१९.
६ द्रोण, ५३.१०-१२.
७ भीष्म, १७.१३.
८ आश्वमेधिक (गीता), ८४.१९.
९ आरण्य, २३७.४-१५.
१० उद्योग, ३८.१८.

शान्ति पर्व में राजा को आदेश दिया गया है कि वह ग्रामादिक अधिकारियों के कार्य निरीक्षणार्थ धर्मज्ञ तथा आलस्यरहित सचिवों की नियुक्ति करे।[1] कर संग्रह का कार्य भी अमात्य को सौंपा जाता था। शान्तिपर्व के अनुसार आकर, लवण, शुल्क, तर नाग, बन आदि स्थानों पर राजा अमात्यों तथा अन्य आप्त पुरुषों को नियुक्ति करे।[2] अश्रमवासिक पर्व से विदित होता है कि कृषि आदि मंत्री ही के आधीन रहते थे।[3] इनके अतिरिक्त मंत्रियों को कूटनीतिक कार्य, यथा शत्रुवर्ग में भेद उत्पन्न कराना, आदि भी करने पड़ते थे।[4] कभी कभी वह गुप्तचर का भी कार्य करते थे। आरण्य पर्व में रावण के दो अमात्य शुक और सारण वानर-रूप धारण कर राम की सेना में चर कार्य करते हुए देखे जाते हैं।[5] शान्ति पर्व से विदित होता है कि मंत्रियों को न्याय कार्य भी सौंपा जाता था।[6] इसकी पुष्टि कात्यायन स्मृति से भी होती है।[7]

मंत्रियों के कार्य केवल राजनीतिक तथा प्रशासकीय क्षेत्रों तक ही सीमित न थे, वे राजा के धार्मिक तथा व्यक्तिगत कार्यों में भी हाथ बटाते थे। जनमेजय के समर्थ होने पर उनके मंत्रियों ने अपने राजा के लिए काशीराज सुवर्णवर्मा की पुत्री की याचना की थी।[8] राजा नल के मंत्रियों ने अपने राजा के पुत्रों को रक्षार्थ बिदर्भ भेज दिया था।[9]

राजा राज-सभा में सदैव मंत्रियों के साथ ही बैठता था और उनसे विचार विमर्श करके ही वह आवश्यक कार्यों के करने का आदेश देता था। उदाहरणार्थ, अंगराज लोमपाद ने अपने मंत्रियों से सलाह करके ही मुनिकुमार ऋषिश्रंग को आमंत्रित किया था।[10] आश्वमेधिक पर्व से विदित होता है कि स्वयं युधिष्ठिर ने अपने मंत्रियों के साथ राजसूय यज्ञ के प्रश्न पर विचार विमर्श किया था।[11]

---

१ शान्ति, ८८.१०.
२ शान्ति, ६९.२८.
३ आश्रमवासिक (गीता), ६.४-मंत्रिप्रधानाश्च गुणाः षष्टिर्द्वादशचप्रभो ॥
४ आश्रमवासिक (गीता), ६.१६.
५ आरण्य, २६७.५२, तथा शान्ति, ८४.४५.
६ शान्ति, ८५.१५-१६.
७ पूर्वोक्त.
८ आदि, ४०.८.
९ आरण्य, ५७.१९-२०.
१० आरण्य, ११०.२८-२९.
११ आश्वमेधिक (गीता), १०.३७.

इनके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कार्यों पर भी मंत्री पूर्ण अधिकार रखते थे। युवराज की नियुक्ति उनके ही परामर्श से की जाती थी। परीक्षित की मृत्यु के उपरान्त द्विजराज, पुरोहित तथा मंत्री, एवम् समस्त पुरवासियों ने मिल कर उनके शिशु पुत्र जनमेजय को राजपद पर अभिषिक्त किया था।[१] आरण्य पर्व में राजा दशरथ राम का अभिषेक करने के लिए धर्मज्ञ सचिवों से मंत्रणा करते हैं।[२] यही नहीं बनवास से लौटने पर मंत्रियों ने राम का अभिषेक भी किया था।[३] अन्य विषम परिस्थितियों में भी मंत्री अपना उत्तरदायित्व भली भांति निभाते थे। राजा के अस्वस्थ होने अथवा आपदग्रस्त होने पर मंत्री शासन-भार भी अपने हाथ में ले लेते थे। कोशल नरेश भगीरथ ने जब तपस्या करने का निश्चय किया, तब उन्होंने अपना राज्य मंत्री को सौंप दिया था।[४] इसी प्रकार जब राजा संबरण वशिष्ट की आज्ञा से सपत्नीक पर्वत पर विहार करने गये थे तब उन्होंने पुर, राष्ट्र, बन, उपवन, आदि की देखभाल का भार अपने सचिवों पर ही छोड़ा था।[५]

संक्षेपत: महाभारत से यही विदित होता है कि मंत्रियों के कार्य असीमित थे। वे राजा के राजनीतिक, धार्मिक, तथा वैयक्तिक सभी कार्यों में भाग लेते थे। उनका यह योगदान राजा के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण था।

मंत्रणा-प्रणाली

हम ऊपर कह चुके हैं कि मंत्रियों का प्रधान कार्य राजा को मंत्रणा देना था। स्मृतिकार राजा को आदेश देते हैं कि वह प्रत्येक मंत्री के साथ पृथक २ अथवा एक साथ मंत्रणा करे। तत्पश्चात् प्रधान मंत्री के साथ उनके मतों की समीक्षा करे और अन्तत: स्वंय विचार कर किसी निश्चय पर पहुंचे।[६] इस प्रकार अन्तिम निर्णय राजा का ही होता था। यही उचित था, क्योंकि शासन के लिए वही उत्तरदायी था। मनु और याज्ञवल्क्य अन्तिम निर्णय राजा पर ही छोड़ते हैं, परन्तु कौटिल्य बहुमत के पक्ष-पाती हैं।[७] शुक्र के अनुसार यह बहुमत राजा को मान्य होना चाहिये।[८] मंत्रियों को

---

१ आदि, ४०.५-६.
२ आरण्य,२६१.७-८.
३ द्रोण (गीता), ५९.६-७ के मध्य, पृ० ३२५७.
४ आरण्य, १०७.१-३.
५ आदि, १६३.११-२२.
६ मनु, ७.५७-५८.
७ अर्थशास्त्र, १.१५.
८ शुक्र, १.१६४.

अपने विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी, सभी आचार्य इस विषय पर एकमत हैं। कौटिल्य तो अनुपस्थित मंत्रियों के मत को भी पत्र-व्यवहार द्वारा ज्ञात करना आवश्यक मानते हैं।[1] मनु मंत्रिपरिषद की बैठक के समय पर भी प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार मंत्रि-परिषद की बैठक मध्यान्ह अथवा मध्यरात्रि में होना चाहिये, क्योंकि उस समय मंत्री आलास्यरहित होंगे।[2] शुक्र का भी ऐसा ही मत है।[3] अतः यह आवश्यक था कि मंत्रणा समुचित समय पर और सम्यक रीति से की जाय। मंत्रि-परिषद जब कोई निर्णय कर लेती थी तब उसे कार्यान्वित किया जाता था। विवादग्रस्त विषय पर पुनः विचार किया जाता था।

कालिदास के मालविकाग्निमित्र में मंत्रिपरिषद कार्य-प्रणाली का सुन्दर चित्रण मिलता है। परिषद वैदेशिक नीति पर विचार करके अपना निर्णय राजा के पास भेजती है और राजा उस पर अपना मत व्यक्त करता है। तत्पश्चात् परिषद उस पर पुनः विचार करके सर्व सम्मति से स्वीकृत नीति को कार्यान्वित करती है।[4]

मंत्र-गुप्ति

भारत के प्राचीन आचार्यों का मत है कि परिषद की मंत्रणा नितान्त गोपनीय रहनी चाहिये। याज्ञवल्क्य गुप्त मंत्रणा को ही राज्य का मूल मानते हैं।[5] इसी प्रकार मनु का कथन है कि धनहीन राजा भी अपनी मंत्रणा को गुप्त रखकर समस्त पृथ्वी का स्वामी बन सकता है।[6] एतदर्थ हमारे राजनीति-विचारकों ने इस प्रसंग में कतिपय नियम निर्धारित किये हैं। उनका आदेश है कि मंत्रणा निर्जन स्थान, गुप्त-कक्ष, राज-प्रासाद के ऊपरी भाग अथवा निर्जन बन, पर्वत शिखर, अथवा ऐसे भवन में होनी चाहिये जिसमें मंत्रियों को कोई देख न सके।[7] कामन्दक भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि मंत्रणागृह में न स्तम्भ होने चाहिये, न गवाक्ष।[8] मंत्रणागृह के समीप अनाधिकारी व्यक्तियों के जाने का निषेध था। कौटिल्य तो यहाँ तक कहते हैं कि मंत्रणा-गृह में पशु-पक्षी भी न जा सकें, क्योंकि शुक, सारिका, श्वान् तथा अन्य पशुओं द्वारा

---

१ अर्थशास्त्र, १.१५.
२ मनु, ७.१५१.
३ शुक्र, १.३५०.
४ मालविकाग्निमित्र, अंक ५.
५ याज्ञवल्क्य, १.३४४.
६ मनु, ७.१४८.
७ मनु, ७.१४७.
८ नीतिसार, १२.४७.

मंत्रणा के प्रकट हो जाने का भय रहता है।[1] इसकी पुष्टि हर्षचरित से होती है। राजा नागसेन की गुप्त-मंत्रणा एक सारिका द्वारा प्रकट हो गयी थी जिसके कारण उसका विनाश हुआ। शुक पक्षी द्वारा मंत्रणा प्रकट हो जाने से राजा श्रुतवर्मन को भी अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था।[2]

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने इस विषय पर अपने पूर्वाचार्यों के मतों की विवेचना की है। भारद्वाज का मत है कि गुप्त बातों पर राजा स्वयं विचार करे, क्योंकि मंत्रियों के अपने विश्वाशपात्र होते हैं, और उन विश्वासपात्रों के भी विश्वासपात्र होते हैं। यह विश्वासपात्र-परम्परा मंत्रगुप्ति के लिए बहुत घातक होती है। इसके विपरीत विशालाक्ष कहते हैं कि प्रत्येक बात पर राजा अकेले निर्णय करके सफल नहीं हो सकता, उसे मंत्रियों से परामर्श करना चाहिये। पराशर का मत है कि राजा मंत्रियों से विचार विमर्श तो करे परन्तु उनपर आयोजना प्रकट न करे। यदि राजा मंत्रियों का विश्वास नहीं करेगा तो वे अपने कार्य-व्यापार में शिथिलता लायेंगे। अत: राजा को विश्वासपात्र मंत्रियों से, जो कार्य में निपुण हों, परामर्श अवश्य करना चाहिये। कौटिल्य भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विश्वासपात्र मंत्रियों से राजा अवश्य मंत्रणा करे। देश-काल एवम् कार्य के अनुसार वह एक या दो मंत्रियों के साथ मंत्रणा करे अथवा वह स्वयं ही निर्णय करे।[3] मनु का भी यही आदेश है कि गोपनीय महत्वपूर्ण विषयों पर राजा केवल मुख्य मंत्री से मंत्रणा करे। भारत के प्राचीन आचार्यों का दृढ़ विश्वास था कि मंत्रणा देने वालों की जितनी ही अधिक संख्या होगी, कार्य में उतनी ही शिथिलता आयेगी और मंत्र प्रकट होने का भी अधिक भय रहेगा।

महाभारत में भी मंत्र-गुप्ति को यथेष्ट महत्व दिया गया है। इसकी पुष्टि इन वाक्यों से होती है; राजा को संवृत-मंत्र होना चाहिये;[4] वही राजा राज्य करने का अधिकारी है जिसके गुप्त मंत्र को शत्रु न जान सकें[5]; 'गुह्यमंत्र' राजा ही समस्त पृथ्वी पर शासन करने की सामर्थ्य रखता है[6]; 'गूढ़ मंत्रस्थ नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम्', इत्यादि।[7] विष का रस एक को ही मारता है, शस्त्र से भी एक का ही बध किया जा

१ अर्थशास्त्र, १.१५.
२ हर्षचरित, अध्याय ६.
३ अर्थशास्त्र, १.१५.
४ शान्ति, ५७.१४.
५ शान्ति, ५७.३९.
६ शान्ति, ११३.२०.
७ उद्योग (गीता), ३८.२१.

सकता है, परन्तु मंत्र विप्लव राष्ट्र और प्रजा के साथ राजा का भी विनाश कर डालता है।[१] अत: महाभारत राजा को आदेश देता है 'न मंत्रं प्रकाशयेत्'।[२] मंत्र रक्षा का उत्तर-दायित्व राजा और मंत्री दोनों ही पर था।[३]

इस ग्रन्थ में मंत्र-गुप्ति के साधनों पर भी विचार किया गया है। शान्ति पर्व में एक स्थल पर राजा को यह आदेश दिया गया है कि जिस गुप्त-कार्य को वह अकेला ही सम्पन्न कर सकता है, उसके विषय में वह किसी से मंत्रणा न करे क्योंकि सचिव भी कभी-कभी गुप्त रहस्य प्रकट कर देते हैं। उद्योग पर्व में जहाँ राजा को यह आदेश दिया गया है कि उसकी गुप्त-मंत्रणा को कोई भी अनाधिकारी व्यक्ति न जान सके, वहीं यह भी निर्देशन है कि धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी कोई भी कार्य कार्यान्वित होने से पूर्व किसी पर प्रकट न हो। परिषद के सदस्य (पारिषदः) तथा अन्य व्यक्तियों को इसका ज्ञान कार्य के सम्पूर्ण हो जाने पर ही होना चाहिये।[४]

इस ग्रन्थ में मंत्र-ज्ञान के अधिकारी तथा अनाधिकारी व्यक्तियों की भी व्याख्या की गयी है। भगवान कृष्ण के अनुसार ऐसे व्यक्ति जो सुहृद न हों, सुहृद हों किन्तु पंडित न हों अथवा पंडित हों परन्तु आत्मसात न हों वह गोपनीय मंत्रणा जानने के अधिकारी नहीं हैं।[५] इसके अतिरिक्त, स्त्री, मूर्ख, बालक लोभी, नीच, तथा ऐसे व्यक्ति जिनमें उन्माद के लक्षण हों वह भी मंत्रणा के अयोग्य माने गये हैं।[६] राजा को अपने सचिवों से भी सावधान रहने का आदेश है। मंत्रणा सुनने के वही व्यक्ति अधिकारी थे जो सर्वगुण सम्पन्न हों।[७] हमें उन गुणों की सूची अनेक स्थलों पर प्राप्त होती है।

महाभारत में मंत्रभेद के यह छः द्वार माने गये हैं—मद, स्वप्न, प्रविज्ञान, इंगित-आकार, दुष्ट अमात्य तथा अकुशल दूत में विश्वास। राजा को मंत्र धारण के लिए बहुत सावधानी बरतनी पड़ती थी। मादक-वस्तुओं के प्रभाव में अथवा सोते समय असावधानी से लोग अपने मनोभावों को प्रकट कर सकते हैं। इंगित और आकार से भी उनके हृदयांगत-भावों का पता लग जाता है। दुष्ट अमात्य तथा अकुशल दूत में विश्वास

---

१ उद्योग, ४३.२६.
२ शान्ति, ७१.७.
३ उद्योग, ३८.१८-१९.
४ उद्योग (गीता), ३८.१७-१८.
५ शान्ति, ८२.३; उद्योग, ३८.१८-१९.
६ आरण्य, १४९.४३-४५.
७ उद्योग (गीता), ३९.३६-३८.

करके भी मंत्र को गुप्त नहीं रखा जा सकता है। इसीलिए राजा को इन ६ द्वारों के संवृत रखने का आदेश दिया गया है।[1]

मंत्र-रक्षण के अभिप्राय से ही महाभारत में यह आदेश दिया गया है कि मंत्रणा या तो सुसंवृत मंत्रगृह, राजप्रासाद के ऊपरी भाग के किसी एकान्त स्थान में अथवा पर्वत-शिखर या अरण्य में तृण आदि से अनावृत किसी निर्जन स्थान में करना चाहिये। मंत्रणागृह के निकट जड़ अथवा पंगु व्यक्ति तथा मनुष्य का अनुसरण करने वाले पशु और पक्षियों के प्रवेश का भी निषेध था।[2] यह सब नियम मंत्रगुप्ति के महत्व को सिद्ध करते हैं।

मंत्रणा किस समय होनी चाहिये इस का कोई निर्देशन महाभारत में नहीं प्राप्त होता। केवल आश्रमवासिक पर्व में कहा गया है कि मंत्रणा रात्रि में न करना चाहिये।[3] परन्तु भीष्म पर्व में हम पाण्डवों को कृष्ण के साथ रात्रि में मंत्रणा करते हुए पाते हैं।[4] एक अन्य स्थल पर हम उनकी मंत्रणा सूर्यास्त से पूर्व ही समाप्त होते देखते हैं।[5]

मंत्र प्रकट न हो सके, इस अभिप्राय से महाभारत में मंत्रणा सम्बन्धी कुछ अन्य नियम भी दृष्टव्य हैं। राजा को इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता थी कि वह चाहे तो सभी मंत्रियों के साथ मंत्रणा करे अथवा उनमें से कुछ के साथ। अधिक लोगों के साथ अथवा अधिक समय तक मंत्रणा करना अनुचित माना गया है।[6] नारद युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं : 'आप बहुत लोगों के साथ तो मंत्रणा नहीं करते' ?[7] इससे स्पष्ट है कि वह ऐसी मंत्रणा के पक्ष में न थे। भीष्म की व्यवस्था के अनुसार राजा प्रथमतः तीन मंत्रियों से, (जो संभवतः अन्तरंग-परिषद के सदस्य होते थे) के साथ पृथक् २ मत्रणा करे, तत्पश्चात् स्वयं विचार कर अपने तथा मंत्रियों के विचार राजगुरु के सम्मुख प्रस्तुत करे, और जो निर्णय सबको स्वीकार हो उसे ही कार्यान्वित करे। मंत्र-तत्व के ज्ञाता विद्वानों के अनुसार राजा को इसी विधि से मंत्रणा करना चाहिये।[8]

---

१ आश्रमवासिक (गीता), ५.२१.
२ उद्योग, ३८.१७-१८; आश्रमवासिक (गीता), ५.२२-२४; शान्ति, ८४.५३-५४.
३ आश्रमवासिक (गीता), ५.२३.
४ भीष्म, १०७.९-१०.
५ उद्योग, १४५.२-४.
६ आश्रमवासिक (गीता), ५.२१-२२.
७ सभा, ५.१९.
८ शान्ति, ८४.५०-५२.

मंत्रि-परिषद

स्मृतियों की भाँति महाभारत भी राजा को इस बात की स्वतंत्रता देता है कि वह चाहे सब मंत्रियों के साथ मंत्रणा करे अथवा कुछ के साथ। अतः इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि मंत्री असंगठित थे अथवा प्राचीन भारत में भी वर्तमान युग की भाँति मंत्रिमण्डल का सम्मिलित उत्तरदायित्व था। हमारे साहित्य तथा अभिलेखों में एक संस्था का बारम्बार उल्लेख मिलता है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि मंत्री संगठित रूप से कार्य करते थे। यह संस्था मंत्रिमण्डल अथवा मंत्रिपरिषद (पाली साहित्य में परिखा) के नाम से प्रसिद्ध थी। महाभारत के आश्रमवासिक पर्व में मंत्रिमण्डल का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। और आरण्य पर्व में वही संस्था अमात्य परिषद के नाम से निर्देशित की गयी है।[1]

कौटिल्य के अनुसार सभी मंत्री परिषद के सदस्य नहीं होते थे।[2] प्राचीन अभिलेखों में भी कभी कभी मंत्रियों की पदवी के साथ 'महा' विभक्ति जुड़ी मिलती है, यथा महासन्धिविग्रहिक, महासचिव, महामात्य, महामंत्री, आदि।[3] इसके आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि प्राचीन भारत में ज्येष्ठ (सीनियर) और कनिष्ठ (जूनियर) दो वर्गों के मंत्री होते थे। जूनियर मंत्री संभवतः परिषद के सदस्य नहीं होते थे।

मंत्रियों की पारस्पारिक लघुता और ज्येष्ठता के प्रसंग में हमें शुक्र के भी कथन की विवेचना करनी है। उनके अनुसार मंत्रियों की मर्यादा उनके वेतन के अनुपात से निर्धारित करना चाहिये परन्तु वह यह भी लिखते हैं कि अन्य आचार्यों के मतानुसार समस्त मंत्रियों का वेतन समान होना चाहिये। वेतन ही नहीं उनके अधिकार भी समान होना चाहिये।[4] महाभारत से मंत्रियों के वेतन पर किंचित मात्र भी प्रकाश नहीं पड़ता है, परन्तु वह उनके समान अधिकार का पक्षपाती है। राजा को यही आदेश दिया गया है कि वह मंत्रिमण्डल के किसी भी सदस्य का पक्षपात न करे।

इस ग्रन्थ से मंत्रिपरिषद के संगठन पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। राजा की सहायता के लिए एक बड़ा मंत्रिमण्डल होता था, जिसके सैंतिस सदस्य होते थे। वे

---

१ आश्रमवासिक (गीता), ५.२५; आरण्य, १२७.८.

२ अर्थशास्त्र, १.१५.

३ यथा, *C. I. I*, IV, Nos. 48 and 56;
राजतरंगिणी, ४.१४२-४३, में भी महासन्धिविग्रहिक का उल्लेख प्राप्त होता है।

४ शुक्र, २.७१; ७३; ७६. कौटिल्य भी मंत्रियों के वेतन में भिन्नता के समर्थक हैं, अर्थशास्त्र, ५.३.

सभी वर्णों का प्रतिनिधित्व करते थे। परन्तु राजा इन मंत्रियों से निरन्तर मंत्रणा नहीं करता था। वह केवल आठ मंत्रियों से ही मंत्रणा करता था।[१] इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत-काल में भी एक बहुसंख्यक 'मिनिस्ट्री' होती थी, और उसके भीतर एक छोटी अन्तरंग समिति, जिसकी तुलना हम वर्तमान 'कैबिनेट' से कर सकते हैं। भीष्म के अनुसार बहुसंख्यक मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने में मंत्रभेद का भय रहता है अतः वह राजा को आठ या उससे कम मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने का आदेश देते हैं। इस ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख नहीं मिलता है कि वह आठ मंत्री किस प्रकार चुने जाते थे, अथवा इनके क्या कर्तव्य और अधिकार थे। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनका मुख्य कार्य राजा को मंत्रणा देना था। डा० श्यामलाल पाण्डे के अनुसार भीष्म अन्तरंग समिति से भी एक 'परम अन्तरंग समिति' के निर्णय के पक्षपाती हैं। उनका कहना है कि राजा सर्वगुण सम्पन्न पूज्यनीय सर्वश्रेष्ठ कम से कम तीन मंत्रियों की परम अन्तरंग नाम की एक समिति स्थापित करे।[२] किन्तु जिस श्लोक के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है उसमें परम अन्तरंग जैसी किसी समिति का उल्लेख नहीं है। उस श्लोक में भीष्म राजा को केवल यही आदेश देते हैं कि मंत्र गोपनीयता अक्षुण्ण बनाये रखने के अभिप्राय से वह कम से कम तीन मंत्रियों के साथ मंत्रणा करे।[३] वह राजा के अकेले निर्णय करने के समर्थक नहीं हैं। उसी अध्याय में अन्यत्र पांच मंत्रियों का भी उल्लेख किया गया है।[४] इन उद्धरणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजा कम से कम तीन या पांच मंत्रियों के साथ अवश्य विचार विनिमय करे, यदि वह कैबिनेट के आठों मंत्रियों के साथ कारण-वश परामर्श न करना चाहता हो।

प्रधान मंत्री

प्रधान मंत्री मंत्रिपरिषद का नेता होता था। उसे मुख्य मंत्री अथवा महामंत्री भी कहा जाता था। शासन व्यवस्था में उसका पूर्ण सहयोग रहता था। वह राजा की अनुपस्थिति में मंत्रिपरिषद का संचालन करता था। वास्तव में वह राजा और मंत्रि-परिषद् के मध्य की कड़ी था।

महाभारत में कई स्थलों पर प्रधान मंत्री अथवा मुख्य मंत्री का उल्लेख किया

---

१ शान्ति, ८६.१० –अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्.
२ डा० श्यामलाल पाण्डे, भीष्म का राजधर्म, पृ० ७२.७३.
३ शान्ति, ८४.५०.
४ शान्ति, ८४.१९-२०.

गया है।[1] इस ग्रन्थ में प्रधान सचिव के गुणों पर भी प्रकाश डाला गया है। जिसका रूप-रंग सुन्दर, स्वर मधुर, क्षमाशील, कुलीन, शीलवान हो, वही प्रधान सचिव के पद के योग्य है।[2] अन्यत्र कहा गया है कि जो कीर्ति को प्रधानता देता, मर्यादा के भीतर स्थित रहता, सामर्थशाली पुरुषों से द्वेष नहीं करता, कामना, भय, लोभ तथा क्रोध से धर्म का परित्याग नहीं करता, जिसमें कार्य कुशलता तथा आवश्यकता के अनुरूप बातचीत करने की पूरी योग्यता हो उसी व्यक्ति को प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्त करना चाहिये।[3]

मंत्री और राजा के सम्बन्ध

राजा और मंत्री के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ, स्नेहमय, और सौहार्द-पूर्ण होने चाहिये। एक ओर यदि यह कहा जाता है कि राजा के प्रति मंत्री विनयशील हो तो दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि वह राजा पर नियंत्रण रखे। शुक्र ठीक ही कहते हैं कि ऐसा राज्य कैसे उन्नति कर सकता है जिसका राजा अपने मंत्रियों से भय न रखता हो।[4] कौटिल्य का कथन है कि मंत्रियों को ऐसे व्यसनों का प्रतिकार करना चाहिये, जिनमें राजा ग्रसित हो।[5] कामन्दक के अनुसार भी जब राजा राग, मान व मद के वशीभूत हो, अपने शत्रुओं के जाल में फँस जाता है तब मंत्री ही उसको बचा सकते हैं।[6] इसीलिये उनका आदेश है कि राजा मंत्री की शिक्षा को उसी भांति समादरित करे जैसे गुरु की।[7] राजा के लिए इतना ही नहीं पर्याप्त था कि वह मंत्रियों के साथ मन्त्रणा करे, वरन उनके मत को मानना भी आवश्यक था। दूसरी ओर मंत्री का भी कर्तव्य था कि वह राजा के हित को ध्यान में रख कर उसे परामर्श दे। शुक्र यथेष्ठ ही कहते हैं कि जो राजा अपने मंत्रियों की अवहेलना करता है और जो मंत्री अपने राजा के प्रतिकूल आचरण करते हैं वे दोनों ही चोर हैं।[8] मंत्रि परिषद राजा के आदेश की विवेचना करती थी और उसे अमान्य भी ठहरा सकती थी। राधगुप्त के मंत्रिमण्डल ने अशोक के आदेश को ठुकरा दिया था।[9] रुद्रदामन् के प्रस्तावों को भी

---

१ विराट (गीता), ६८.९; आरण्य. ५७.१९ तथा (गीता), १९०.२१.
२ शान्ति, ८१.२१.
३ शान्ति, ८१.२६-२७.
४ शुक्रनीति, २.८१-८२.
५ अर्थशास्त्र, ५.६.
६ नीतिसार, ४.४६.
७ नीतिसार, ४.३९.
८ शुक्र, २.२४७-२४९.
९ दिव्यावदान, पृ० ४३०.

उसके मंत्रियों ने अस्वीकार कर दिया था और उसे सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार अपने निजी कोष से कराना पड़ा था।[१] मनु का आदेश है कि राजा अपने प्रधान मंत्री पर पूर्ण विश्वास करे और उसको शासन भार सौंप दे। प्रायः सभी लेखकों का मत है कि साधारणतः राजा को मंत्रियों के निर्णय की उपेक्षा न करनी चाहिये। कामन्दक के अनुसार मंत्री सर्व सम्मति से जो निर्णय करें राजा को उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। सोमदेव के अनुसार वह राजा राजा ही नहीं जो मंत्रियों की अवहेलना करे। हां, यदि राजा मंत्रियों के निर्णय को उचित न समझे तो वह मंत्रियों को उस पर पुर्नविचार करने का आदेश दे सकता था। भारत के प्राचीन लेखक यह नहीं चाहते थे कि राजा मंत्रियों के हाथ की कठपुतली बन कर रहे। मंत्रिपरिषद राजा की शक्ति कम न करती थी वरन् उसको दृढ़ बनाती थी। पाणिनि ने राजा को यथेष्ठ ही 'परिषदबलः' कहा है।

महाभारत से भी विदित होता है कि राजा और मंत्री के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ थे। प्रत्येक समय, प्रत्येक अवसर, और प्रत्येक स्थान पर, दोनों एक साथ पाये जाते हैं।[२] केवल मंत्रणा-गृह या राजसभा में ही नहीं वरन् राजा के धार्मिक, आर्थिक, वैयक्तिक सभी कार्यों में मंत्री उसके साथ उपस्थित रहते थे। राजा जब किसी अन्य शासक को सन्देश भेजता, या उसका सन्देश सुनता अथवा किसी ऋषि-मुनि का स्वागत करता, प्रत्येक अवसर पर मंत्री उसके साथ पाये जाते हैं। इसी प्रकार द्यूत क्रीड़ा के अवसर, पर एवम् शिविर और युद्ध भूमि में भी प्रत्येक क्षण मंत्री राजा के समीप ही पाये जाते हैं।[३] इससे प्रतीत होता है कि मंत्री राज्य के वरिष्ठ पदाधिकारी ही न थे वरन् राजा के अन्तरंग मित्र भी थे। इन का पारस्परिक सहयोग सुव्यवस्थित शासन के लिये नितान्त आवश्यक था।

राजा मंत्रियों की नियुक्ति, एवम् अयोग्य मंत्री को पद से विमुक्त करता था।[४] एक स्थल पर कहा गया है कि राजा को मंत्री के विरुद्ध आरोप लगाने वालों की बात एकान्त में सुनना चाहिये। मंत्री के कोप से उस व्यक्ति की रक्षा करना भी उसका

---

१ रुद्रदामन् का जूनागढ़ अभिलेख.

२ आदि, १९८.१५-१६; उद्योग (गीता), २२. १७-१८; २४. ९-१०; १२२. १९; १९३. १९-२१; अनुशासन (गीता), १६७.२१. इत्यादि।

३ आरण्य, १. १-८; विराट (गीता), १. २६.

४ सभा, ५. ३३; शान्ति, ९२. २८; अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९४८; तथा शान्ति, १५९. ३८.

कर्तव्य था। इसकी पुष्टि कालकवृक्षीय मुनि के सम्वाद से होती है।[1] वामदेव राजा को आदेश देते हैं कि जिस अमात्य को कभी दण्डित किया गया हो उससे सदैव सावधान रहना चाहिये।[2]

अन्यान्य लेखकों की भाँति महाभारतकार भी राजा को यही आदेश देता है कि वह अपने मंत्रियों का आदर करे।[3] भीष्म कहते हैं–'वही मंत्री जिनका यथोचित सम्मान किया जाता है, जिनको सुख और सुविधा की समस्त वस्तुयें प्रदान की जाती हैं, राजा के सुसहाय सिद्ध होते हैं'।[4] राजा अपने मंत्रियों का कभी अपमान न करे, वरन् पिता और गुरु के समान उनका सम्मान करे।[5] भीष्म के अनुसार राजा को मंत्रियों के कार्य का अनुमोदन करना चाहिये।[6] परन्तु सभी मंत्री समान नहीं होते। अतः राजा को अच्छे मंत्रियों का मत ग्रहण, और दुष्ट मंत्रियों से सदैव सतर्क रहना चाहिये उसे गुप्तचरों के द्वारा मंत्रियों के मनोभाव समझने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी प्रकार इस ग्रन्थ में यह भी आदेश दिया गया है कि मंत्री राजा को समुचित परामर्श दें और उसके हित साधन में सदैव संलग्न रहें। योग्य मंत्री आपत्ति काल में राजा की सहायता करते हैं,[7] और उसे कुपथ पर जाने से रोकते हैं। इस प्रसंग में हम राजा नल के मंत्रियों का उदाहरण दे सकते हैं।[8] मंत्री राजा के दुख में दुखी, और उसके सुख में सुखी होते थे।[9] वास्तव में यही मंत्रियों का आदर्श था। जो मंत्री बलपूर्वक राजा को अपने अधीन करने का प्रयास करता था वह हानि उठाता था।[10] इसी प्रकार, जो राजा मन को जीते बिना अमात्यों के जीतने का प्रयास, अथवा मंत्रियों को वश में किये बिना शत्रु को जीतना चाहता है वह असफल रहता है। शासन-तंत्र तभी सफल होता है जब राजा और मंत्री मिल कर कार्य करते हैं।[11] महाभारत में उनके पारस्परिक सहयोग पर

---

१ शान्ति, ८०.
२ शान्ति, (गीता), ९३.३१.
३ शान्ति, ६८. ५६ 'मंत्रिणं पूजयेन्नृपः'।
४ शान्ति (गीता), ८०. २९–पूजिता संविभक्ताश्च सुसहायाः स्वनुष्ठिताः'।
५ शान्ति, ११२. २४.
६ उद्योग, २६. १०.
७ शान्ति, ८३. ३२-३३–'ददात्यस्मद्विधोऽमात्यो बुद्धिसाहय्यमापदि'।
८ आरण्य, ५६.११, इत्यादि.
९ आरण्य, १६९.३; ५६.१५-१८; उद्योग, १३६.१६.
१० विराट(गीता),४.४२. अमात्योहि बलाद्भोक्तुं राजानं प्रार्थयेत यः।
न स तिष्ठेच्चिरं स्थानं गच्छेच्च प्राणसंशयम्।
११ उद्योग, ९३.२७.

बहुत बल दिया गया है ।[१] राजा को यथेष्ठ ही परिषदबलः कहा गया है ।[२] इसी कारण से उसको आदेश दिया गया है कि वह अपने मंत्रियों की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध करे और भेद आदि उपायों से उनकी रक्षा करे ।[३]

महाभारत में राजा और मंत्री को समान अधिकार प्रदान किये गये हैं । केवल दो बातें, छत्र धारण करना और सबको आज्ञा देना, राजा की विशिष्ठता थीं ।[४] राजा का कर्तव्य था कि वह मंत्रियों के साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष में एक सा वर्ताव करे । 'जो राजा कभी अपने मंत्रियों का अनादर नहीं करता उसका राज्य चन्द्रमा की चांदनी की भांति चारों ओर फैल जाता है ।[५] एक श्रृगाल और सिंह की कथा भी राजा और मंत्री के सम्बन्ध पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है ।[६]

महाभारत में अनेक मंत्रियों का उल्लेख प्राप्त होता है । पार्थिव-नरेशों के ही नहीं, देवताओं, तथा पशुराज सिंह के भी अपने मंत्री होते थे । प्रायः वे सभी मंत्री, मंत्रियोचित गुण-सम्पन्न एवम् स्वामिभक्त होते थे । इनमें से कतिपय मंत्री तथा उनके सत्कार्यों का उल्लेख इस अध्याय में किया जा चुका है । परन्तु इस ग्रन्थ में कुछ कुमंत्रियों के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं । इनमें सर्व प्रथम शकुनि का उल्लेख किया जा सकता है, जिसकी दुर्नीति के कारण ही महाभारत का युद्ध छिड़ा, और कौरवों का विनाश हुआ । ऐसा ही एक अन्य उदाहरण आदि पर्व में मगध-नरेश अम्बुवीच के मंत्री महार्काण का है । वह राजा की अवहेलना करता था, और स्वयं राज्य को आत्मसात करना चाहता था ।[७] कुमंत्रियों के उदाहरण अपेक्षाकृत बहुत कम हैं । महाभारत से ऐसा ही आभासित होता है कि साधारणतया मंत्री स्वराष्ट्र तथा राजा के हित में संलग्न रहते थे ।

---

१ शान्ति, ८३.६४.
२ शान्ति, १२१.४; उद्योग, ३७.४८-५१.
३ शान्ति, १२०.४८; १३८.६३.
४ शान्ति, ५७.२५-२६.
५ शान्ति, ११८.१५ .— 'सचिवं यः प्रकुरुते न चैननमवमन्यते ।
तस्य विस्तीयर्ते राज्यं ज्योत्सना ग्रहपतेरिव ॥
६ शान्ति, ११२.
७ आदि (गीता), २०३.

८

कोष

प्रत्येक सरकार को सुव्यवस्थित शासन संचालनार्थ धन की आवश्यकता होती है । इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने धन को बहुत महत्व प्रदान किया है । महाभारत में भी धन का महत्व अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है । शान्ति पर्व में अर्जुन ने धन के गुण तथा निर्धनता के दोषों की विस्तृत विवेचना की है । वह युधिष्ठिर से कहते हैं कि दूसरे दिन के लिए सग्रह न करके प्रति दिन मांग कर खाना ऋषियों का धर्म है, राजा का धर्म तो धन से ही सम्पन्न होता है ।[१] इसी प्रकार राजा नहुष कहते हैं : 'आकिंचन्य मुनियों का धर्म है, राजाओं का नहीं' ।[२] धन से ही धर्म का पालन, कामना की पूर्ति, स्वर्ग की प्राप्ति, हर्ष की वृद्धि, क्रोध की शान्ति, शास्त्रों का अध्ययन तथा शत्रुओं का दमन संभव है ।[३] अत: धन संग्रह करना राजा का दैनिक कृत्य माना गया है ।[४]

कोष का महत्व

राजा का धन कोष में सुरक्षित रहता है । एतदर्थ भारत के राजतंत्र विचारकों ने कोष के महत्व को स्वीकार किया है, और वे इसे राजा का मूल मानते हैं । कामन्दक एक सर्वविदित लोकोक्ति का उल्लेख करता है, जिसके अनुसार राजत्व कोष के आश्रित है ।[५] शुक्र के अनुसार कोष, बल, तथा, अर्थभाव ही ऐसे तीन मूल तत्व हैं जो राष्ट्र की

---

१ शान्ति, ८.१२-१३.
उद्योग, ७०.१९-२०; २३-२७; आरण्य, ३४.३५-३६; तथा अनुशासन (गीता), पृष्ठ ५९९७ में भी धन का महत्व तथा निर्धनता के दोषों का वर्णन प्राप्त होता है ।

२ शान्ति, ८.११.

३ शान्ति, ८.२१.

४ शान्ति, ८.२६.

५ नीतिसार, १४.३३.

वृद्धि के लिए आवश्यक है ।[1] सोमदेव के अनुसार तो कोष ही वास्तविक शासक है, राजा का पार्थिव शरीर नहीं ।[2] स्मृतिकार गौतम भी कोष के महत्व को स्वीकार करते हैं ।[3] महाभारत भी इसी मत से सहमत है । शान्ति पर्व में एक स्थल पर कहा गया है:—

कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः कोशमूलकरो भव ॥[4]

उसी पर्व में अन्यत्र कोष को स्वर्ग का सुख तथा पृथ्वी पर विजय का मूल साधन माना गया है, और पर्याप्त-कोष राजा को दृढ़-मूल कहा गया है ।[5] उसके महत्व के कारण ही महाभारत में कोष की प्रशंसा की गयी है ।[6] कोषहीनता राजा को निर्बल करती है ।[7] आश्वमेधिक पर्व में राजा मरुत का उल्लेख है, जिसके क्षीण-कोष होने पर निकटवर्ती राजा कष्ट पहुंचाने लगे थे ।[8]

कोष और राजा

कोष के महत्व के कारण ही प्राचीन आचार्य राजा तथा सरकार को इसके प्रति विशेष ध्यान देने का आदेश देते हैं । कौटिल्य ने यथेष्ठ ही कहा है कि सरकार के सब कार्य कोष के अधीन हैं, अतः इसके प्रति समुचित ध्यान देना चाहिये ।[9] स्मृतियों के अनुसार तो कोष-संरक्षण राजा का कर्तव्य है और इसके लिए उन्होंने राजा के दैनिक कार्यक्रम में समय भी निर्धारित किया है ।[10] मनु का कथन है कि कोष राजा के आश्रित है । भाष्यकार कुल्लूक इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कोष किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में न देना चाहिये, इसका निरीक्षण स्वयं राजा को करना चाहिये ।[11]

---

१ शुक्रनीति, ४.१३१. इस ग्रन्थ में कोष को राज्य का मुख कहा गया है ।
२ नीतिवाक्यामृत, २१.७, तथा २१.५.
३ सरस्वतीविलास (पृ० ४६) में उद्धृत ।
४ शान्ति, ११९.१६, तथा १२८.३५—राज्ञः कोशबलं मूलं; एवम् १३१. १.२; ४; ६-७.
५ शान्ति, १२८.४९.
६ शान्ति (गीता), १३३.
७ शान्ति, १२८.११.
८ आश्वमेधिक (गीता), ४.१२-१३.
९ अर्थशास्त्र, २.८.
१० मनु, ८.४१९; याज्ञवल्क्य, १.३२७.
इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए राजा के लिए वार्ताशास्त्र में पारंगत होना आवश्यक माना गया है ।
११ मनु, ७.६५, तथा उस पर कुल्लूक की टीका ।

याज्ञवल्क्य ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। उनके अनुसार आय-व्यय का निरीक्षण राजा को ही करना चाहिये। अन्य अधिकारियों द्वारा संग्रहीत धन-राशि भी उसे स्वयम् ही कोष में संचित करना चाहिये।[१] राजतंरगिणी से हमें इस प्रसंग में एक उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होता है। काश्मीर नरेश कलश व्यापारी की भाँति हिसाब रखता था और राज्य की आय-व्यय का स्वयं निरीक्षण करता था। इसके लिये उसने एक कर्णिक की नियुक्ति की थी जो सदैव उसके साथ रहता, और राज्य के हिसाब का लेखा किया करता था।[२]

महाभारत से भी उपर्युक्त सिद्धान्तों की पुष्टि होती है। शान्ति पर्व में भीष्म युधिष्ठिर को आदेश देते हैं कि कोष का निरीक्षण कार्य राजा को स्वयं करना चाहिये, क्योंकि कोष, दण्ड, मंत्र, तथा चर व्यवस्था पर ही सारा राज्य प्रतिष्ठित रहता है।[३] उसे अपने कोष की अभिवृद्धि भी करना चाहिये।[४] सभापर्व में नारद का भी यही कथन है कि आय-व्यय के अधिकारी प्रति दिन पूर्वाह्न में राजा के समक्ष अपना हिसाब प्रस्तुत करें।[५] उद्योग पर्व में स्पष्ट कहा गया है कि जो राजा कोष का ज्ञान नहीं रखता वह राजपद पर स्थिर नहीं रह सकता, उसकी स्थिति को जानने वाला ही राज्य को समुचित रूप से भोग सकता है।[६] कोष के राजनैतिक महत्व के कारण ही राजा को यह आदेश दिया गया है कि वह अपने कोष में संग्रहीत धन को नितान्त गोपनीय रखे।[७]

सुसंग्रहीत कोष

राष्ट्रीय कोष के महत्व को भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से मान्यता दी गई है, और रिक्त कोष राज्य का सबसे बड़ा व्यसन माना गया है।[८] कोष में यथेष्ठ धन संग्रह करना शासकों का प्रधान कर्तव्य था। स्मृतिकार अत्रि न्यायपूर्वक कोष की वृद्धि करने को राजा के लिए निर्धारित पांच यज्ञों में स्थान देते हैं।[९] प्रायः सभी लेखकों ने सुसंग्रहीत कोष का समर्थन किया है। कामन्दक के अनुसार राजकोष सब प्रकार के ईप्सित धन, स्वर्ण, मुक्ता, मणि, आदि से भरपूर और व्यय-सह होना चाहिये।[१०] इसी

---

१ याज्ञवल्क्य, १.३२७-३२८.
२ राजतंरिगिणी, ७.५०७-८.
३ शान्ति, ८७.२०.
४ शान्ति (गीता), १३३.५.
५ सभा, ५.६२.
६ उद्योग, ३४.१०-११.
७ शान्ति, १२०.३१.
८ शान्ति (गीता), १३३.४-६.
९ अत्रिसंहिता, २८.
१० नीतिसार, ४.६०-६१.

प्रकार अभिलषितार्थ-चिन्तामणि का कथन है कि राजकोष प्रचुर मात्रा में स्वर्ण, रजत, रत्न, वस्त्र, आभूषणदि से पूर्ण हो।[१] शुक्र तो यहां तक कहते हैं कि कोष में इतना प्रचुर धन होना चाहिये कि यदि आय के सब श्रोत बन्द हो जांय तब भी वह राष्ट्रीय सेना का २० वर्ष तक भरण पोषण कर सके,[२] और राज्य-भण्डार इतना धान्य-पूर्ण हो कि राज्य का तीन वर्षों तक कार्य चलता रहे।[३] इससे विदित होता है कि राज-कोष में केवल स्वर्ण तथा रजत का ही नहीं वरन् धान्य का भी संग्रह किया जाता था।

महाभारत भी राजा को यही आदेश देता है कि वह अपने कोष की अभिवृद्धि करे।[४] कोष-बिवर्धन राजा का प्रमुख कर्तव्य माना गया है। उसकी अभिवृद्धि में उसे कुबेर की भांति संलग्न रहना चाहिये।[५] सभा पर्व में युधिष्ठिर के कोष के विषय में कहा गया है कि वह सहस्र वर्षों तक व्यय करने पर भी समाप्त न हो सकता था। कोष ही नहीं उनका कोष्ठागार भी बहुत भरा-पुरा था।[६] इस ग्रन्थ में अनेक राजाओं की सम्पत्ति का जो उल्लेख मिलता है उससे यही आभासित होता है कि राजकोष में धन-धान्यादि प्रचुर मात्रा में संग्रहीत रहते थे।

कर-सिद्धान्त

कोष भरने के प्रधान साधन कर थे। इनका सर्व प्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद की ऋचाओं में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में राजा को बलिहृत कहा गया है।[७] इससे स्पष्ट होता है कि राजा प्रजा से बलि ग्रहण करता था। मूलत: बलि शब्द उन वस्तुओं का द्योतक है जो लोग स्वेच्छा से देवताओं को अर्पित करते हैं, परन्तु कालान्तर में यह शब्द कर के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। इस शब्द से हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि प्रारम्भ में प्रजा स्वेच्छा से कुछ धन राजा को प्रदान करती थी। उस युग में राजा को यदा कदा 'विशमत्ता' भी कहा गया है।[८] इससे भी यही आभास मिलता है कि वह प्रजा से कर ग्रहण करता था। वैदिक ग्रन्थों में भागदुध्, संग्रहीता तथा अक्षावाप जैसे राजकीय कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है जिनका सम्बन्ध अर्थ विभाग

---

१ अभिलषितार्थ-चिन्तामणि (मैसूर संस्करण) पृ० ८०, पद ३९६-९९.
२ शुक्रनीति, ४.१२८.
३ शुक्रनीति, ४.१४०.
४ शान्ति (गीता), १३३.५.
५ शान्ति, ५८.८.
६ सभा, ३०.७-८.
७ ऋग्वेद, ७.६.५; १०.१७३.६.
८ यथा, ऐतरेय ब्राह्मण, ७.२९.

से था ।[१] तत्पश्चात्, महाकाव्य, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में कर-व्यवस्था का सुसम्बद्ध बृत्तान्त मिलता है । इन ग्रन्थों में वर्णित कर-व्यवस्था बहुत उच्च कोटि की थी और किसी देश तथा किसी भी युग की कर व्यवस्था की तुलना में खरी उतरती है । भारतीय आचार्यों ने कर सम्बन्धी जो नियम निर्धारित किये हैं, वह धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के अतिरिक्त महाभारत में भी वर्णित हैं ।

प्रथम सिद्धान्त

कर-संग्रह न्यायपूर्वक होना चाहिये ।[२] हमारे प्राचीन ग्रन्थों में विविध करों के साथ उन की दर भी निर्धारित कर दी गयी है । राजा के लिये स्पष्ट आदेश है कि वह उसी दर से कर ग्रहण करे । इस नियम के अनुसार सरकार मनमाने कर नहीं ले सकती थी । यह सिद्धान्त राजा और प्रजा के मध्य बैषम्य के प्रधान कारण को दूर कर देता है ।[३] भारतीय ग्रन्थों के अनुसार कर व्यवस्था शासकों की इच्छा पर न आश्रित थी । मनु ने स्पष्ट लिखा है कि जो राजा प्रजा से न्यायपूर्वक धन ग्रहण करता है वही इहलोक और परलोक में सफलता प्राप्त करता है । इसके विपरीत अन्याय पूर्वक धन ग्रहण करने वाला राजा अपनी हीनता और दुर्बलता ही नहीं प्रकाशित करता, वरन् दोनों लोकों में कष्ट भोगता है । उनका स्पष्ट आदेश है कि बड़ी से बड़ी आवश्यकता के समय भी राजा को अन्याय पूर्वक धन न ग्रहण करना चाहिये ।[४] याज्ञवल्क्य ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है । उनके अनुसार जो राजा अन्याय पूर्वक कोष की वृद्धि करता है वह शीघ्र ही विगत-श्री होकर विनष्ट हो जाता है ।[५] महाभारत में भी अनेक स्थलों पर धर्मानुसार कर ग्रहण करने का आदेश दिया गया है ।[६] सभापर्व से विदित होता है कि युधिष्ठिर के कोष में धर्मपूर्वक प्राप्त किया हुआ धन ही संचित था ।[७] उनके राज्य में निर्धन प्रजा से विगत वर्ष का बाकी कर वसूल करने में भी किसी को पीड़ा न दी जाती थी ।[८] अनुशासन पर्व में तो यज्ञ के नाम पर भी प्रजा से अतिरिक्त कर लेना

---

१ यथा, शतपथ ब्राह्मण, ५.३.१.
२ नीतिसार, ६.६, तथा विष्णुधर्मोत्तर, २.१७.
३ शुक्र (२.२६४) के अनुसार नवीन कर, शुल्कादि लगाने से प्रजा उद्वेजित हो जाती है । इसी भांति कामन्दक का भी मत है कि कर भार से पीड़ित प्रजा शत्रु की पक्षपाती हो जाती है, नीतिसार, १८.३४.
४ मनु, ८.१७०-१७१.
५ याज्ञवल्क्य, १.३४०.
६ यथा, शान्ति ७२.६-७;११;२८.५६ तथा (गीता), १३०.५०, आदि,
७ सभा, ५,३५;३०.७.
८ सभा, (गीता), १३.१४.

निन्दनीय ठहराया गया है।[१] एक स्थल पर कहा गया है कि जो राजा प्रमादवश अपनी प्रजा को सताता है, और अशास्त्र-सम्मत कर ग्रहण करता है वह अपनी ही हानि करता है :—

अर्थमूलोऽपहिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः ।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन्प्रजा :॥[२]

ऐसा राजा जो लोभवश धन ग्रहण करता है प्रजा सहित विनष्ट हो जाता है।[३] स्मृतियों में स्पष्ट आदेश है कि राजा को ऐसे अधिकारियों को दण्ड देना चाहिये जो प्रजा से अन्यायपूर्वक धन ग्रहण करते हों।[४] कौटिल्य के अनुसार भी ऐसे कर्मचारी जो राजा की आय को द्विगुणित कर देते हैं जनपद का भक्षण करते हैं और दण्डनीय हैं।[५] इसी प्रकार महाभारत में भी कहा गया है कि अर्थ-व्यवस्था में लोभी मूर्ख, अकुशल तथा काम-क्रोध-समन्वित व्यक्तियों की नियुक्ति न करना चाहिये। ऐसे अधिकारी अनुचित उपाय से प्रजा को क्लेश पहुंचाते हैं।[६]

द्वितीय सिद्धान्त

महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में द्वितीय सिद्धान्त यह प्रतिपादित किया गया है कि कर समुचित होना चाहिये। वह न तो इतना अधिक हो कि प्रजा को भारसम प्रतीत हो, और न इतना अल्प कि राज्य की आय कम हो जाय। महाभारत के अनुसार कर इस प्रकार निर्धारित करना चाहिये कि जिससे न तो राजा का मूल विनष्ट हो और न प्रजा का।[७] कर निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्रजा त्रसित तो नहीं हो रही है।

---

१ अनुशासन (गीता), ६१.२१-२३.
२ शान्ति, ७२.१५.
३ शान्ति, ७२.१३-१४:

मा स्माधर्मेण लाभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम् ।
धर्मार्थाविध्रुवौ तस्य योऽपशास्त्रपरो भवेत्॥
अपशास्त्रपरो राजा संचयान्नाधिगच्छति ।
अस्थाने चास्य तद्वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥

महाभारत के अनुसार लोभ ही सब अनर्थ की जड़ है, शान्ति, १५३.१.
४ मनु, ७.१२३; याज्ञवल्य, २.२६६.
५ अर्थशास्त्र, २.९.
६ शान्ति, ७२.८-९.
७ शान्ति, ८८.१३-१७.
मनु (७.१३९) का भी ऐसा ही आदेश है।

सभी आचार्यों का मत है कि कर-भार इतना अधिक न होना चाहिए जिससे प्रजा की शक्ति विनष्ट हो जाय ।[1] भविष्य में कर-भार वहन करने की शक्ति अक्षुण्ण बनी रहना चाहिये । इस प्रसंग में भीष्म ने युधिष्ठिर को जो उपदेश दिया था वह उल्लेखनीय है। उनके अनुसार यदि बछड़े के पीने के लिए पर्याप्त दूध छोड़ा जाता है तो वह बलशाली होता है, और बड़े से बड़ा भार उठा सकता है। इसके विपरीत यदि गाय का दोहन अधिक किया जाता है तो बछड़ा निर्बल होता है और उससे अधिक कार्य की आशा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार यदि प्रजा से अधिक कर ग्रहण किया जायगा तो वह महत्वपूर्ण कार्य करने में असमर्थ हो जायगी।[2] इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन ग्रन्थों में विभिन्न उदाहरण दिये गये हैं। मनुस्मृति का कथन है कि जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और मधुमक्खी धीरे-धीरे रस ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा से वार्षिक कर धीरे धीरे ग्रहण करना चाहिये ।[3] पराशर के अनुसार जैसे माली प्रत्येक वृक्ष से एक-एक फूल लेकर माला बनाता है, इसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा से अधिक कर न ग्रहण करना चाहिये जो भार-वत प्रतीत हों।[4] वह मालाकार के समान व्यवहार करे न कि अंगारकार के समान, जो वृक्षों को जला कर नष्ट कर देता है।[5] महाभारत में इस प्रसंग में बहुत महत्वपूर्ण वाक्य मिलते हैं, यथा :

मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरान्न विपातयेत् ।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत् ॥
जलौकावत्पिवेद्राष्ट्रं मृदुनैव नराधिप ।
व्याघ्रीव च हरेत्पुत्रमदष्ट्वा मा पतेदिति ॥[6] एवम्

---

१ शान्ति, ८८.१३-१४.
२ शान्ति, ८८.१७-२०.
कामन्दक (उपरोक्त) तथा शुक्र (४.९१-९२) के अनुसार कर भार से पीड़ित प्रजा राजा के प्रति अनुरक्त नहीं रहती है। शान्तिपर्व (८८.१७) के अनुसार भी अधिक कर ग्रहण करने वाले राजा से प्रजा द्वेष करने लगती है।
३ मधु, ७.१२९.
४ पराशर, १.५९.
५ पराशर, १.५९; शुक्र, ४.२२३; शान्ति, ७२.२०, मालाकारोपमो राजन् भव मांगारिकोपम्: ।
६ शान्ति, ८९.४-५. गीता प्रेस संस्करण में इसी संदर्भ में निम्नोक्त पद भी प्राप्त होता है।
यथा शल्यकवानाखु: पदं धूनयते सदा ।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिबेत् ॥ (८८.६) ।

यथाक्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनोति मधु षट्पदः ।
तथा द्रव्यमुपादाय राजा कुर्वीत संचयम् ।।[१]

यदि राष्ट्र की समृद्धि के साथ कर-वृद्धि आवश्यक प्रतीत हो, तो यह वृद्धि शनैः शनैः करना चाहिये ।[२] वास्तव में महाभारत मध्यम मार्ग का समर्थक है —कर न बहुत अधिक होना चाहिये और न बहुत कम ।

तृतीय सिद्धान्त

कर समुचित जांच पड़ताल के पश्चात् निर्धारित करना चाहिये । उदाहरणार्थ, स्मृतियों में भूमि-कर की कई दरें उल्लिखित हैं । इसका यही तात्पर्य है कि भूमि-कर कई बातों पर आधारित था, यथा खेत की उपज, भूमि की प्रकार, सिंचाई की सुविधा और ऋतु की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता ।[३] इसी प्रकार व्यापारियों पर भी कर निर्धारित करते समय व्यापार सम्बन्धी व्यय, यातायात की सुविधा और बिक्री की स्थिति पर ध्यान दिया जाता था । यह भी उल्लेखनीय है कि कर लाभ पर लिया जाता था न कि बिक्री पर ।[४] गौतम के अनुसार ऐसे व्यापारियों से कोई भी कर न लेना चाहिये जिनको क्रय-विक्रय में हानि होती हो ।[५] शुक्र का आदेश है कि प्रत्येक वस्तु पर केवल एक ही बार कर लेना चाहिये ।[६] समुचित कर-व्यवस्था का मूल तत्व यह था कि राज्य तथा व्यापारियों और उत्पादकों को समुचित फल प्राप्त हो । महाभारत में यथेष्ठ ही कहा गया है कि 'फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित्संप्रवतति' ।[७] शान्ति पर्व के अनुसार कर निर्धारित करते समय क्रय, विक्रय, आयात पर व्यय, कार्यकर्त्ताओं का वेतन, और सम्भावित बचत को ध्यान में रखना चाहिये । सारांशतः राजा और प्रजा का हित ध्यान में रख कर कर निर्धारित करना चाहिये जिससे दोनों ही समुचित फल प्राप्त कर सकें ।[८]

चतुर्थ सिद्धान्त

कर का चतुर्थ सिद्धान्त यह था कि कर समुचित समय तथा स्थान पर ग्रहण

---

१ शान्ति, १२०.३२, तथा उद्योग, ३४.१७.
२ शान्ति, ८९.६-८.
३ यथा, मनु, ७.१३०; शुक्र, ४.२२५-२२६.
४ मनु, ७.१२७-१२८; शुक्र,४.२२१.
५ गौतमसंहिता, अध्याय १०.
६ शुक्र, ४.२१८-२१९.
७ शान्ति, ८८.१४.
८ शान्ति, ८८.११-१४.

करना चाहिये। महाभारत में स्पष्ट आदेश है कि "न चास्थाने न चाकाले करानेभ्योऽनु पातयेत्।"[१] कौटिल्य का भी मत है कि जिस प्रकार उद्यान से फल उसी समय चुने जाते हैं जब वह पक जाते हैं, इसी प्रकार कर भी उपयुक्त समय पर ही ग्रहण करना चाहिये। कुसमय में कर लेने से उसी प्रकार की हानि होती है जिस प्रकार कच्चे फल तोड़ने से।[२] कामन्दक भी इसी मत के समर्थक हैं।[३]

अन्त में हम यह देखते हैं कि कर-क्षेत्र संकुचित नहीं बहुत विस्तृत था। उपार्जन करने वाला प्रत्येक नागरिक कर के रूप में राज्य को धन अर्पण करता था। कृषक, पशु-पालक, व्यापारी, उत्पादक सभी को अपनी आय का एक निर्धारित अंश राज्य को देना पड़ता था।[४] श्रमजीवियों को भी अपने परिश्रम का अंश प्रदान करना पड़ता था। मनु के अनुसार कारुक, शिल्पी, शूद्र तथा परिश्रम करके धन उपार्जन करने वाले व्यक्तियों को प्रतिमास एक दिन राज्य का कार्य करना पड़ता था। गौतम और विष्णु का भी ऐसा भी मत है।[५] शुक्र के अनुसार तो शिल्पियों को प्रत्येक पक्ष में एक दिन राज्य का कार्य करना चाहिये।[६]

कर-मुक्ति

यद्यपि कर भार सभी वर्गों पर था परन्तु कुछ वर्ग ऐसे भी थे जो इससे मुक्त थे। इस वर्ग में बृद्ध, बालक, रोगी, स्त्री, विद्यार्थी, सन्यासी आदि थे। यह लोग या तो उपार्जन के अयोग्य थे अथवा अन्य कारणों से उपार्जन न करते थे। मनु अन्धे, पंगु, सत्तर वर्ष से ऊपर आयु वाले व्यक्ति तथा सन्यासियों को कर से मुक्त करते हैं।[७] वशिष्ठ इस वर्ग के अन्तर्गत राजपुरुष, कुमारी कन्या, बिधवा तथा ऐसी स्त्रियां जिनके पुत्र मर चुके हों, भिक्षु आदि को भी स्थान देते हैं।[८] महाभारत भी इस सिद्धान्त का अनुमोदन करता है। शान्ति पर्व में भीष्म उतथ्य को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि

---

१ शान्ति, ८९.११; ९४.३४, तथा १२०.३१.
२ अर्थशास्त्र, ५.२.
३ नीतिसार, ५.८२.
४ लुटेरे और जुआरियों को भी अपनी अर्जित सम्पत्ति पर कर देना पड़ता था, यथा शुक्र, ४.८२२; नारद, १७-८.
५ मनु,७.१३७-३८; गौतम, १०; विष्णु, ३.३२.
६ शुक्र, ४.२३२.
७ मनु, ८. ३९४.
८ वशिष्ठ, १९.१५.

जब सरकार निर्धनों से कर ग्रहण करती है तब विनाश के लक्षण उत्पन्न होते हैं।[१] उसी पर्व में अन्यत्र कहा गया है कि कर उसी व्यक्ति से लेना चाहिये जो उसके भार को सहन करने में समर्थ हो। साथ ही, उस व्यक्ति की आय-व्यय की भली-भाँति परीक्षा भी कर लेना चाहिए।[२] श्रोत्रिय जो स्वतः निर्धनों का सा जीवन व्यतीत करते थे कर भार से विमुक्त थे।[३] विष्णु और वशिष्ठ स्मृतियाँ यह छूट सभी ब्राह्मणों को देती हैं।[४] महाभारत के अनुसार केवल वेद-शास्त्र के ज्ञाता अग्निहोत्री ब्राह्मण ही कर से मुक्त थे। जो व्यापार या व्यवसाय करते थे उनको समुचित कर देना पड़ता था।[५] नारद और विज्ञानेश्वर का भी ऐसा ही मत है।[६] ब्राह्मणों को उपलब्ध निधि तथा उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी कुछ रियायतें प्राप्त थीं।[७] सन्यासियों के प्रसंग में भी हमें मत-भिन्नता दिखायी देती है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि मनु और वशिष्ठ के अनुसार सन्यासी कर-भार से मुक्त थे, परन्तु कौटिल्य के अनुसार उन्हें बीने हुये धान्य का षष्टमांश राजा को देना चाहिये जो उनकी रक्षा करता है।[८] स्त्रियों को भी कर-भार से मुक्त कर दिया गया था, क्यकि इनके आर्थिक अधिकार बहुत सीमित थे।[९]

कर-परिहार

असाधारण परिस्थितियों में पूर्णतः अथवा अंशतः कर भार में कमी कर देने का भी विधान पाया जाता है। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र कई नियम प्रतिपादित करता है। ऐसा व्यक्ति जो भूमि को कृषि योग्य बनाता है, अथवा जो कुआं और तालाब का निर्माण करके सिंचाई द्वारा उपज को बढ़ाता है, उससे प्रारम्भ में राजा को केवल नाम मात्र का कर लेना चाहिये और चार पांच वर्ष में क्रमशः बढ़ाकर निर्धारित कर ग्रहण करना चाहिये।[१०] इसी प्रकार नव-निर्मित बस्तियों से भी कम कर वसूल करना

---

१ शान्ति, ९२. २४.
२ शान्ति, १२०. ९.
३ मनु, ७. १३३; वशिष्ठ, १९. १५; बृहस्पति, १. १७. ३.
४ विष्णु, ३. २६-२७; वशिष्ठ, १. ४५-४६.
५ शान्ति, ७७.७; ९-१०, में स्पष्ट कहा गया है कि केवल ब्रह्मसम तथा देव-कल्प ब्राह्मण कर से मुक्त थे।
६ नारद, ३. १४; १८. ३८; याज्ञवल्क्य, २. ४ पर मिताक्षरा की टीका।
७ यथा, मनु, ८. ३७; विष्णु, १७. १३-१४.
८ अर्थशास्त्र, १. १३.
९ यथा, मनु, ८. ४१६.
१० अर्थशास्त्र, ३.९, तथा शुक्र, ४.२३२.

चाहिये ।[1] युद्ध, अकाल तथा व्यापक बीमारियों के अवसर पर भी कर परिहार की व्यवस्था थी ।[2] इसी प्रकार नव-विजित देशों में भी कौटिल्य के अनुसार करों में छूट देना चाहिये, जिससे वहां की प्रजा का समर्थन प्राप्त हो सके ।[3] अर्थशास्त्र में अन्यत्र कुछ ऐसी वस्तुओं का उल्लेख है जो शुल्क से मुक्त थीं, यथा, वह जो संस्कार, यज्ञ, तथा अन्य धार्मिक कृत्यों के लिये उपयोगी थीं । नारद ब्राह्मणों को भिक्षा में मिला हुआ धन तथा कलाकारों की अर्जित सम्पत्ति पर भी कर लगाने के पक्ष में न थे ।[4]

आपत्ति कालीन कर-व्यवस्था

भारतीय आचार्यों ने कर की दर तो निश्चित कर दी थी, लेकिन युद्ध, दुर्भिक्ष आदि से उत्पन्न होने वाली स्थिति के लिए उन्होने विशेष विधान बनाया था । ऐसी परिस्थिति में साधारण कर से कार्य नहीं चल सकता था । उदाहरणार्थ, मनु जो अत्यधिक आवश्यकता में भी प्रजा से अनुचित धन लेने के पक्ष में नहीं हैं, ऐसी विषम परिस्थिति में राजा को षष्टमांश के स्थान पर उपज का चतुर्थांश ग्रहण करने का आदेश देते हैं । इसी प्रकार वह अन्य करों में भी वृद्धि के पक्षपाती हैं ।[5] शुक्र के मत से साधारण स्थिति में तो राजा को दण्ड, भूभाग, तथा शुल्क में वृद्धि न करना चाहिये, और न उसे तीर्थ तथा देव सम्पत्ति पर ही कर लेना चाहिये, परन्तु युद्ध के अवसर पर वह राजा को कर सम्बन्धी विशेष अधिकार देने के पक्ष में हैं ।[6] कौटिल्य भी ऐसे अवसर पर राजा को चतुर्थांश या तृतीयांश कर लेने की अनुमति देते हैं । उनके अनुसार ऐसी परिस्थिति में वह व्यापारी, पशुपालक, कारुक, कुशीलव तथा रूपाजीवा स्त्रियों से भी कर ले सकता है, परन्तु वह प्रत्येक आपत्तिकाल में केवल एक ही बार ऐसी कर-वृद्धि की अनुमति देते हैं । वह कर-वृद्धि के समर्थक नहीं हैं परन्तु अन्य साधनों से वह धन अपहरण करने का विरोध भी नहीं करते । यहां तक कि चोरी और झूठा दोषारोपण करके सम्पत्ति अपहरण करने के भी पक्षपाती हैं । लेकिन यह साधन केवल देशद्रोही तथा अधार्मिक व्यक्तियों के सम्बन्ध में ही प्रयोग करना चाहिये ।[7] शुक्र वृहस्पति, पराशर आदि भी इसी प्रकार के आदेश देते हैं । सोमेश्वर सिक्कों में मिश्रण

---

१ अर्थशास्त्र, २.१.
२ नीतिसार, १४.५४.
३ अर्थशास्त्र, १३.५.
४ अर्थशास्त्र, २.२१-२२; नारद, ३.१५.
५ मनु, १०.११८; १२०.
६ शुक्र, ४.१२४-२५.
७ अर्थशास्त्र, ५.२.

की भी अनुमति देते हैं ।[1]

महाभारत में भी इस प्रसंग में कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं । इस ग्रन्थ के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर राजा सन्यासी तथा ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य सभी वर्गों की सम्पत्ति आत्मसात् कर सकता है । धनी व्यक्तियों से धन वसूल करने के लिये बल का भी प्रयोग किया जा सकता है । प्रतिबंध केवल इतना ही है कि यह धन प्रजा-रक्षार्थ ही व्यय किया जाना चाहिये ।[2]

प्राचीन आचार्यों के अनुसार जिस प्रकार यज्ञ में हिंसा से दोष नही होता, उसी प्रकार प्रजा-रक्षार्थ यदि राजा कुछ अन्याय करता है तो उसको भी दोष नहीं होता । इस प्रसंग में महाभारत का निम्नोक्त कथन बहुत महत्वपूर्ण है :

अकार्यमपि यज्ञार्थं क्रियते यज्ञकर्मसु ।
एतस्मात्कारणद्राजा न दोषं प्राप्तुमर्हति ॥
अर्थार्थमन्यद्भवति विपरीतमथापरम् ।
अनर्थार्थमथाप्यन्यत्तत्सर्वं ह्यर्थलक्षणम् ।
एवं बुद्धया संपश्येन्मेधावी कार्यनिश्चयम् ॥[3]

इस ग्रन्थ में अन्यत्र एक और महत्वपूर्ण कथन है: 'जिस प्रकार राजा प्रजा की रक्षा हेतु अपनी समस्त सम्पत्ति व्यय कर डालता है, उसी प्रकार आपत्तिकाल में हर संभव प्रकार से राजा की रक्षा करना राष्ट्र का कर्तव्य हो जाता है' ।

राजा राष्ट्रं यथापत्सु द्रव्यौघैः परिरक्षति ।
राष्ट्रेण राजा व्यसने परिरक्ष्यस्तथा भवेत् ॥[4]

कौटिल्य के अनुसार अन्य उपायों का अवलम्बन लेने के पूर्व राजा को प्रजा से प्रणय संग्रह करना चाहिये । 'पौरजानपदानभिक्षेत्' शब्द राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं ।[5] कौटिल्य यह भी कहते हैं कि जो व्यक्ति राजा की प्रार्थना पर धन अर्पण करे उसका समुचित आदर करना चाहिये । महाभारत में भी ऐसा ही मत व्यक्त किया गया है । उसके अनुसार राजा प्रजा से धन के लिये प्रार्थना करे, 'प्रार्थयिष्ये' ।[6] इस

---

१ वृहत्पराशर स्मृति, अध्याय १०; शुक्र, ४.१२६; अभिलषितार्थ-चिन्तामणि, पृष्ठ ७७, पद ३१९.
२ शान्ति, १२८.२०-२१; २६-२७.
३ शान्ति, १२८.३७-३८.
४ शान्ति, १२८.३१.
५ अर्थशास्त्र, ५.२.
६ शान्ति, ८८.२७.

ग्रन्थ में तो राजा की प्रार्थना की रूपरेखा भी प्रस्तुत की गयी है। इस अपील का अन्त इस प्रकार किया गया है —'कष्ट के समय तुम्हें धन इतना प्रिय न होना चाहिये'। साथ ही राजा को यह आदेश दिया गया है कि आपत्ति काल समाप्त होने पर वह प्रजा से लिया हुआ धन लौटा दे।[१] जायसवाल ने कर-संग्रह के नियमों पर अपना मत व्यक्त करते हुए यथेष्ठ ही कहा है कि धन संग्रह करने के यह विचित्र ढंग एक ओर तो कानून का व्यापक अधिकार प्रमाणित करते हैं और दूसरी ओर शास्त्रीय कर-प्रणाली की त्रुटि।[२] परन्तु इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारत के प्राचीन राजा कर ग्रहण करते समय धर्मशास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे।

कर का औचित्य

भारत के प्राचीन राजशास्त्र-विचारकों ने कर के औचित्य की भी विवेचना की है। उनके मतानुसार प्रजा की रक्षा हेतु राजा उससे कर लेने का अधिकारी है।[३] यह सिद्धान्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कामन्दक के नीतिसार में प्रतिपादित किया गया है। महाभारत मे भी ऐसा ही मत व्यक्त किया गया है। शान्ति पर्व में उल्लिखित है :–

आददीत बलिं चैव प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
षड्भागममितप्रज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥[४]

मनु के अनुसार ऐसा राजा जो प्रजा की रक्षा नहीं करता, परन्तु उससे कर वसूल करता है अधोगति को प्राप्त होता है।[५] महाभारत ऐसे राजा को तस्कर कहता है।

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत।
न रक्षति प्रजाः सम्यग्यः स पार्थिव तस्करः ॥[६]

प्रजा-रक्षण राजा का प्रधान कर्तव्य माना गया है और प्रजा से धन लेने का वह तभी तक अधिकारी है जब तक वह उसकी रक्षा करता है। इसी आधार पर महाभारत कर को राजा का वेतन मानता है।[७] नारद भी कर को प्रजारक्षण के बदले राजा का पुरस्कार

---

१ शान्ति, ८८.२४-३१.
२ *Hindu Polity*, p. 327.
३ यथा, अर्थशास्त्र, १.१३; बृहस्पति, १.१४१; गौतम, अध्याय १०.
४ शान्ति ६९.२४; तथा ७२ १९.
५ मनु, ८.३०७-९.
६ शान्ति (गीता), १३९.१००., आदि पर्व में ऐसे राजा को पापाचारी कहा गया है। आदि (गीता), २१२.९.
७ शान्ति, ७०. १०.

मानते हैं ।[1] शुक्र इस सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं । उनके अनुसार राजा देखने में तो प्रजा का स्वामी है परन्तु वास्तव में वह उसका वेतनग्राही सेवक है ।[2] इस सिद्धान्त के आधार पर शास्त्रकार आदेश देते हैं कि यदि राजा चोर आदिकों द्वारा प्रजा का अपहृत धन प्राप्त करने में असफल रहे तो अपने कोप से उसकी क्षति पूर्ति करे । यह सिद्धान्त विष्णु, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य स्मृतियों के अतिरिक्त महाभारत और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी प्रतिपादित किया गया है ।[3] इसका आधार यही है कि यदि राजा प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ है तो उसे कर लेने का अधिकार नही है । ऐसा राजा, जो कर तो लेता है परन्तु प्रजा की रक्षा नहीं करता, अपनी प्रजा के पापों का अर्धभागी होता है ।[4] महाभारत के अनुसार मनुष्यों के प्रथम राजा मनु तथा उनकी प्रजा के मध्य जो अनुबंध हुआ था उसके अनुसार प्रजा ने राजा को कर देने की प्रतिज्ञा की थी ।[5] पराशर तो यहाँ तक कहते हैं कि कृषक अपनी उपज का षष्टमांश राजा को देकर पापों से मुक्त हो जाते हैं ।[6] कर न देने वाले व्यक्ति दण्डनीय माने गये हैं ।[7] भीष्म भी ऐसे व्यक्ति को जो कर संग्रह में बाधा उपस्थित करता है दण्डनीय मानते हैं ।[8] कर ही राज्य का मूल था और सुसंचालित शासन-व्यवस्था राजा के ही नहीं प्रजा के भी हित में थी । प्रजा से संग्रहीत कर उसी के हित में व्यय किये जाते थे ।[9] राजा अपने आमोद-प्रमोद के लिए इस धन का उपभोग न कर सकता था । शुक्र का कथन है कि जो राजा कर का उपयोग केवल अपने तथा अपने स्त्री-पुत्रों के लिए करता है वह नरकगामी होता है ।[10] राजा को सूर्य का अनुकरण करना चाहिये जो पृथ्वी से जल सोख कर वर्षा के रूप में उसी को वापस कर

---

१ नारद, १८. ४८.
२ शुक्र, १. १८७.
३ विष्णु, ३. ६६-६७; याज्ञवल्क्य, २. ३६; बृहस्पति, १. ७. ७०; विष्णुधर्मोत्तर २. ६१. ४९, तथा शान्ति, ७६.१०.
४ शान्ति, ७६. ८-९; याज्ञवल्क्य, १. ३३७; अर्थशास्त्र, १. १३८. इसके विपरीत प्रजा-रक्षक राजा उसकी पुण्य में भागी होता है, यथा शान्ति, ६७. २७; ७६. ६-७; ८८. १८-२०; मनु, ८. ३०४-५, इत्यादि ।
५ शान्ति, ६७.२३; (गीता) ६७.२३-२४.
६ पराशर, २-१४.
७ यथा, बृहस्पति, १.१७, २१-२२; नारद, ३.१२-१३, इत्यादि.
८ शान्ति, १२८.४२.
९ शुक्र, ४.१२; ५३ तथा ४.११८.
१० शुक्र, ४.११९.

देता है।[1] इस आदर्श का समुचित उदाहरण हमें महाभारत में मिलता है। जब गालव ऋषि ने उशीनर-नरेश से अपनी कन्या माधवी के विवाह के उपलक्ष में शुल्क की याचना की तब राजा ने उत्तर दिया :—

> मूल्येनापि समं कुर्यां तवाहं द्विज सत्तम।
> पौरजानपदार्थं तु ममार्थोनात्मभोगतः॥
> कामतो हि धनं: राजा पारक्यं यः प्रयच्छति।
> न स धर्मेण धर्मात्मिन्युज्यते यशसा न च॥[2]

महाभारत में स्मृतियों की भाँति कर सम्बन्धी सिद्धान्त तो विस्तार पूर्वक प्रतिपादित किये गये हैं परन्तु उनके विपरीत इस ग्रन्थ से कर व्यवस्था पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। भीष्म कृषि, पशु पालन तथा वाणिज्य, मनुष्यों के प्रमुख व्यवसाय मानते हैं।[3] अतः राज्य की आय के भी यही प्रमुख साधन रहे होंगे। इसकी पुष्टि मनु के कथानक से होती है। उनसे राजपद ग्रहण करने का अनुरोध करते समय प्रजा ने अपने धान्य, पशु और हिरण्य की आय का निर्धारित अंश राजा को देने की प्रतिज्ञा की थी।[4] एक स्थान पर भीष्म बलि को और अन्यत्र आकर, लवण शुल्क, तर तथा नागबन को राज्य की आय का साधन बताते हैं।[5]

बलि

राज्य की आय का प्रमुख साधन बलि अथवा भूमि-कर था। महाभारत के अनुसार यह कर बहुत प्राचीन था, क्योंकि जब मनुष्यों के प्रथम राजा मनु और उनकी प्रजा में अनुबंध हुआ था तब प्रजा ने उनको अपनी कृषि की आय का दशमांश देने की प्रतिज्ञा की थी।[6] परन्तु उत्तर युगों में राजा प्रजा से बलि-रूप में कृषि की उपज का षष्टमांश ग्रहण करने लगा। इस दर का उल्लेख प्रायः सभी ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[7] भीष्म भी कहते हैं कि राजा प्रजा की रक्षा करता है इसलिए वह उसकी आय का षड्भाग ग्रहण करने का अधिकारी है। यद्यपि साधारणतया राजा षष्टमांश ही ग्रहण

---

१ मनु ९.३०५; नीतिसार, १.१८। यही उपमा महाभारत के आरण्य पर्व में पायी जाती है।
२ उद्योग, ११६.१३-१४.
३ शान्ति, ९०. ७.
४ शान्ति, ६७. २३; (गीता),६७. २३-२४.
५ शान्ति, ६९. २५-२८; ७२. १०.
६ शान्ति, ६७. २३; (गीता) ६७. २३-२४.
७ यथा, मनु, ८. ३०८; नारद, १८. ४८; अर्थशास्त्र, १. १३, इत्यादि.

करता था परन्तु स्मृतियों में इस कर की अन्य दरों का भी उल्लेख किया गया है।[१]

शुल्क

राज्य की आय का अन्य प्रमुख साधन शुल्क था। इसकी तुलना हम वर्तमान चुंगी कर से कर सकते हैं। यह कर आयात-निर्यात एवम् देश में निर्मित वस्तुओं पर लिया जाता था। शान्ति पर्व के दो अध्यायों में भीष्म राजा से शुल्क ग्रहण करने का आदेश देते हैं।[२] परन्तु शुल्क की दर क्या थी इस विषय पर वह मौन हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम, कौटिल्य आदि ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।[३]

हिरण्य-कर

भीष्म के अनुसार मनु की प्रजा ने हिरण्य का पचासवाँ भाग अपने राजा को देने की प्रतिज्ञा की थी।[४] मनु आदि स्मृतिकारों ने भी इसका उल्लेख किया है। उनके अनुसार इस कर की दर दो प्रतिशत थी, जो संभवत उन व्यापारियों से ली जाती थी जो स्वर्ण का क्रय-विक्रय करते थे। निश्चय ही इस कर का सम्बन्ध स्वर्ण की उत्पत्ति से न था। क्योंकि आकर सम्बन्धी करों का विशिष्ट विधान था।

पशु-कर

भीष्म यह भी कहते हैं कि मनु की प्रजा ने अपने पशुओं की वृद्धि का पचासवाँ भाग राजा को देने की प्रतिज्ञा की थी।[५] मनु, विष्णु, गौतम आदि स्मृतिकार भी इसका उल्लेख करते हैं। पशुपालकों से उनकी आय का दो प्रतिशत कर ग्रहण किया जाता था। शुक्र तो इस कर की विभिन्न दरें निर्धारित करते हैं।[६]

आकर

आकर भी राज्य की आय का महत्वपूर्ण साधन था। वस्तुतः यह राज्य की ही सम्पति समझी जाती थी। मनुस्मृति, शुक्रनीति और अर्थशास्त्र में आकर संबंधी

---

१ मनु, ७. १३०; गौतम, १०. २४; अर्थशास्त्र, २. २४.
२ शान्ति, ६९. २८; ८०. १०.
३ मनु, ८. ३९८; याज्ञवल्क्य, २, २६१; गौतम, १०. २६; अर्थशास्त्र, २. २२.
४ शान्ति, ६७. २३.
५ शान्ति, ६७. २३.
६ यथा, मनु ७.१३०; शुक्र, ४.२३१.

नियम विस्तार पूर्वक प्रतिपादित किये गये हैं ।[1] भीष्म राजा को आकर के निरीक्षण के लिए विश्वस्त अमात्यों को नियुक्त[2] करने का आदेश देते हैं ।

लव

लवण से भी राज्य को पर्याप्त आय होती थी । राजा स्वयं लवण का उत्पादन कराता था । अन्य लवण-निर्माताओं को उसे कर देना पड़ता था । इसी भाँति लवण आयात पर भी वह कर ग्रहण करता था । भीष्म इस प्रसंग में केवल इतना ही आदेश देते हैं कि लवण के उत्पादन आदि के लिए राजा आप्त पुरुषों की नियुक्ति करे ।[3]

नाग-बन

नागबन राज्य की सम्पत्ति माने जाते थे और यह उसकी आय के महत्वपूर्ण साधन थे । नागबनों से जो नाग (हाथी) प्राप्त होते थे वे सेना के काम आते थे । इस प्रकार वे राजा के बल की अभिबृद्धि के साधन थे । अतएव भीष्म युधिष्ठर को आदेश देते है कि वह नागबनों में विश्वासपात्र पुरुषों की नियुक्ति करें ।[4]

तर

प्राचीन भारत में नदी आदि के घाटों पर राज्य की ओर से सन्तरण-कर ग्रहण करने की व्यवस्था थी । मनुस्मृति तथा अर्थशास्त्र में इस पर समुचित प्रकाश डाला गया है । ब्राह्मण, विद्यार्थी, सन्यासी आदि इस कर से मुक्त थे । शान्ति पर्व में एक स्थल पर भीष्म ने भी राजा को तर-कर ग्रहण करने का आदेश दिया है,[5] परन्तु कर सम्बन्धी नियमों पर वह मौन हैं ।

करों के अतिरिक्त आय के अन्य साधनों में हम दण्ड, सामन्त राजाओं द्वारा प्राप्त उपहार, एवम् विजय से प्राप्त धन का भी उल्लेख कर सकते हैं । अर्थ-दण्ड राज्य की आय का साधन था । धर्मशास्त्र में विभिन्न अपराधों और अपराधियों द्वारा दिये दण्ड का समुचित वृत्तान्त प्राप्त होता है । महाभारत में भी भीष्म ने इसका उल्लेख चार प्रकार के दण्डों में किया है । उनके अनुसार अपराधी से अर्थ-दण्ड लिया जाता था ।[6] अन्य स्थल पर मत्त-उन्मत्त आदि दस प्रकार के दण्डनीय मनुष्यों से धन दण्ड

---

१ यथा, मनु ८.३९; अर्थशास्त्र २.
२ शान्ति, ६९.२८.
३ उपर्युक्त.
४ मनु, ८.४०४-४०६; अर्थशास्त्र २.२७-२९.
५ शान्ति, ६९.२८.
६ शान्ति, १६६.२९; ७२-१०.

लेने का उल्लेख है।[1] सामन्त शासकों से भी राजा को नियमित उपहार, और कर मिला करते थे। राजसूय यज्ञ के अवसर पर अधीनस्थ शासकों ने युधिष्ठिर को बहुमूल्य उपहार भेंट में दिये थे।[2] युद्ध में प्राप्त होने वाला धन भी आय का साधन था। भीमसेन ने अनेक राजाओं को जीत कर उनसे कर के रूप में भांति-भांति के रत्न प्राप्त किये थे।[3] इसी प्रकार अर्जुन और सहदेव द्वारा पराजित राजाओं से धन प्राप्त करने का भी उल्लेख मिलता है। इस धनराशि में, स्वर्ण, मणि, मुक्ता, मूँगा, रत्न, आभूषण, स्वर्ण तथा रजत के वर्तन आदि सम्मिलित थे।[4] रत्नों का भारी संग्रह साथ लिये जब सहदेव ने इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश किया, उस समय पैरों की धमक से पृथ्वी कम्पित हो उठी थी। इसमें सहस्र कोटि से अधिक तो स्वर्ण ही था जिसे उन्होंने धर्मपुत्र युधिष्ठिर की सेवा में अर्पित किया था।[5] नकुल द्वारा पश्चिम विजय में उन्हें म्लेच्छ, पहलव, बर्बर, किरात यवन और शकों से बहुमूल्य रत्न प्राप्त हुए थे। कहा जाता है उनके द्वारा विजित धन का बोझ दस सहस्र गज कठिनाई से ढो रहे थे।[6] शान्ति पर्व में भी विजित धन का उल्लेख प्राप्त होता है।[7] इनके अतिरिक्त विशिष्ठ अवसरों पर नागरिक भी राजा को उपहार दिया करते थे। युधिष्ठिर के राजसूय के अवसर पर प्रजा के समस्त वर्गों ने मिल कर तीन खरब रुपये प्रदान किये थे।

कौटिल्य के अनुसार राज्य स्वयं उत्पादन और व्यापार करता था। पशु, आकर लवण आदि पर उसका अधिकार था।[8] महाभारत से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। इसमें अनेकशः उल्लिखित है कि राज्य की ओर से पशु-पालन का प्रबंध था। दुर्योधन घोष में स्वयं उपस्थित होकर पशुओं की लांछन क्रिया का निरीक्षण करता था।[9] अन्यत्र युधिष्ठिर और विराट की पशु-शाला का उल्लेख मिलता है, जिसमें सहस्रों पशुओं का पालन किया जाता था।[10] इसी भाँति बन, आकर, लवण आदि पर राज्य का एकाधिकार था।[11] इनके निरीक्षण के लिए आप्त पुरुषों की नियुक्ति की जाती थी।

---

१ शान्ति, ६९.२५.
२ सभा (गीता), ५२.
३ सभा, २७.
४ सभा, २८.२९.
५ सभा (गीता), ३१, पृ० ७६३-६४.
६ सभा, २९.१७.
७ शान्ति, २८३. १-२.
८ अर्थशास्त्र, २. १२.
९ आरण्य (गीता), २३९. ४०.
१० विराट, ३.
११ शान्ति, ६९. २८.

व्यय

महाभारत से राजकीय व्यय पर अपेक्षाकृत कम प्रकाश पड़ता हैं। व्यय के मुख्य स्रोत निम्नलिखित प्रतीत होते हैं :–

१ राजपरिवार,
२ राजकीय कर्मचारी, उनका वेतन, भत्ता, पुरस्कार,
३ सेना और दुर्ग, जिनपर राज्य की रक्षा आधारित थी,
४ दान और धर्म, जिसके अन्तर्गत यज्ञ, देवालय आदि भी सम्मिलित थे,
५ सार्वजनिक निर्माण कार्य, पथ, जलाशय ,विश्रामालय, आदि.

अनुशासन पर्व में राजा के कोष को चार भागों में विभाजित करने का आदेश दिया गया है : धर्मार्थ, पौष्यवर्ग के पोषणार्थ, राजपरिवार के लिए तथा देश-कालवश आने वाली आपत्ति के लिए।[१] सभापर्व में कार्तबीर्य अर्जुन का उल्लेख है। उसने भी अपने राज्य की आय को चार भागों में विभाजित किया था। प्रथम अंश से सेना का संग्रह और संरक्षण, द्वितीय से राजपरिवार का भरण-पोषण, और तृतीय से यज्ञानुष्ठान तथा प्रजा का योग-क्षेम सम्पन्न करता था। चतुर्थांश दस्यु-दमन पर व्यय करता था।[२]

महाभारत के अनुसार राज्य की समस्त आय व्यय न करना चाहिये। संचय भी नितान्त आवश्यक था। भीष्म कहते हैं कि राजा को सर्व प्रथम बचत की ओर ध्यान देना चाहिये। शेष धन धर्म और काम के उपार्जन में व्यय करे।[३] भीष्म का कथन बहुत यथेष्ठ है कि कोष सदैव भरा-पुरा रहना चाहिये, और उसके निरीक्षण के लिए आप्त पुरुष नियुक्त करना चाहिये।[४] निरर्थक व्यय के वह सर्वथा विरुद्ध हैं।[५] नारद का आदेश है कि व्यय आय का चतुर्थांश, तृतीयांश, या अर्धांश, होना चाहिये।[६] उपरोक्त विश्लेषण से विदित होता है कि महाभारत-काल में भी आय-व्यय के कुछ निश्चित सिद्धान्त थे। संभवतः वर्तमान युग की भाँति उस समय भी बजट बनाकर

---

१ अनुशासन (गीता), १४५ पृ० ५९५० :
चतुर्धा विभजेत् कोषं धर्मभृत्यात्मकारणात् ।
आपदर्थं च नीतिज्ञो देशकालवशेन तु ॥
२ सभा (गीता), ३८, पृ० ७९२.
३ शान्ति, १२०. ३३.
४ सभा, ५. ५७; शान्ति, ११९. १६; आश्रमवासिक, ५.३६.
५ सभा, ५. २०; शान्ति, १२०. ३६-३८.
६ सभा, ५. ६०.

आय-व्यय के निश्चित अनुपात को मान्यता दी जाती थी। आरण्य पर्व में अगस्त्य मुनि के कथानक से विदित होता है कि राज्य की आय-व्यय का समुचित लेखा रखा जाता था। अगस्त्य मुनि धन प्राप्ति हेतु कतिपय राजाओं के यहां गये। प्रत्येक राजा ने उनके सामने आय-व्यय का लेखा प्रस्तुत कर दिया, जिनको देखकर उनको विदित हुआ कि प्रत्येक राज्य में आय-व्यय बराबर और बचत कुछ भी न थी।[१] इससे विदित होता है कि आवश्यक व्यय के पश्चात् बचत संभव न थी। किन्तु महाभारतकार राज्य के लिए बचत आवश्यक मानता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि महाभारत में धर्मशास्त्र-अर्थशास्त्र की भाँति राज्य की आय का विस्तृत और समुचित विवरण नहीं प्राप्त होता परन्तु इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश अवश्य पड़ता है।

---

१ आरण्य, ९६.

९

सैन्य व्यवस्था

प्राचीन काल में भारतवर्ष प्रायः छोटे २ राज्यों में विभक्त रहा है। महाभारत से भी ऐसी ही स्थिति प्रमाणित होती है। यह सभी राज्य साम्राज्य लिप्सा से अनुप्रेरित थे और अन्य राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। ऐसी स्थिति में युद्ध अवश्यमभावी था। अतः प्रत्येक राजा अपने राज्य की रक्षा के लिए सैनिक नियुक्त करता था, और दुर्गों का निर्माण। सेना रक्षा और आक्रमण दोनों ही के काम आती थी, परन्तु दुर्ग प्रधानतः रक्षा के निमित्त निर्मित किये जाते थे।

सेना

महाभारत युग में सेना को राज्य के अंगों में स्थान प्राप्त हो चुका था। उत्तर युगों में भी उसका महत्व अक्षुण्ण बना रहा, परन्तु किसी भी राजशास्त्र-प्रणेता ने राज्य के अंगों में इसे प्रथम स्थान नहीं दिया है। महत्व-क्रम से इसे साधारणतया षष्टम स्थान ही दिया गया है।

कौटिल्य सेना और कोष के महत्व की तुलनात्मक विवेचना करते हुए कहते हैं कि 'सेना कोष के आश्रित है। कोष के अभाव में—वह शत्रु से मिल सकती है, राजा का वध कर सकती है और अन्य सभी प्रकार के संकट उपस्थित कर सकती है'।[1] इसके विपरीत कामन्दक सेना और कोष दोनों ही को राज्य का बल मानते हैं।[2] वास्तव में वह सेना को ही अधिक महत्व देते हैं। उनके अनुसार 'सुसैन्य-सम्पन्न शासक के शत्रु भी उसके मित्र बन जाते हैं। वह समस्त पृथ्वी को अधिकृत कर लेता है। सुसंगठित सेना राज्य की रक्षा और उसकी अभिवृद्धि करती है। स्वपक्ष को दृढ़ तथा शत्रु पक्ष का विनाश करती है। सेना के व्यसनग्रस्त होने से सब कुछ विनष्ट हो जाता है'।[3]

---

१ अर्थशास्त्र, ८.१.
२ नीतिसार, १६.१३
३ नीतिसार, १४.३५-३७.

शुक्र का भी कथन हैं कि बिना सेना के न राज्य संभव है, और न धन तथा बल। कोष सेना का मूल है, तो सेना कोष का। सेना की सहायता से ही कोष और राष्ट्र की अभिबृद्धि होती है और शत्रु का विनाश।[१] महाभारत में भी कामन्दक की भांति कृपाचार्य कहते हैं कि उत्तम कोष और सेना सम्पन्न राजा सदैव सफलता प्राप्त करता है। ऐसा राजा बलवान से बलवान शत्रु का भी सामना कर सकता है।[२]

सेना की संख्या

सेना के महत्व के कारण ही राजा बहुत बड़ी सेना रखते थे। इसका आभास इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। आरण्य पर्व में रामचन्द्र की बानर सेना की संख्या का वर्णन है। सुषेण के साथ सहस्र कोटि, गज और गवय के साथ एक एक अरब, गवाक्ष, गन्धमादन और पनस के अधीन क्रमशः छः अरब, दस खरब, तथा सत्तावन करोड़ बानर सेना थी, और जाम्बवान के साथ दस खरब रीछों की सेना।[३]

राजा विराट की सेना में आठ सहस्र रथी, एक सहस्र गज तथा साठ सहस्र अश्वारोही और बहुत बड़ी पैदल सेना थी। अन्यत्र, भगवान बासुदेव की सेना का वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें दस सहस्र गज, उससे द्विगुणित अश्व, दस सहस्र रथ और दस लाख पैदल सेना थी।[४] अन्यत्र स्वयं भगवान कृष्ण के साथ एक अरबुद गोपों की विशाल सेना का उल्लेख है।[५]

उद्योग पर्व में पाण्डवों की सहायतार्थ आये हुए नरेशों की सेना-संख्या भी प्रमाणित करती है कि उस युग में राजा विशाल सेना रखते थे। बृष्णि वंशी चेकितान और युयुधान-सात्यकि अपने साथ पृथक २ एक अक्षौहिणी सेना लाये थे। पांचाल-नरेश द्रुपद, राजा विराट, मगध-नरेश सहदेव, तथा चेदिराज धृष्टकेतु एवं केकय राजकुमार सभी एक एक अक्षौहिणी सेना के साथ थे।[६] युद्ध के अवसर पर पाण्डवों के साथ सात और कौरवों के साथ ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी।[७]

---

१ शुक्रनीति, ४.१२९-३०.
२ विराट (गीता), २९.१२-१३.
३ आरण्य, २८३.२-८.
४ विराट (गीता), ७२.२५
५ उद्योग, ७.१९.
६ उद्योग, ५६.१-१०.
७ उद्योग, १५२.२३, तथा ५५.१.

सेना के गुण

हमारे आचार्यों ने सेना के गुण और दोषों की विवेचना की है। इस प्रसंग में सर्वाधिक उल्लेखनीय वर्णन हमें नीतिसार में मिलता है। इसके अनुसार अच्छी सेना में अधिकांशतः क्षत्रिय कुलोत्पन्न मौल सैनिक होते हैं, जो राज्य के नागरिक, विनयान्वित, सर्व युद्ध क्रियाओं में दक्ष, परिश्रमी तथा सब प्रकार की असुविधायें सहन करने में समर्थ होते हैं। अच्छी सेना सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र तथा यान-वाहनों से सम्पन्न, राजा से वेतन प्राप्त तथा उसके अधीन होती है। उसके अधिकारी योग्य, अनुभवी तथा स्वामिभक्त होते हैं।[१]

कामन्दक ने उन बातों का भी उल्लेख किया है जो सेना की दक्षता को कम करती हैं। उनमें से कुछ का सम्बन्ध तो युद्ध-भूमि में सेना की स्थिति से है और अन्य साधारण प्रकार की हैं। प्रथम कोटि में अनुपयुक्त स्थिति, शत्रु द्वारा परिवेष्ठित, पीछे से आक्रमण का भय, सैनिक अधिकारियों की अस्वस्थता, कठिन श्रम, तथा अस्त्र-शस्त्रों का, अभाव आदि हैं। दूसरी कोटि में सेना की विरक्तता, सैनिकों में भेद, दूष्य व्यक्तियों की उपस्थिति, अल्प वेतन, अपमान, और अवमान, तथा स्त्रियों की उपस्थिति हैं। जिस सेना के साथ राजा नहीं होता था वह भी दुर्बल मानी जाती थी।[२] संक्षेपतः सेना को पर्याप्त वेतन और समुचित सम्मान प्रदान करना चाहिये। सैनिकों के भोजन, विश्राम तथा चिकित्सा का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिये। सेना में स्त्री तथा दूष्य व्यक्तियों की उपस्थिति भी अवांछनीय है। जिस राजा की सेना व्यसन-ग्रसित हो उसे युद्ध न करना चाहिये।[३]

महाभारत भी स्वामि-अनुरक्त तथा हृष्ट-पुष्ट सेना को श्रेष्ठ मानता है।[४] धृतराष्ट्र के अनुसार उनकी सेना बहुगुण सम्पन्न, हृष्ट-पुष्ट, राजा के प्रति अनुरक्त तथा व्यसनों से विमुक्त थी। सैनिक निरोग, स्वस्थ, सभी प्रकार के युद्धों में कुशल, अस्त्र संचालन में दक्ष, तथा व्यायामशील थे। सेना विभिन्न प्रकार के अस्त्रों से सुसज्जित थी और अनेक अवसरों पर उसकी परीक्षा भी ली जा चुकी थी। सभी सैनिक स्वेच्छा से भर्ती हुए थे। किसी को बलात भर्ती नहीं किया गया था।[५] योग्यतानुसार

---

१ नीतिसार, ४.६३-६५.
२ नीतिसार, १४.६९-९१, तथा अर्थशास्त्र, ८.५.
३ नीतिसार, ९.३८.
४ शान्ति, १३६.११.
५ भीष्म, ७२.१-१३.

उनको वेतन दिया जाता था। शान्ति पर्व में भी स्वामी के प्रति अनुरक्त सेना ही अच्छी मानी गयी है।[1]

सेना के कार्य

सेना का प्रमुख कार्य राजा और राज्य की रक्षा करना था। परन्तु यह केवल रक्षात्मक कार्य ही न करती थी वरन् आक्रमक कार्य भी करती थी। महाभारत में हमें दोनों ही प्रकार के दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। उसके अनुसार सेना-जीवियों का कर्तव्य है कि वह सदैव राजा के हित साधन में संलग्न रहें।[2]

सेना के प्रकार

प्राय: सभी प्राचीन लेखकों ने निम्नोक्त छ: प्रकार की सेना का उल्लेख किया है :—मौल, भृत, श्रेणी, सुहृद, द्विशद तथा आटविक। यह अपने महत्व-क्रम से उल्लिखित किये गये हैं। मौलों को सेना का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना गया है और आटविकों को महत्व क्रम से अन्तिम स्थान प्रदान किया गया है।[3]

सेना के इस वर्गीकरण का आधार स्पष्टत: वह स्रोत है जिससे सैनिक प्राप्त होते थे। यदाकदा यह सब वर्ग एक साथ ही उल्लिखित नहीं मिलते। उदाहरणार्थ, रामायण में एक स्थान पर श्रेणी सेना का उल्लेख नहीं किया गया है।[4] इसी भाँति महाभारत में कुछ स्थलों पर द्विशद, या द्विशद और श्रेणी दोनों ही को छोड़ दिया गया है।[5] कतिपय अभिलेखों में भी यही स्थिति देखी जाती है।[6]

मौल

मौल सेना की तुलना वर्तमान युग की 'स्टैन्डिन्ग आर्मी' से की जा सकती है। इसके सैनिक राज्य से वेतन पाते थे, और राज्य की ही ओर से इन्हें अस्त्र-शस्त्र प्रदान किये जाते थे। यह सेना का सबसे अधिक सुशिक्षित एवं विश्वस्त अंग था। सबसे अधिक कठिन कार्य भी इसी को सौंपे जाते थे, क्योंकि इसमें सबसे अधिक क्षय-व्यय

---

१ शान्ति, १०४.३७-३८.
२ आरण्य, २४२.२-५.
३ यथा, नीतिसार, १७.६; अर्थशास्त्र, ९-२, इत्यादि.
४ रामायण, ६.१७.२४.
५ यथा, आश्रमवासिक (गीता), ८.७-८, तथा सभा, ५.५७.
६ यथा, *E. I.*, XI, p. 106.

सहन करने की सामर्थ्य थी। मौल सेना में पुश्तैनी सैनिक रहते थे जो अपनी वीरता और राजनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध थे।[१]

राजस्थान के इतिहास के आधार पर प्रोफेसर टामस ने यह मत व्यक्त किया है कि मौल सैनिक अपने राजा की जाति के ही होते थे। प्रो० काणे के अनुसार मौल सैनिकों को सैनिक सेवा के लिए जागीरें दी जाती थी।[२] अर्थशास्त्र में भी ऐसे ग्रामों का उल्लेख मिलता है, जिनको सैनिक सेवा के बदले कर से मुक्त कर दिया जाता था।[३]

भृत सैनिक

भृत सैनिक वेतन के बदले में अपनी सेवा अर्पित करते थे। इनमें विदेशी भी सम्मिलित रहते थे। उदाहरणार्थ, भारतीय राजाओं की सेना में हमें यवन, तुरुष्क, हूण, अरब आदि सैनिकों का उल्लेख मिलता है। मौल सैनिकों की अपेक्षा इनमें अनुराग और स्वामिभक्ति की भावना कम होती थी।[४] महाभारत के उद्योग पर्व में भृत तथा अभृत सैनिकों का उल्लेख किया गया है। अभृत सैनिकों से संभवत: मित्र सैन्य का बोध होता है[५]। द्रोण पर्व से विदित होता है कि कौरव सेना में म्लेच्छ, यवन, शक आदि सैनिक सम्मिलित थे।[६] संभवत: यह भृत वर्ग के रहे होंगे।

श्रेणी

श्रेणी-बल के वास्तविक अर्थ के विषय में कुछ मतभेद पाया जाता है। इसका अभिप्राय या तो श्रेणियों के ऐसे सदस्यों से है जिन्होंने सामरिक शिक्षा प्राप्त की थी, अथवा उन सैनिकों से जिनको श्रेणी अपनी सम्पत्ति की रक्षा हेतु नियुक्त करती थी।[७] राज्य के नागरिक होने के नाते आवश्यकता पड़ने पर उन्हें भी राज्य की सेना में ले लिया जाता था।[८] इन्हें राज्य से नियमित वेतन नहीं मिलता था। इसके अतिरिक्त संभवत: पेशेवर सैनिकों के भी संघ होते थे जिनको पाणिनि ने 'आयुधजीवी संघ' कहा

---

१ यथा, नीतिसार, १९.४; ११-१२.
२ *History of Dharmaśāstra*, III, p. 200.
३ अर्थशास्त्र, २.३५.
४ दृष्टव्य, नीतिसार १९.५; अर्थशास्त्र ९.२.
५ उद्योग, १६२.८.
६ द्रोण, ९३.४१-४३; १२१.१३.
७ *History of Dharmaśāstra*, III, p. 201.
८ नीतिसार, १९.५-६.

है ।[१] अर्थशास्त्र में भी हमें 'वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ' का उल्लेख मिलता है ।[२] महाभारत में श्रेणियों का उल्लेख तो अनेकशः प्राप्त होता है परन्तु उनकी सैनिक शक्ति के विषय में कुछ नहीं कहा गया है ।

सुहृद

सुहृद अथवा मित्र-बल से अभिप्राय मित्र राजा के सैनिकों से है जो आवश्यकता के समय मित्र की सेना का अंग बन जाते थे । यह सैनिक राज्य के नागरिक न थे और उनको वेतन भी अपने ही राज्य से मिलता था । फिर भी मित्रता के नाते वह विश्वस्त माने जाते थे । उनका उपयोग मुख्यतः ऐसे अवसरों पर होता था जब राजा तथा उसके मित्र दोनों का एक ही उद्देश्य होता था ।[३]

महाभारत से स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि युद्ध के अवसर पर राजा को मित्रों से सैनिक सहायता लेनी पड़ती थी । भारत युद्ध से पूर्व द्रुपद युधिष्ठिर से कहते हैं: 'हमें अपने मित्रों के पास युद्ध सन्देश भेजना चाहिये जिससे कि वह हमारे लिए सैन्य संग्रह का उद्योग करें' ।[४] उद्योग पर्व में हमें युधिष्ठर और दुर्योधन की सहायतार्थ आये हुए राजा और उनकी सेना का वर्णन प्राप्त होता है । युधिष्ठिर के पक्ष में जो मित्र सेनायें युद्ध के लिये आयी थीं, उनमें अन्धक-वृष्णि, पांचाल, विराट, मगध, चेदि, केकय आदि उल्लेखनीय हैं ।[५]

द्विशद बल

द्विशद अथवा शत्रुबल उन सैनिकों का दल था जो किसी राजा के शत्रु का परित्याग कर उसकी सेवा ग्रहण करते थे । यह सैनिक अपने स्वामी के प्रति विश्वास-घात कर सकते थे । अतएव वह अधिक विश्वस्त नहीं माने जाते थे ।[६]

आटविक-बल

जंगली जातियां भी सेना में भर्ती की जाती थी । उनकी सेना आटविक सेना कहलाती थी । कामन्दक के अनुसार यह लोग प्रकृति से अधार्मिक, लोभी, असत्यवादी

---

१ अष्टाध्यायी, ५.३.११४-१७.
२ अर्थशास्त्र, २.२.
३ नीतिसार, १९.६-७; १९-२०; अर्थशास्त्र, ९.२.
४ उद्योग, ४.७.
५ उद्योग, १९.५६.
६ नीतिसार, १९ ७-८.

एवं अनार्य होते थे। यह केवल लूटमार के लिये लड़ते थे। इन पर भी अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता था। कौटिल्य के अनुसार यह लूट के लोभ से युद्ध करते थे। यदि लूट में इन्हें कुछ न प्राप्त होता अथवा जब राजा विपद-ग्रस्त हो जाता तब वह सर्पों की भांति भयावह प्रमाणित होते थे।[1] कौरव सेना में सम्मिलित पैंशाच, बर्बर तथा पार्वतीय सैनिक संभवत: इसी वर्ग के थे।[2]

सेना के यह छ: वर्ग महत्व क्रम से उल्लिखित किये गये हैं। ऐसा मत नीतिसार, अर्थशास्त्र तथा अग्निपुराण में व्यक्त किया गया है। परन्तु महाभारत मौल और मित्र बल अन्यान्य वर्गों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ मानता है, और भृत्यों को श्रेणी के समकक्ष स्थान प्रदान करता है। इसके विपरीत अभिलषितार्थ-चिन्तामणि में मौल, भृत तथा मित्र सैनिकों को श्रेष्ठ, श्रेणी को मध्यम तथा अन्य वर्गों को अधम माना गया है। युद्ध में विभिन्न वर्गों को किस समय उपयोग करना चाहिये इसकी विशद विवेचना भी हमें नीतिसार और अर्थशास्त्र में मिलती है।

सेना के चार अंग

भारतीय लेखक सेना को चार अंगों में विभाजित करते हैं—पदाति, अश्वारोही, गजारोही, तथा रथारोही। इसी कारण सेना को चतुरंगबला अथवा चतुरंगिणी कहा गया है। वैदिक युग की सेना में केवल पदाति तथा रथारोही सैनिकों का ही उल्लेख मिलता है। परन्तु उत्तर युगों में अश्वारोही और गजारोही सैनिक भी सेना के अंग बन गये थे। सेना के इन चार अंगों का उल्लेख हमारे प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। कालान्तर में जब रथों का उपयोग बंद हो गया, तब भी सेना चतुरंगिणी ही कही जाती रही।

सेना के इन अंगों का महत्व समय समय पर घटता बढ़ता रहा है। वैदिक और महाकाव्य युग में रथों को बहुत महत्व दिया जाता था, परन्तु उत्तर युगों में गजबल को ही सेना का प्रधान अंग माना जाने लगा। पदाति और अश्व सेना का स्थान सदैव ही गौण रहा है। कौटिल्य तथा कामन्दक भी महत्व क्रम से प्रथम स्थान गज सेना को प्रदान करते हैं और तत्पश्चात क्रमश: रथ, अश्व तथा पदाति सैनिकों को। कामन्दक के अनुसार राज्य का अस्तित्व गज सेना पर आधारित है।[3] सोमदेव, सोमेश्वर तथा

---

१ अर्थशास्त्र, ९.२, तथा नीतिसार, १९.६.
२ द्रोण, १२१.१४.
३ नीतिसार, १६.१०.

अन्यान्य लेखकों ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं।[1] भारतीय शासक गज शक्ति तथा उनके शारीरिक बल का प्रयोग करना चाहते थे और इसी कारण से उनका सामरिक महत्व निरन्तर बढ़ता गया। पोरस से लेकर पृथ्वीराज के युगों तक भारतीय सेनाओं में बहुत बड़ी संख्या में गज विद्यमान रहे हैं। उद्योग पर्व के अनुसार सेना के यह चारो अंग तीन कोटि के होते थे —सार, मध्य तथा फल्गु।[2] विराट पर्व में भी ऐसा ही वर्गीकरण किया गया हैं।[3]

महाभारत में यत्र-तत्र सेना के इन अंगों की साज-सज्जा का वर्णन भी प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, उद्योग पर्व में दुर्योधन की सेना के प्रसंग में हम पढ़ते हैं कि रथों में उत्तम प्रकार के चार अश्व जुते थे और प्रत्येक रथ में प्रास, ऋष्टि एवं शत २ धनुष रखे थे। प्रत्येक रथ के दो अश्वों पर एक रक्षक और प्रत्येक रथ के लिए दो चक्र-रक्षक नियुक्त थे। रथी अश्व-संचालन क्रिया में निपुण थे।[4] रथी के समान ही सारथी का पद भी बड़ा महत्वपूर्ण था। इस पद पर केवल वही कवचधारी व्यक्ति नियुक्त किया जाता था जो दृढ़-संकल्प, कुलीन, शस्त्र-विद्या में कुशल तथा अश्वों की जाति पहचानता था।[5] रथों पर ध्वजा और पताका तथा अमंगल निवारणार्थ यंत्र और औषधियां बांधी जाती थीं, और उन में ढाल, तलवार और पट्टिश आदि रखे जाते थे।[6] इनके अतिरिक्त अनुकर्ष (रथ की मरम्मत के लिये काष्ठ) तथा भांति २ की रस्सियां भी रहती थीं। कतिपय रथ बाघ और गेंड़े के चमड़े से मढ़े थे, और आवश्यकता पर काम आने के लिए बसूले, आरे आदि भी रहते थे।[7] उद्योग पर्व में अर्जुन के रथ का विस्तृत वर्णन किया गया हैं, विशेषतः उसकी विशाल ध्वजा का। सभी पाण्डवों के रथों के अश्व विभिन्न रंगों के थे।[8] महाभारत में रथी सैनिकों को बड़ा महत्व दिया गया है। रथी, महारथी, अतिरथी, अर्धरथी, इत्यादि इनके विभन्न वर्ग थे।[9] उद्योग पर्व में कौरव और पाण्डव पक्ष के महारथियों का विस्तृत परिचय दिया गया है।[10]

---

१ अर्थशास्त्र, २.२, ७; नीतिवाक्यामृत, २२.२-३.
२ उद्योग, १५२.२.
३ विराट (गीता), २९.१०.
४ उद्योग, १५२.१०-१२.
५ उद्योग, १५२.८-९.
६ उद्योग, (गीता), १५५.१२.
७ उद्योग (गीता), १५५.३-९. देखिये उद्योग (क्रि०), १५२.३-७.
८ उद्योग, ५५.
९ उद्योग, १६६.१८; १६९.९.
१० उद्योग, १६३-१६९.

गज-सेना

गज भी बद्धकक्ष तथा सुअलंकृत थे। भारत युद्ध में प्रत्येक गज पर सात सैनिक थे। उनमें से दो पुरूष अंकुश लेकर महावत का कार्य करते थे। शेष पांच सैनिक थे --दो धनुर्धर, दो असिधारी, तथा एक शक्ति और त्रिशूल-धारी।[१] केवल शिक्षित गज ही सैन्य कार्य के लिये उपयोगी होते थे। कभी कभी गज अपने पक्ष को ही हानि पहुंचाते थे। भीष्मपर्व में उल्लिखित है कि भीम के आघातों से त्रसित कौरव सेना के गज अपनी ही सेना को रौंदते हुये भागने लगे।[२] प्रागज्योतिष (आसाम) गजों के लिये प्रसिद्ध था, और वहां के राजा भगदत्त की गज सेना का द्रोण पर्व में सविस्तार वर्णन किया गया है।[३] आरण्य पर्व से विदित होता है कि शाल्व की सेना में गजारोही सैनिकों की संख्या अधिक थी।

अश्व

अश्व भी सुअलंकृत, कवच-युक्त और सुसज्जित होते थे। अश्व दोष रहित होने चाहिये। उन्हें युद्ध की शिक्षा दी जाती थी। उनपर पताकाधारी सैनिक बैठते थे।[४] शकुनि के अश्वारोही सैनिक प्रास, ऋष्टि, तोमर और पताका-धारी थे।[५] सिन्धु देश के अश्व बहुत प्रसिद्ध थे और युद्ध में महत्वपूर्ण कार्य करते थे।[६] स्वंय भगवान कृष्ण अश्व-चर्या में बहुत कुशल थे।[७]

पदाति

सैनिक भी सोने के हारों से अलंकृत थे। उनके कवच तथा अस्त्र शस्त्र भिन्न २ प्रकार के थे।[८] भीष्म के अनुसार जिस सेना में पदाति संख्या अधिक होती है वह दृढ़ होती है (पदातिवहुला सेना दृढ़ा भवति भारत)।[९]

---

१ उद्योग, १५२.१३-१४.
२ भीष्म, १०२.३८.
३ द्रोण, २६.२८
४ उद्योग, १५२.१६-१७.
५ भीष्म, १०५.८-९.
६ द्रोण, १४०.२१-२२.
७ द्रोण, १००.१४.
८ उद्योग, १५२.१८.
९ शान्ति, १०१.२१.

सेना के छः अंग

कतिपय लेखक सेना के ६ अंगों का भी उल्लेख करते हैं। उनके मतानुसार उपर्युक्त चार अंगों के अतिरिक्त, मंत्र और कोष भी सेना के अंग थे।[१] महाभारत में भी इन ६ अंगों का उल्लेख किया गया है, परन्तु मंत्र के स्थान पर इसमे यंत्र पाठ मिलता है।[२] इस ग्रन्थ में एक स्थल पर सेना के आठ अंगों का भी उल्लेख किया गया है—रथ, गज, अश्व, पदाति, विष्टि, नौका, चर तथा देशिक। इस स्थान पर प्रकाश तथा अप्रकाश दो प्रकार की सेनाओं का उल्लेख किया गया है। प्रकाश सेना आठ प्रकार की होती थी (अष्ट विधम्), तथा गुह्य सेना बहुत विस्तृत (बहुविस्तर)। सेना के गुप्त अंग, जंगम, अजंगम, विष, चूर्णयोग अर्थात् विनाशकारक ओषधियां होती थीं। यह साधन शत्रुपक्ष के लोगों का वध करने में सहायक होते थे।[३] सेना के लिये मंत्र भी विजय प्राप्ति का साधन था।

महाभारत सेना के अंगों के प्रयोग के लिए उपयुक्त भूमि और काल पर भी प्रकाश डालता है। भीष्म के अनुसार कर्दम, जल, लोष्ट रहित भूमि जिसपर बांध न बंधे हों अश्वसेना, पंक और गर्त रहित भूमि रथ सेना तथा छोटे २ वृक्ष, घास फूस एवं जलाशययुक्त भूमि गज सेना के लिए उपयुक्त होती है। इनके विपरीत अत्यन्त दुर्गम, तृण, वेणु उपवनों से युक्त भूमि पैदल सेना के लिए उपयोगी होती है। वह सेना जिसमें रथ और अश्वों का बाहुल्य हो उसका प्रयोग वर्षा के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में, तथा जिस सेना में पदाति और गजबाहुल्य हो वर्षा ऋतु में उपयुक्त होता है।[४]

सैन्य संगठन

महाभारत से सैन्य संगठन पर बहुत महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। सेना अनेक टुकड़ियों में विभाजित रहती थी, जिनके पृथक २ अधिकारी होते थे। यह संगठन दशमलव सिद्धान्त के आधार पर किया जाता था। सबसे छोटी टुकड़ी दस सैनिकों की होती थी। उसका नेता नायक होता था। इस प्रकार की दस टुकड़ियों का नेता किसी आलस्यरहित बीर को नियुक्त किया जाता था, और शत २ सैनिकों की दस टुकड़ियों का (अर्थात् एक सहस्र सैनिकों का) नेतृत्व अध्यक्ष करता था। इन पदाधि-

---

१ यथा, नीतिसार, १९.२४.
२ उद्योग, ९४.१६.
३ शान्ति, ५९.४०-४२-
४ शान्ति, १०१.१८-२२.

कारियों को क्रमशः दशाधिपति, शताधिपति, सहस्राधिपति कहा जाता था।[1] महाभारत के आदिपर्व में सेना का संगठन इस प्रकार वर्णित हैं[2] :–

		रथ	हाथी	अश्व	पैदल
१	टुकड़ी				
२	पंक्ति	१	१	३	५
३	सेनामुख	३	३	९	१५
४	गुल्म	९	९	२७	४५
५	गण	२७	२७	८१	१३५
६	वाहिनी	८१	८१	२४३	४०५
७	पृतना	२४३	२४३	७२९	१२१५
८	चमू	७२९	७२९	२१८७	३६४५
९	अनीकिनी	२१८७	२१८७	६५६१	१०९३५
१०	अक्षौहिणी	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०९३५०

इस गणना के अनुसार कौरव और पाण्डवों की सेना की संख्या अट्ठारह अक्षौहिणी थी।

हम अन्यत्र पढ़ते हैं कि पचपन पैदलों की टुकड़ी पंक्ति कहलाती थी। तीन पंक्तियां मिल कर सेनामुख बनती थी, जिसे गुल्म भी कहते थे, और तीन गुल्मों का एक गण होता था। दुर्योधन की सेना में पैदल सैनिकों के दस सहस्र से अधिक गण थे। पांच सौ हाथियों और पांच सौ रथों की एक सेना होती थी। दस सेनाओं की एक पृतना और दस पृतनाओं की एक वाहिनी होती थी। इनके अतिरिक्त सेना, वाहिनी, पृतना, ध्वजनी, चमू, वरूथनी और अक्षौहिणी आदि शब्द पर्यायवाची भी माने जाते थे और सेना के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[3]

सैन्य अधिकारी

सेनापति

अन्यान्य ग्रन्थों की भांति महाभारत में भी सेना के वरिष्ठ अधिकारियों का उल्लेख प्राप्त होता है। निस्संदेह इन सबमें प्रमुख स्थान सेनापति का था, उसे अन्य

---

१ शान्ति, १०१.२८.
२ आदि, २.१५-२४.
३ उद्योग, १५२.१८-२२.

नामों से भी सम्बोधित किया गया है, यथा, सैना-प्रणेता,[1] सेना-नायक[2] आदि। इसका प्रधान कार्य था सेना का नेतृत्व करना। युद्ध भूमि में वही सेना का संचालन करता था, और स्वयं भी युद्ध में भाग लेता था। राजा की उपस्थिति में वह उसके अधीन रह कर कार्य करता था और उसकी अनुपस्थिति में सैन्य संचालन का समस्त भार उसी के कंधों पर आ जाता था। युद्ध की सफलता योग्य सेनापति पर ही निर्भर रहती थी। इसी कारण से कामन्दक, कौटिल्य, आदि आचर्यो ने इसकी योग्यता और गुणों का सविस्तार वर्णन किया है।[3]

महाभारत भी इस प्रसंग पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। शान्ति पर्व में बृहस्पति के माध्यम से सेनापति के आवश्यक गुणों को व्यक्त किया गया है। उनके अनुसार धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, शूर, युद्ध-कला में पारंगत, तथा राजा के प्रति अनुरक्त, व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त करना चाहिये।[4] भीष्म भी कहते हैं कि धर्मशास्त्र, तथा सन्धि-विग्रह का ज्ञाता, कुलीन, सत्वसम्पन्न, शौचयुक्त, मतिमान्, धृतिमान्, मन्त्र एवं रहस्य को गुप्त रखने वाले व्यक्ति को ही यह पद प्रदान करना चाहिए। इनके अतिरिक्त उसे व्यूहरचना-कुशल, यंत्र और आयुधों के लक्षणों का ज्ञाता, शत्रु की दुर्बलता को समझने वाला, तथा वर्षा, शीत, उष्ण, वातादि के कष्टों को सहन करने में समर्थ होना चाहिये।[5] कर्ण के अनुसार जिस व्यक्ति में सभी विशिष्ट गुण विद्यमान हो उसी को प्रधान-सेनापति बनाना चाहिये।[6]

महाभारत से विदित होता है कि राजा भली भांति विचार कर तथा अपने मंत्रियों और सहायकों से परामर्श करके ही किसी व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त करता था। दुर्योधन ने सर्व प्रथम भीष्म को सेनापति नियुक्त किया था। उनकी मृत्यु के उपरान्त क्रमशः गुरु द्रोण, कर्ण, शल्य तथा अश्वत्थामा को यह पद प्रदान किया। यह सभी वीर युद्ध क्रिया में अत्यन्त कुशल थे। भीष्म महान धर्मज्ञ और नीतिज्ञ थे। वह बुद्धि में बृहस्पति, क्षमा में पृथ्वी, गम्भीरता में समुद्र, स्थिरता में हिमवान, उदारता में प्रजापति तथा तेज में भगवान सूर्य के समान थे।[7] आचार्य द्रोण

---

१ उद्योग, १५३.२.
२ कर्ण, ४.८.
३ अर्थशास्त्र, २.३३; नीतिसार, १९.२७-४४.
४ शान्ति, ६८.५७,
५ शान्ति, ८६.२९-३१.
६ द्रोण, ५.१४-१५.
७ उद्योग (गीता), १५७.१-५.

योद्धाओं के गुरु समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, दुर्धर्ष एवं शुक्र और बृहस्पति के समान गुणवान् थे।[1] वह श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, शास्त्रज्ञान-सम्पन्न, बुद्धि, पराक्रम, युद्ध-कौशल आदि गुणों में श्रेष्ठ, कुशल धर्नुधर, छिप्र-हस्त तथा अस्त्र-युद्ध में पारंगत थे।[2] उन्होंने वेद-शास्त्र के सहित भगवान् शंकर द्वारा प्रतिपादित बाण-विद्या का भी विधि-पूर्वक अध्ययन किया था। इसी प्रकार पाण्डवों ने भी अपने सेना नायकों के गुणों की तुलानात्मक समीक्षा करने के बाद द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्न को अपना प्रधान सेना-पति बनाया था। वह आवश्यक गुणों से सम्पन्न तथा सेना के समस्त विभागों के ज्ञाता थे।[3]

सेनापति का महत्व दुर्योधन के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है: 'योग्य सेनापति के अभाव में बड़ी से बड़ी सेना भी युद्ध में चीटियों की पंक्ति के समान छिन्न-भिन्न हो जाती है'।[4] इस सम्बन्ध में वह एक प्राचीन घटना का उल्लेख करते हैं। जब ब्राह्मणों ने वैश्य तथा शूद्रों की सहायता से हैहयवंशी क्षत्रियों के ऊपर आक्रमण किया था तब अधिक सेना के होते हुए भी उन्हें पराजित होना पड़ा था। इस पराजय का कारण उन्होंने क्षत्रियों से पूछा तो उत्तर मिला कि 'हम लोग एक महान, बुद्धिमान नायक का नेतृत्व ग्रहण कर उसी के आदेश पर चलते हैं—यही हमारी विजय का कारण है'। तब ब्राह्मणों ने एक शूर एवं नीति-निपुण ब्राह्मण को सेनापति नियुक्त किया और क्षत्रियों पर विजय प्राप्त की। इस दृष्टान्त के आधार पर दुर्योधन कहते हैं कि जो लोग किसी कुशल, शूरवीर, हितैषी तथा दोष-रहित व्यक्ति को सेनापति पद पर नियुक्त करते हैं वह संग्राम में शत्रु पर अवश्य विजय प्राप्त करते हैं।[5] उपर्यक्त कथन से यह भी आभास मिलता है कि युद्ध भूमि में विजय प्राप्त करने के लिये एक नायक का नेतृत्व अत्यन्त आवश्यक था।

युद्ध भूमि में सेनापति की मृत्यु बड़ी हानिप्रद समझी जाती थी। कर्ण की मृत्यु के उपरान्त, कृपाचार्य दुर्योधन से कहते हैं कि 'जैसे चन्द्रमा के अभाव में रात्रि अन्धकारमय हो जाती है, उसी प्रकार सेनापति के मारे जाने से हमारी सेना श्री-हीन हो गयी है। हाथी ने जिसके किनारे के वृक्षों को रौंद डाला हो उस सूखी नदी के समान वह आकुल

---

१ द्रोण ५.१६-१७.
२ द्रोण, ५.२२-२४ तथा ५.३४; ८.३-४.
३ उद्योग, १४९.
४ उद्योग, १५३.२.
५ उद्योग, १५३.४-१०.

हो उठी है'।[१] द्रोण पर्व में दुर्योधन भी कर्ण से कहते हैं कि बिना नायक के कोई सेना मुहूर्त भर भी युद्ध-भूमि में नहीं टिक सकती है।[२] इसी भाँति द्रोण दुःशासन से कहते हैं कि सेनापति के भागने पर दूसरा कौन सैनिक युद्ध भूमि में ठहर सकेगा ? जब स्वयं सेनापति ही भयभीत होगा, तब दूसरे क्यों न भयभीत होंगे।

कर्णधार के बिना नाव, सारथी के बिना रथ, तथा देशिक के बिना सार्थ की जो स्थिति होती है, वही सेनापति के अभाव में सेना की होती है।[३] इसी लिए सैनिक उसकी रक्षा बड़ी तत्परता से करते हैं। इसका उदाहरण हमें कर्ण पर्व में मिलता है जब पाण्डव सेनापति धृष्टद्युम्न की रक्षा के लिये पाचांलों ने दुःशाशन के साथ घोर संग्राम किया था।[४]

सेनापति का अभिषेक समुचित रूप से किया जाता था। महाभारत में भीष्म द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा आदि के सेनापति पद पर अभिषिक्त होने का विस्तृत बर्णन प्राप्त होता है।[५] यह पद्धति मनुष्यों तक ही न सीमित थी। देवताओं ने भी अपने सेनापति कार्तिकेय का अभिषेक किया था।[६] इस प्रसंग में हम दृष्टान्त-स्वरूप कर्ण के अभिषेक का वर्णन कर सकते हैं जो शास्त्रोक्त विधि से सम्पन्न किया गया था। अभिषेक के लिये सोने तथा मिट्टी के कलश एवम् हाथी दांत, गेंडे और बैल के सीगों के बने हुए पात्रों में पृथक २ जल रखा गया था। उन पात्रों में मणि और मोती के अतिरिक्त पवित्र गन्धशाली पदार्थ और औषधियां भी डाली गयी थीं। कर्ण गूलर की बनी हुई चौकी पर, जिसके ऊपर रेशमी वस्त्र बिछा था, बैठे। तत्पश्चात शास्त्रीय विधि से, पूर्वोक्त सामग्रियों द्वारा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सम्मानित शूद्रों ने अभिषेक किया। अभिषेकोपरान्त उन सवने कर्ण की स्तुति की, ओर कर्ण ने स्वर्ण मुद्रा, तथा धन देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया। सूत, मागध, बन्दीजनों ने स्तुति की थी। पुण्याहवाचन, वाद्यों की गम्भीर ध्वनि, तथा शूरबीरों की जयजयकार सब ओर गूंज

---

१ शल्य, ३.३४.
२ द्रोण, २.१३.
३ कर्ण, ४.८-१०.
४ कर्ण (गीता), १.३४-३५.
५ कर्ण (गीता), १०.४३-५० (कर्ण); शल्य (गीता), ६५.४३. (अश्वत्थामा); उद्योग, १५३.२६ (भीष्म); द्रोण, ५.३७-४० (द्रोण) के अभिषेक।
६ आरण्य (गीता), पृष्ठ १६०३ और शल्य (गीता) अध्याय ४४ कार्तिकेय का अभिषेक।

उठी और बंदी जन तथा ब्राह्मणों ने कर्ण को आशीर्वाद दिया।[1]

अन्य अधिकारी

सेनापति के अधीन सेना के विभिन्न अंगों के अधिपति होते थे। इनको मुख्य अथवा बलमुख्य [2] कहा जाता था। यह सर्व-युद्ध-विशारद, धृष्ट, निष्कपट, और पराक्रमी होते थे। उद्योगपर्व में रथ-यूथप, तथा विराट पर्व में वारण-यूथप एवम् अश्वाधिकृत का उल्लेख है।[3] सेना के चारों अंग अनेक वर्गों में विभाजित थे और उनके पृथक २ अधिकारी होते थे। यह विभाजन दशमलव सिद्धान्त पर किया गया था। शान्ति पर्व में दशाधिपति, शताधिपति, सहस्राधिपति, का उल्लेख मिलता है। यह सभी शूर तथा अतन्द्रित कहे गये हैं।[4] इनके अतिरिक्त गज और अश्व शिक्षक रहते थे। द्रोण पर्व में हस्तियन्तार तथा आश्विक एवम् विराट पर्व में अश्वबन्धु का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] नकुल अश्व-विद्या में बहुत दक्ष थे और बनवास के अवसर पर उन्होंने विराट के यहां यही कार्य किया था।

सैनिक-गुण

महाभारत में हमें सैनिक गुण तथा उनके लक्षणों का भी विवरण प्राप्त होता है। भीष्म के अनुसार जिस राजा के सैनिक सर्वगुण-सम्पन्न, समर-प्रगल्भ, निर्भय, कृतज्ञ, शस्त्र-शास्त्र में पारंगत होते हैं, उसी के अधीन भू-मण्डल का राज्य होता है। सेना में सत्पुरुषों की ही नियुक्ति करनी चाहिये।[6] सैनिकों के लिये स्वस्थ और सुडौल शरीर होना भी आवश्यक था। कौरव सेना में न कोई अति बृद्ध न अधिक कृश और न स्थूलकाय था। सभी सैनिक हृष्ट-पुष्ट तथा स्वस्थ थे।[7] अन्य उदाहरणों से भी ऐसा ही प्रमाणित होता कि हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ व्यक्ति ही सैनिक नियुक्त किये जाते थे।[8]

---

१ कर्ण (गीता), १०.४३-५०.
२ शान्ति, १००.३२; सभा ५.४८.
३ उद्योग, १६६.२०; विराट, ५९.१०; ३.६.
४ शान्ति, १००.३१.
५ द्रोण, ८९.२३; विराट, ३.३
विराट, २, में अरालिक का उल्लेख है।
६ शान्ति, ११८.२३-२६.
७ द्रोण, ८९. ३; भीष्म, ७६. ३.
८ द्रोण, ८९.८; आरण्य, १७. ६-७; शान्ति, १०२.१२.

वर्ण

हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार सैनिक धर्म क्षत्रियों के लिए नियत था। महाभारत इसकी पुष्टि भी करता है और प्रतिवाद भी। इससे विदित होता है कि सभी वर्णों के लोग सैनिक-वृत्ति अपना सकते थे। द्रोण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा जैसे सेनापति और धनुर्विद्या के आचार्य ब्राह्मण थे। भीष्म के अनुसार जब दस्यु प्रबल होकर धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करने लगें तब सभी वर्ण शस्त्र ग्रहण कर सकते हैं। ऐसा करने से शास्त्र मर्यादा का अतिक्रमण न होगा।[१] ब्राह्मणों की रक्षा के लिए अन्य सब वर्ण, तथा अन्य वर्णों के रक्षार्थ ब्राह्मण को भी शस्त्र ग्रहण करने का अधिकार था। भीष्म वस्तुतः तीन अवसरों पर सबको शस्त्र ग्रहण करने का आदेश देते है —आत्म-रक्षार्थ, दुष्टदमनार्थ तथा वर्ण-दोष निवारणार्थ। ऐसे अवसर पर शस्त्र ग्रहण करने से ब्राह्मण दूषित नहीं होता।[२]

उद्योग पर्व से विदित होता है कि पाण्डवों की सेना में सभी वर्णों और प्रदेशों के सैनिक विद्यमान थे। एक ओर विशुद्ध क्षत्रिय, तो दूसरी ओर म्लेच्छ। पर्वतवासी, दुर्गम एवं समतल भूमि के निवासी सैनिक भी उनके शिविर में उपस्थित थे। भीष्म के कथन से विदित होता है कि अन्त्यज भी अच्छे सैनिक होते थे। वे युद्ध में पीछे न हट शरीर का मोह छोड़ कर लड़ते थे।[३]

शान्ति पर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर के एक प्रश्न के उत्तर में विभिन्न देशों के सैनिकों की बिशेषतायें बतलायी हैं। उनके अनुसार महाबली, शूर और सत्व-सम्पन्न वीर सर्वत्र उत्पन्न होते हैं, और उनके अस्त्र-शस्त्र एवम् वाहन देश-कुल के अनुरूप होते हैं। गान्धार एवं सिन्धु-सौबीर के योद्धा बड़े बलवान और निडर होते हैं। उनके प्रधान अस्त्र नखर और प्रास थे। उशीनर देश के बीर भी सत्व-सम्पन्न तथा शस्त्रों में कुशल थे। प्राच्य (पूर्व) के सैनिक गज-युद्ध तथा कूट-युद्ध में दक्ष होते हैं। यवन, काम्बोज तथा मथुरा निवासी नियुद्ध में निपुण होते हैं तथा दक्षिण के सैनिक असि-युद्ध में। इसी प्रकार भीष्म ने विभिन्न आकृति वाले मनुष्यों के सैनिक गुणों की भी विवेचना की है।[४] इस प्रकार का विवरण हमें अन्यत्र नहीं प्राप्त होता।

---

१ शान्ति, ८०. १७.
२ शान्ति, ७९. २५-३२.
३ शान्ति, १०२. १९.
४ शान्ति, १०२. २-२०.

सैनिक शिक्षा

महाभारत से सैनिक शिक्षा पर भी प्रकाश पड़ता है। प्रधानतः उन्हें शस्त्र-ग्रहण विद्या, अर्थात् विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के लक्षण तथा उनका प्रयोग सिखाया जाता था।[१] उद्योग पर्व में द्रोण के लिए कहा गया है कि वह चतुष्पाद अस्त्र-विद्या में कुशल थे। यह चार पद मंत्र, उपचार, प्रयोग तथा संहार थे।[२] इसी प्रकार शाल्व के सैनिक सर्व-शास्त्र विशारद[३] और धृतराष्ट्र के शस्त्र-ग्रहण विद्या में दक्ष थे।[४] सैनिकों को असियुद्ध, नियुद्ध, गदायुद्ध, तथा मुष्ठियुद्ध की भी शिक्षा दी जाती थी।[५] उन्हें गज, अश्व तथा रथ-संचालन एवम् उन पर बैठ कर युद्ध करने की कला का भी ज्ञान कराया जाता था।[६] विभिन्न सवारियों पर चढ़ना, उतरना, आगे बढ़ना, बीच में कूदना, पीछे हटना, उचित ढंग से प्रहार करना, व्यायाम आदि भी उनकी शिक्षा के आवश्यक अंग थे।[७] राजकुमारों को दी जाने वाली शिक्षा से भी हमें सैनिक शिक्षा का परिचय प्राप्त होता है।

सैनिक-वेतन

भारत के प्राचीन आचार्यों ने इस बात पर बल दिया है कि सैनिकों को पर्याप्त वेतन मिलना चाहिये। कामन्दक यथेष्ठ ही कहते हैं कि जिस सैनिक को समुचित वेतन नहीं दिया जाता उसकी स्वामिभक्ति संदिग्ध रहती है।[८] महाभारत से भी विदित होता है कि सैनिकों को पर्याप्त वेतन दिया जाता था। एक स्थान पर कहा गया है कि सैनिकों को मिष्ठ भाषण एवं पर्याप्त वेतन देकर राजा अपने अनुकूल रखे।[९] द्रोण पर्व में धृतराष्ट्र के कथन से विदित होता है कि कौरव दल के सैनिकों को उनके कार्य के अनुरुप ही भोजन और वेतन प्राप्त होता था। सभी सैनिक दान, मान, आसन आदि देकर सम्मानित किये जाते थे।[१०] कोई भी सैनिक अल्प वेतन अथवा निर्वेतन न था। युधिष्ठिर भी कहते हैं कि कौरव सेना के सभी सैनिकों को पूरा वेतन

---

१ द्रोण, ८९.४.
२ उद्योग, ३०. १०.
३ आरण्य, १७. ५.
४ भीष्म, ७२. ५-७.
५ भीष्म, ७२. ४-६.
६ द्रोण, ८९. ६; भीष्म, ७२. ९; शान्ति, ११८.२६.
७ भीष्म, ७२. ८; द्रोण ११४. ५.
८ नीतिसार, १४. ६७.
९ सभा (गीता), ५.४८-४९.
१० द्रोण, ८९. २२-२४.

और सब प्रकार की उपभोग सामग्री का वितरण किया गया था।[1] इसी प्रकार अन्धक-वृष्णि सैनिकों के विषय में कहा गया है कि युद्ध के अवसर पर प्रत्येक सैनिक को पूरा वेतन और भत्ता चुका दिया गया था। सबको नये-नये आयुध और सैनिक-वस्त्र प्रदान किये गये थे। इनके अतिरिक्त उन्हें विशेष पुरस्कार भी दिया गया था। कोई भी ऐसा सैनिक न था जिसे अल्प वेतन दिया गया हो या समय पर वेतन न प्राप्त हुआ हो।[2] आश्रमवासिक पर्व से भी विदित होता हैं कि सैनिकों को वेतन के अतिरिक्त उनके कार्य के अनुरूप पारितोषिक भी दिया जाता था।[3] संभवतः परीक्षा लेने के पश्चात् ही उनका वेतन निर्धारित किया जाता था।

शिविर

महाभारत सेना के शिविर और अभियान पर भी प्रकाश डालता है। भीष्म के अनुसार शिविर ऐसे स्थान पर स्थापित करना चाहिये जो दुर्गम, और खुले मैदान की अपेक्षा बन के निकट हो। शिविर के चारों ओर जल से भरी परिखा तथा ऊँचा परकोटा भी होना चाहिये, जिससे सेना को छिपा कर रखा जा सके।[4] दुर्योधन भी शिविर के लिए ऐसा स्थान उपयुक्त बताते हैं जहाँ जल, काष्ठ आदि मिलने की सुविधा तथा यातायात के मार्ग सुलभ हों। इसके चारों ओर उच्च प्राकार हो, और यह अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य आवश्यक सामग्री से परिपूर्ण हो।[5]

उद्योग पर्व में पाण्डव और कौरव शिविरों का सविस्तार वर्णन किया गया है। युधिष्ठिर ने अपना शिविर हिरण्यवती नदी के निकट, समतल तथा ऊसर रहित, मनोरम प्रदेश में स्थापित किया था, जहाँ ईधन और यवस की प्रचुरता थी। वह स्थान श्मशान, देव-मन्दिर, ऋषि-आश्रम, तीर्थादि से हट कर था। इसके चारो ओर परिखा और भीतर सैनिकों के लिए पृथक-पृथक आगारों की रचना की गयी थी। इस शिविर भूमि की नाप जोख धृष्टद्युम्न और युयुधान ने की थी। शिविर में काष्ठ, भोजन, शस्त्र, यवस, भूसी, अग्नि, मधु, घृत, राल, और यंत्रों के अतिरिक्त आवश्यक उपकरणों सहित शिल्पी तथा वैद्य भी उपस्थित थे।[6]

---

१ आरण्य, ३७. ११-१२.
२ आरण्य, १६. २१-२२.
३ आश्रमवासिक (गीता), ७. १७.
४ शान्ति, १००. १५-१८.
५ उद्योग, १५३
६ उद्योग, १५२,

कुरुक्षेत्र में कौरव शिविर बहुत ही विशाल था। वह द्वितीय हस्तिनापुर प्रतीत होता था। इसमें सैनिकों के आवास के लिए शत-शत संख्या में श्रेणी-बद्ध आगार निर्मित किये गये थे, जहाँ सब प्रकार की आवश्यक सामग्री संग्रहीत थी। शिल्प-जीवी, सूत-मागध, वंदीजन, गणिका, और गुप्तचर भी प्रचुर संख्या में विद्यमान थे।[1] आरण्य-पर्व में राजा शाल्व के शिविर का भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है। द्वारिकापुरी पर आक्रमण करने के प्रसंग में समतल-भूमि पर नगर तथा जलाशय के निकट उसने एक बृहद शिविर स्थापित किया था जहाँ श्मशान, देव-मन्दिर और चैत्य को छोड़कर समस्त क्षेत्र सेना के आवास के लिए अधिकृत कर लिया गया था।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से शिविर-व्यवस्था का परिचय प्राप्त होता है। शिविर यथा-साध्य समतल प्रदेश, नदी या आरण्य के निकट स्थापित किये जाते थे, जहाँ यातायात की सुविधा होती थी। शिविर रक्षा हेतु प्राचीर और परिखा का निर्माण किया जाता था। परिखा के भीतर सेना के आवास के लिए बहुत बड़ी संख्या में आगार निर्मित किये जाते थे। सैनिकों के अतिरिक्त, शिल्पी, वैद्य, सूत, मागध, बंदी-जन, वणिक, गणिका, विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, भोज्य पदार्थ, औषधि और जल का पर्याप्त संग्रह किया जाता था। सेना में शिविर-निर्माण कुशल वास्तुशास्त्री भी रहते थे जो उपयुक्त भूमि का चुनाव और उसकी नाप-जोख करके छावनी निर्मित करते थे। शिविर निर्माण करते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि पवित्र स्थान एवं चैत्य-वृक्षों को हानि न पहुंचे।

कामन्दक ने अपने नीतिसार में शिविर-व्यवस्था का समुचित विवरण प्रस्तुत किया है। वह यथेष्ठ ही कहते हैं कि राजा की सफलता अच्छे शिविर पर ही निर्भर है, अनुपयुक्त शिविर बंधनागार के समान होता है।[3]

युद्ध-अभियान

महाभारत में सेना के अभियान सम्बन्धी भी कुछ नियम प्रतिपादित किये गये हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार चैत्र और मार्गशीर्ष के महीने अभियान के लिए सर्वोत्तम होते हैं। यह ऐसा समय होता है जब भूतल पर जल की प्रचुरता और खेतों मे पका अन्न होता है। ऋतु भी न अधिक शीतल होती है और न अधिक उष्ण।

---

१ उद्योग, १९५. १२-१९.
२ आरण्य, १६. ३.
३ नीतिसार, १७. १-२२.

सेना के अभियान के लिए समतल और सुगम मार्ग, जहां जल व अन्य आवश्यक पदार्थ सुलभ हों, श्रेष्ठ माना जाता है। मार्ग प्रदर्शन के लिए कुशल गुप्तचरों का भी सेना के साथ होना आवश्यक था।[1] शुभ तिथि व शुभ मुहूर्त में सेना प्रस्थान करती थी।

सेना के अग्र भाग में कुलीन, शक्तिशाली, ढाल-तलवारधारी, पैदल सैनिक, पृष्ठ भाग में रथ-सैनिक तथा मध्य भाग में अन्तःपुर की स्त्रियां रखी जाती थीं। सेना शनैः शनैः विश्राम करती हुयी गन्तव्य स्थान की ओर अग्रसरित होती थी। सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के लिए शंख, भेरी, दुंदुभी, आदि ध्वनित किये जाते थे।[2] भीष्म ने भीरु सैनिकों के उत्साह-बढ़ाने का भी आदेश दिया है।[3]

युद्ध-भूमि

शत्रु सेना के निकट पहुंचकर सर्व प्रथम उपयुक्त भूमि का चुनाव किया जाता था। उपयुक्त भूमि में स्थित सेना की युद्ध-शक्ति, अधिक प्रखर होती थी। इसके विपरीत अभूमिष्ट सेना की स्थिति दुर्बल रहती थी। युद्ध-भूमि का चुनाव भूमि के गुणों के आधार पर किया जाता था, किन्तु ऋतु और सैन्य संगठन की ओर भी ध्यान दिया जाता था।[4] सेना के विभिन्न अंगों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि उपयुक्त मानी जाती थी, जिसका विवरण हम अन्यत्र कर चुके हैं।

युद्धभूमि में सेना स्थापित करते समय वायु, तथा सूर्य की अनुकूलता पर भी ध्यान दिया जाता था। भीष्म के अनुसार जिस ओर वायु, सूर्य तथा शुक्र हों उसी ओर पृष्ठ रखना चाहिये। यह तीनों महत्व क्रम के अनुसार उल्लिखित हैं (अर्थात यह तीनों भिन्न भिन्न दिशाओं में हो तो वायु को पीछे रख कर युद्ध करना चाहिये)। कारण स्पष्ट है— यदि प्रखर वायु सामने चलती है या सूर्य सामने होता है, तो सैनिकों को युद्ध करने में बाधा पहुंचती हैं।[5]

युद्ध-थल पर पहुंच कर राजा सैनिकों से प्रतीज्ञा कराता था कि वे जीवनपर्यन्त संग्राम में एक दूसरे का साथ देंगे। राजा अथवा सेनापति सैनिकों को उत्साहित करते रहते थे और यह इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करते रहते थे कि युद्ध में वीरगति प्राप्त करने से यश, और पीठ दिखाने से अपयश की प्राप्ति होती है। भीरु सैनिकों को युद्ध

---

१ शान्ति, १००.१०-१५.
२ उद्योग, ८.६.
३ शान्ति, १००.४६.
४ शान्ति, १००.२१-२५.
५ शान्ति, १००.१९-२०.

भूमि से प्रयाण करने, तथा वीर सैनिकों को दृढ़ता से युद्ध करने के लिऐ प्रोत्साहित भी किया जाता था।

व्यूह

युद्ध भूमि में सैनिक किस क्रम से स्थापित किये जाते थे इसका भी विवरण महाभारत में प्राप्त होता है। भीष्म के अनुसार यदि सैनिक संख्या कम हो तो संघ-बद्ध होकर, और यदि अधिक हो तो विस्तृत होकर युद्ध करना चाहिये। यदि थोड़े सैनिकों को बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो सूची-मुख व्यूह बना कर युद्ध करें।

युद्ध भूमि में सेना और उसके विभिन्न अंगों की अनेक प्रकार से संयोजित प्रक्रिया को व्यूह की संज्ञा प्रदान की गयी है। धनुर्वेद और राजशास्त्र विषयक ग्रन्थों से व्यूह-संगठन का विवरण प्राप्त होता है। सेनापति के लिए व्यूह-ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आयश्यक माना गया है। भीष्म को देवता, गन्धर्व और मानव तीनों ही प्रकार की व्यूह रचना का ज्ञान प्राप्त था।[१] भारत में व्यूह-विधान का इतिहास बहुत प्राचीन है। शान्ति पर्व में कहा गया है कि नहुष-पुत्र ययाति ने सम्यक् व्यूह रचकर दैत्यों और दानवों के साथ संग्राम किया था। कामन्दक व्यूह का वर्गीकरण इस प्रकार करते हैं[२] :

व्यूह

↓ मंडल ↓ असंहत ↓ भोग ↓ दण्ड

मंडल :— १. अर्वतोभद्र, २. दुर्जय.

असंहत:— १. अर्धचन्द्रक, २. उद्धान, ३. वज्र, ४. कर्कटश्रृंगी, ५. काकपादी, ६. गोधिका

भोग —— १. गोमूत्रिका, २. अहिसारी, ३. शकट, ४. मकर, ५. परिपतन्तिक,

दण्ड :— १. प्रदर, २. दृढक, ३. असह्य, ४. चाप, ५. चापकुक्षि ३. प्रतिष्ठ, ७. सुप्रतिष्ठ, ८. श्येन, ९, विजय, १०. संजय, ११. विशालविजय, १२. सूची, १३. स्थूणाकर्ण, १४. चमूमुख, १५. झष, १६. वलय, १७. सुदुर्जय।

---

१ उद्योग, १६५.१०.

२ नीतिसार, २०.४१-५४.

महाभारत में भी अनेक प्रकार के व्यूह और प्रतिव्यूहों का उल्लेख किया गया है, यथा चक्रगर्भ, शकट, सूचीमुख, वज्र, मकर, श्येन, कौंचारुण, गरुड़, सर्वतोभद्र तथा अर्धचक्रान्त ।

युद्ध-स्थल में सेना व्यूह निर्माण करके ही शत्रु से युद्ध करती थी । यहाँ पर हम कतिपय व्यूहों के निर्माण पर प्रकाश डालते हैं । चक्रगर्भ शकट-व्यूह की लम्बाई १२ गव्यूति, पृष्ठ भाग की चौड़ाई पांच गव्यूति थी । चक्र शकट व्यूह के पृष्ठ भाग में पद्म नामक एक गर्भ-व्यूह बनाया जाता था, और उस पद्म-व्यूह के मध्य भाग में सूचीमुख व्यूह । सूचीमुख व्यूह थोड़े सैनिकों द्वारा अधिक सैनिकों से युद्ध करने के लिये बनाया जाता था ।[1] युधिष्ठिर ने मण्डल-व्यूह के प्रति उत्तर में वज्र-व्यूह का निर्माण किया था । एक स्थल पर कहा गया है कि जो राजा गजारोहियों के मध्य रथी, रथी के पीछे अश्वारोही, मध्य में कवच एवं अस्त्र धारी, शस्त्रों से सुसज्जित पैदल सेना खड़ी करके व्यूह बनाता है वह शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है ।[2] भीष्म कौंचारुण व्यूह की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि यह समस्त शत्रुओं का संहार करने में सफल होता है ।

अस्त्र-शस्त्र

इस प्रसंग में महाभारत में वर्णित अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख भी समुचित प्रतीत होता है । धनुर्वेद में आयुधों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है : मुक्त, आमुक्त, मुक्तामुक्त, तथा यंत्रमुक्त । नीतिप्रकाशिका उनका वर्गीकरण इस प्रकार करती है : मुक्त, आमुक्त, मंत्र-मुक्त । इसमें मुक्त वर्ग के अन्तर्गत १२ प्रकार के आयुधों का उल्लेख है, जिनमें धनुष-बाण प्रमुख हैं । हमारा शैन्य-शास्त्र का नाम, धनुर्वेद, स्वयं धनुष बाण का महत्व सिद्ध करता है । आमुक्त अस्त्र २० प्रकार के माने गये हैं । मुक्तामुक्त आयुध दो प्रकार के होते हैं, सोपसंहार तथा उपसंहार । सोपसंहार अस्त्र ४३ प्रकार के और उपसंहार ५३ प्रकार के होते हैं । मंत्रमुक्त आयुध भी अनेक प्रकार के थे, इनका प्रयोग मंत्र द्वारा किया जाता था ।[3]

महाभारत में भी इसी प्रकार का वर्गीकरण प्राप्त होता है । कर्ण पर्व में कहा गया है कि चार प्रकार के अस्त्रों की विद्या में द्रोण की समानता करने वाला कोई दूसरा पुरुष न था ।[4] यह चार प्रकार के अस्त्र मुक्त, आमुक्त, यंत्र-मुक्त तथा मुक्तामुक्त

---

१ द्रोण, ८७.२२-२५.
२ शान्ति, ९९.९-१०.
३ दृष्टव्य, Dikshitar, *War in Ancient India.*
४ कर्ण (गीता), २.१६.

थे। मुक्त-अस्त्र वे थे जिनका प्रहार फेंक कर दिया जाता था, यथा बाण आदि। आमुक्त अस्त्रों का प्रयोग हाथ में लेकर होता था, यथा असि, यंत्रमुक्त अस्त्र यंत्रों से फेंके जाते थे, जैसे गोला आदि। मुक्तमुक्त शत्रु पर प्रहार कर पुनः प्रेषक के हाथ में आ जाते थे, जैसे कृष्ण का सुदर्शन चक्र, इन्द्र का वज्र, आदि। इन सभी अस्त्रों का उल्लेख महाभारत के विभिन्न पर्वों में प्राप्त होता है। धनुष, बाण, असि, आदि कई अस्त्र ऐसे हैं जिनके विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं। वे पर्यायवाची मात्र हैं अथवा विभिन्नता के द्योतक, यह कहना कठिन है।

इस ग्रन्थ में कतिपय आयुधों की उत्पत्ति और उनके इतिहास पर भी रोचक प्रकाश डाला गया है। आरण्य पर्व के अनुसार वृत्रासुर से त्रस्त देवताओं ने उसका बध करने के लिए दधीच ऋषि की अस्थियों से वज्र का निर्माण किया था। उस महान शत्रुनाशक अस्त्र की आकृति षट्कोण थी और वह भयंकर शब्द करता था।[1] शल्य पर्व में भी दधीच के अस्थिदान का उल्लेख किया गया है, जिनसे देवताओं ने वज्र के अतिरिक्त चक्र और बहु संख्यक भारी दण्ड (गुरून दण्डांश्च, पुष्कलान्) का भी निर्माण किया था।[2] इसी प्रकार शान्ति पर्व में भीष्म ने खड्ग की उत्पत्ति और उसके इतिहास का वर्णन किया है। खड्ग का सर्व प्रथम निर्माण प्रजापति ब्रह्मा ने जगत की रक्षा एवम् देव-द्रोही असुरों के वध के लिये किया था। इस तीक्ष्णधार खड्ग की उम्बाई ३० अंगुल थी। ब्रह्मा ने सर्व प्रथम इस खड्ग को शिव को दिया। उन्होंने दानवों का बध करके उसे विष्णु को समर्पित किया। तदनन्तर अनेक ऋषियों और राजाओं के हाथ में पहुंच कर वह जगत में व्याप्त हो गया। इसी प्रसंग में भीष्म ने इसके असि, विशसन, खड्ग, तीक्ष्णधार, दुरासद, श्रीगर्भ, विजय, और धर्मपाल आठ नामों का उल्लेख किया है। 'उनके अनुसार खड्ग सब आयुद्धों में श्रेष्ठ है। भगवान महेश्वर ने सबसे पहले इसका प्रयोग किया था। पुराण में इसकी श्रेष्ठता का वर्णन है'।[3] उसी पर्व में धनुष को सब आयुधों में श्रेष्ठ कहा गया है। भीष्म के अनुसार इसकी उत्पत्ति पृथु के समय हुई थी।[4]

मानुषी अस्त्रों के अतिरिक्त महाभारत में द्विव्य अस्त्रों का अनेकशः उल्लेख प्राप्त होता है। प्रत्येक देवता का विशेष अस्त्र था जिसे वह प्रसन्न होकर अपने भक्तों को प्रदान

---

१ आरण्य, ९८.
२ शल्य, ५०. २७-३०.
३ शान्ति, १६०.
४ शान्ति, १६०.२; ८४.

करता था। आरण्य पर्व में शिव द्वारा अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्रदान करने का सविस्तार वर्णन है।[1] उसी अध्याय में यह भी उल्लिखित है कि भगवान शंकर ने अर्जुन को गाण्डीव धनुष प्रदान किया था।[2] परन्तु अन्यत्र कहा गया है कि अग्नि ने अर्जुन को गाण्डीव और अक्षय तरकस प्रदान किया था।[3] अन्य द्विव्यास्त्रों में हम नारायण, इन्द्र, वायव्य, ब्रह्म, वैष्णव, आग्नेय आदि का उल्लेख कर सकते हैं। इनमें नारायणास्त्र को बहुत महत्व प्रदान किया गया है।[4] अर्जुन ने द्रोण, कर्ण, भीष्म, कृपाचार्य, अश्वत्थामा के सम्मिलित आक्रमण को इन्द्रास्त्र से निष्फल कर दिया था। वह पाशुपतास्त्र व सम्मोहन अस्त्र से भी परिचित थे। शाल्व ने जब कृष्ण की अनुपस्थिति में द्वारकापुरी पर चढ़ाई की थी तो उसके पास कई नवीन-आविष्कृत अस्त्र थे। इनमें एक युद्ध-यंत्र भृंगिका जैसा था जिस से बड़े बड़े पत्थरों की चट्टानें सहज ही फेकी जा सकती थीं। पत्थर फेकने के यंत्र में शाल्व ने सर्वाधिक सफलता पायी थी। उसने यंत्रों द्वारा बड़ी बड़ी चट्टानें द्वारका पर गिरा कर उसे नष्ट कर दिया था। शाल्व और भीष्म के युद्ध में वारुण तथा ऐन्द्र अस्त्र प्रयुक्त हुए थे।[5] अर्जुन ने नागों के विरुद्ध वायव्य अस्त्र का तथा निवातकवचों की माया दूर करने के लिये सलिल और शैल अस्त्रों का भी प्रयोग किया था।[6] कुछ अस्त्र मंत्र पढ़कर चलाये जाते थे, यथा विष्णु-चक्र, वज्र, ब्रह्मास्त्र, कालपाशक, नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र। कुछ ऐसे थे जिनसे पत्थर, धूल, अग्नि, वायु आदि फेके जाते थे। इस ग्रन्थ में हमें उन योधाओं के नाम भी मिलते हैं जो भिन्न भिन्न प्रकार के अस्त्रोंमें दक्ष थे। अर्जुन धनुष, भीम और दुर्योधन गदा, नकुल, सहदेव और भीष्म खड्ग तथा कृष्ण सुदर्शन चक्र के प्रयोग में दक्ष थे।

महाभारत-काल में अस्त्र प्रयोग की विधिवत शिक्षा दी जाती थी। गुरु द्रोणाचार्य इसके आचार्य थे। वह अस्त्र प्रयोग की धारण, उपसंहार, निवर्तन आदि समस्त प्रक्रियाओं में पारंगत थे। उद्योग पर्व से विदित होता है कि अस्त्रों का अधिवासन (गन्ध उपचारों द्वारा पूजन) कौतुक (रक्षा-बंधन) तथा मंगलकृति (स्वस्तिवाचन) समरांगण की यात्रा के पूर्व रात्रि में किया जाता था।[7]

१　आरण्य, ४१.१३-१६.
२　आरण्य, ४१.२५.
३　आदि, २१६.
४　दृष्टव्य द्रोण पर्वान्तिर्गत नारायणास्त्र मोक्ष पर्व.
५　आदि, १०९.४९-५१.
६　आरण्य, १६८.१०.
७　उद्योग, १४९,३७.

यह ग्रन्थ सैनिकों के कवचों पर भी प्रकाश डालता है।[१] यह धातु अथवा चर्म से बनते थे। कृपाचार्य का कवच व्याघ्र चर्म का था। अन्यत्र मृग तथा अन्य पशुओं के चर्म के बने हुए कवचों का उल्लेख है। जयद्रथ का कवच स्वर्ण का था। इसी प्रकार शिर और अंगुलित्राण का भी वर्णन प्राप्त होता है।[२]

दुर्ग

भारतीय परम्परा के अनुसार महाभारत में दुर्ग को राज्य के सप्तांगों में स्थान प्रदान किया गया है। हमारे राज्यशास्त्र प्रणेता प्रायः दुर्ग को राष्ट्र के पश्चात् स्थान देते हैं, परन्तु मनु दुर्ग का उल्लेख राष्ट्र से पूर्व करते हैं। इस महत्वपूर्ण स्थान परिवर्तन का कारण हमें कुल्लूक तथा मेधातिथि की व्याख्या से प्राप्त होता है। उनके अनुसार पुर अथवा दुर्ग-व्यसन राष्ट्र-व्यसन की अपेक्षा अधिक हानिकारक होता है। दुर्ग ही राष्ट्र की रक्षा का प्रधान आधार है। यदि दुर्ग शत्रु से बचा लिया जाय तो विजित राष्ट्र भी पुनः प्राप्त किया जा सकता है।[३] दुर्ग ही शासन सूत्र का केन्द्र है और शासन के विविध अंग इसी में विद्यमान रहते हैं। कामन्दक ने जिन शब्दों में दुर्ग की परिभाषा की है वह इसकी प्रकृति तथा महत्व के परिचायक हैं।

तूष्णीं युद्धंजनत्राणं मित्रामित्रपरिग्रहः।
सामन्ताटविकाबाधा निरोधो दुर्गमुच्यते ॥[४]

भारतवर्ष में दुर्ग का इतिहास सैन्धव-सभ्यता के युग से प्रारम्भ होता है। पुरातत्व विभाग ने उनमे से कुछ के अवशेषों को हमारे सम्मुख प्रकट किया है,[५] जिन्हें देख कर हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि उस प्राचीन युग में भी हमारे देश में दुर्ग-निर्माण कला उन्नतिशील थी और देश की रक्षा के लिए इनका निर्माण किया जाता था। तत्पश्चात् ऋग्वेद संहिता में दस्यु राजाओं के दुर्गों का उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।[६] दुर्ग ईंट तथा पत्थर के निर्मित किये जाते थे, और कतिपय दुर्गों को आयसी भी कहा गया है।[७] यह सभी बहुत विस्तृत थे और कुछ शत-स्तम्भयुक्त थे।[८]

---

१ भीष्म, १६.१३; शल्य, २२.५४.
२ आदि, २१६.१६; भीष्म, १६.१४.
३ मनु, ९.२९४-५, तथा उसपर भाष्य।
४ नीतिसार, १४.२९.
५ दृष्टव्य, *Ancient India*, III, p.58.
६ यथा ऋग्वेद, २.१४.६; १०.१३.७; आदि।
७ ऋग्वेद, २.२०.८.
८ ऋग्वेद, १.१८९.२; १.१६६, ४; १५.१४.

संभवत: आर्यों ने भी अपने दुर्गों का निर्माण कराया होगा। वैदिक युग के पश्चात् महाकाव्यों, तथा जातकों में नगरों के प्राकार द्वार आदि का वर्णन मिलता है। वस्तुत: प्रत्येक राज्य की राजधानी ही नहीं, छोटे २ नगरों की भी, रक्षा-व्यवस्था की जाती थी। यही क्रम उत्तर युगों में भी देखा जाता है। इसका प्रमाण देश के साहित्य तथा अभिलेखों के अतिरिक्त, विदेशी यात्रियों के वृतान्त में भी मिलता है, और उनकी पुष्टि पुरातत्व विभाग के अन्वेषणों द्वारा होती है। ग्रीक लेखकों ने सिकन्दर के भारतीय अभियान के सम्बन्ध में उत्तर-पश्चिम के अनेक दुर्गों तथा रक्षित नगरों का उल्लेख किया है।[1] उनमें से कुछ बहुत महत्वपूर्ण थे। मस्सग, बजीरा, ओरनस, आदि दुर्गों के सम्मुख सिकन्दर जैसे सेनापति को भी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। तत्पश्चात, ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज़ की इण्डिका नामक पुस्तक में हमें मौर्य राजधानी पाटलिपुत्र की रक्षा का समुचित विधान मिलता है।[2] मुसलमान इतिहासकार भी भारत के दुर्गों से, विशेषत: गिरिदुर्गों से, बहुत प्रभावित हुए थे। वे कालिंजर, ग्वालियर, रणथम्भौर, आदि की प्रशंसा मुक्त कंठ से करते हैं।[3] दिल्ली, कन्नौज, अजमेर, मुलतान आदि नगरों की रक्षा-व्यवस्था पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।[4]

महत्व

भारत में युद्ध वाहुल्य के कारण ही दुर्ग को इतना महत्व प्रदान किया गया है। प्राचीन युग के मस्सग, बजीरा, औरनस, गिरिव्रज तथा पाटलिपुत्र एवम् उत्तर युगीन कन्नौज, कालिंजर, ग्वालियर, चित्तौर और देवगिरि आदि के इतिहास से दुर्ग का महत्व स्पष्ट हो जाता है। दुर्ग राजवंश, राज्य की प्रजा, राजकोष, और मित्र राजाओं की रक्षा और आश्रय के साधन थे।[५] कामन्दक ने यथेष्ठ ही लिखा है कि दुर्गहीन राजा की वैसी ही स्थिति होती है जैसी प्रखर वायु के सामने बादलों की।[६] दुर्गस्थ राजा को पराजित करना कठिन ही नहीं वरन् दुष्कर था।[७] अतएव अनेक दुर्गों का स्वामी (राजा) अपनी प्रजा के अतिरिक्त अपने शत्रुओं का भी आदर प्राप्त करता है।[८] कौटिल्य का यह

---

1 Mc Crindle, *Alexander*, pp. 69, 71, 119, 194-95.

2 Megasthenes, *Fragment* XXV.

3 Elliot & Dowson, *History of India*, II, pp. 231, 227, 324-25, 28-29.

4 *Ibid*, pp. 216, 46, 227, 82, etc.

५ यथा, याज्ञवल्क्य, १.३१२; बृहस्पति, १.१.२८; अर्थशास्त्र, ७.१५.

६ नीतिसार, ४.५६.

७ मनु ७.७३.

८ नीतिसार, १४.३०.

कथन कि दुर्ग में कोष तथा सेना सुरक्षित रहती है सर्वथा सत्य है। दुर्ग से ही तूष्णी युद्ध, सेना पर नियंत्रण, तथा आटविक जातियों की पराजय संभव है। दुर्ग के अभाव में कोष शत्रु के हाथ लग जाता है। जिनके पास दुर्ग है उनको पराजित करना कठिन है।[1] अन्य लेखकों ने भी दुर्ग के महत्व को इसी प्रकार व्यक्त किया है। महाभारत में भी एक स्थल पर कहा गया है कि सेना के एक अंग से भी सम्पन्न शत्रु दुर्ग का आश्रय लेकर समृद्धिशाली राजा के सम्पूर्ण देश को सन्तप्त कर सकता है।[2] दुर्ग ही राजा के लिए सर्वश्रेष्ठ आश्रय था। उदाहरणार्थ, विराट-पुत्र श्वेत ने शत्रुओं से सन्तप्त होकर अपने दुर्ग में ही आश्रय लिया था।[3]

मनु दुर्ग के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :—

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धर्नुधरः।
शतं दशसहस्त्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते॥[4]

शुक्र ने भी इसी कथन की पुनरावृत्ति दूसरे शब्दों में की है।[5] उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतिध्वनित होता है कि दुर्ग किसी भी राजा की सैनिक शक्ति को शतगुणी करने में सहायक होते थे। दुर्ग के भीतर का एक सैनिक दुर्ग से बाहर लड़ने वाले शत सैनिकों के समान सिद्ध होता है।

अपने सामरिक महत्व के कारण दुर्ग शत्रु के आक्रमण का प्रथम लक्ष्य बनता था। इसीलिए प्राचीन नीतिवेत्ताओं ने आक्रमणकारी राजा को आदेश दिया है कि वह शत्रु के दुर्ग पर घेरा डालकर उसके रक्षकों को अपनी ओर मिलाने की चेष्टा करे।[6] राज-दूतों को भी यही आदेश दिया जाता था कि वह विपक्षी के दुर्गों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करें।[7] यह ज्ञान युद्ध के समय महत्व पूर्ण सिद्ध होता था।

राजधानी ही नहीं, वरन् सामरिक और सैनिक महत्व के सभी स्थलों की किले-

---

१ अर्थशास्त्र, ८.१.
२ आन्ति, ५८.१८.
एकांगेनापिसम्भूतः शत्रुदुर्गमुपाश्रितः।
सर्वं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः॥
३ भीष्म (गीता), ४९.५.
४ मनु, ७.७४
५ शुक्रनीति, ४.८५९.
६ नीतिसार, ११.१४-१५; १६.५५.
द्रष्टव्य, शान्ति, ६९-४३.
७ नीतिसार, १३.७,२३-२४.

बन्दी की जाती थी। कौटिल्य के अनुसार तो राज्य की चतुर्दिक सीमा पर दुर्गों का निर्माण होना चाहिये।[१] अन्य लेखकों ने भी दुर्ग निर्माण पर बल दिया है। इसी वाहुल्य के कारण दुर्गों के अनेक प्रकार संभव हो सके थे।

दुर्ग-प्रकार

अर्थशास्त्र में हमें चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख मिलता है—औदक, पार्वत, धन्वन, तथा वन।[२] कामन्दक ने वन-दुर्ग के स्थान पर वार्क्ष्यदुर्ग का और एक पाचवें प्रकार के 'ऐरिण' दुर्ग का उल्लेख किया है।[३] मनु, विष्णु आदि अन्य लेखकों ने छः प्रकार के दुर्गों का वर्णन किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं :— धन्वन, मही, जल, वार्क्ष, तथा गिरि दुर्ग।[४] महाभारत में ६ प्रकार के दुर्गों का उल्लेख कई स्थलों पर है,[५] किन्तु उनके नाम केवल एक ही स्थान पर प्राप्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं। धन्व-दुर्ग, महीदुर्ग गिरि दुर्ग, मानवदुर्ग, अब्दुर्ग तथा वन दुर्ग।[६] यह नाम वही हैं, जो स्मृतियों में मिलते हैं। उपर्युक्त प्रकार के दुर्गों का वर्णन हमें रामायण, पुराण तथा मानसार में भी मिलता है।[७] निश्चय ही दुर्गों का यह वर्गीकरण देश में सर्वमान्य हो गया था। परन्तु उत्तरयुगीन लेखक शुक्र तथा सोमेश्वर ने ९ प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है।[८] शुक्र और कौटिल्य तो इन विभिन्न प्रकार के दुर्गों की विशेषताओं का भी वर्णन करते हैं, परन्तु महाभारत में इसका अभाव है। स्मृतियों की भी ऐसी ही स्थिति है, किन्तु उनके भाष्यकारों ने इस कमी को दूर कर दिया है।

इन विभिन्न प्रकार के दुर्गों में कौन अधिक उपयोगी तथा महत्वपूर्ण था ? इस विषय में प्राचीन लेखक एकमत नही हैं। मनु और कौटिल्य गिरि दुर्ग को प्रधानता देते हैं।[९] अग्नि और मत्स्य पुराण भी इसी मत का समर्थन करते हैं।[१०] भीष्म स्पष्ट कहते हैं कि 'सर्वं दुर्गेषु मन्यन्ते नरदुर्गं सुदुस्तरम्'।[११] शुक्र भी ऐसा ही मत

---

१ अर्थशास्त्र, २.३.
२ अर्थशास्त्र, २.३.
३ नीतिसार, ४-५७.
४ मनु, ७.७०; विष्णु, ३-६.
५ शान्ति, ५६.३५; ८७.४, इत्यादि
६ शान्ति, ८७.५.
७ रामायण, ६.३.२०-२२; मत्स्य, २१७.६७.
८ शुक्रनीति, ४.८५०-५८; मानसोल्लास, २.५४४-४६,
९ मनु, ७.७१; अर्थशास्त्र, ७.१०; १२-३.
१० अग्नि, २२२.५; मत्स्य, २१७-७.
११ शान्ति, ५६.३५.

व्यक्त करते हुए कहते हैं कि दुर्ग की प्राकृतिक स्थिति से ही विशेष लाभ नहीं होता, उसकी शक्ति उसके रक्षकों के शौर्य में निहित होती है।[1]

दुर्ग उपकरण

दुर्ग निर्माण ही पर्याप्त न था वरन् उनमें सैनिकों के अतिरिक्त धन-धान्य तथा युद्ध सामग्री की उपस्थिति भी अत्यन्त आवश्यक थी। मनु के अनुसार दुर्ग हर प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, प्रचुर धनराशि, धान्य, यवस, शिल्पी, यंत्र, जल तथा ब्राह्मणों से सम्पन्न होना चाहिये। शिल्पी युद्ध सामग्री के निर्माण, तथा ब्राह्मण धार्मिक अनुष्ठान के लिये आवश्यक थे। मेधातिथि के अनुसार दुर्ग में वैद्यों की भी व्यवस्था होनी चाहिये।[2] नीतिवाक्यामृत में यथेष्ठ ही कहा गया है कि आवश्यक सामग्रीरहित दुर्ग बन्दीशाला के समान है।[3] महाभारत के अनुसार भी दुर्ग में धन-धान्य, आयुध, गज, अश्व और रथ प्रचुर संख्या में होना चाहिये। यही नहीं विद्वान और शिल्पियों का होना भी आवश्यक था। दुर्ग के भीतर काष्ठ, लोहा, तुष, अंगार, दारु, शृंग, अस्थि, बांस, मज्जा, स्नेह, वसा, औषधि, मधु, सन, राल, धान्य, आयुध, शर, चमड़ा, स्नायु, वेत्र, मुंज, वल्वज की रस्सी, एवम् जलाशय और उदपानों में जल संग्रहीत रहना चाहिये। आचार्य, ऋत्विज, पुरोहित, धनुर्धर, स्थपति, ज्योतिषी, चिकित्सक, कार्यकुशल शिल्पी तथा अन्य विद्वानों को भी दुर्ग में आश्रय देना चाहिये।[4] अन्यत्र भी राजा को दुर्ग के भीतर नये कूपों का निर्माण तथा प्राचीन कूपों का संस्कार, धान्य, धन, आवश्यक युद्ध सामग्री तथा औषधि आदि का संग्रह करने का आदेश दिया गया है। सबसे अधिक ध्यान अस्त्र-शस्त्रों पर देना चाहिये।[5] सभा पर्व में नारद युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं कि क्या आपके सब दुर्ग धन-धान्य, आयुध, यंत्र तथा जल से परिपूर्ण हैं और क्या उनमें शिल्पी, धनुर्धर सैनिक आदि विद्यमान हैं?[6]

दुर्ग राज्य की रक्षात्मक शक्ति के प्रतीक थे। इसीलिए देश में दुर्ग-निर्माण कला को बड़ा प्रोत्साहन मिला। राजशास्त्र, वास्तुशास्त्र संबंधी ग्रन्थों में दुर्ग निर्माण शैली का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र के द्वितीय अधिकरण के दो अध्यायों में दुर्ग निर्माण-विधि तथा उसके विभिन्न भाग, परिखा, वप्र, प्राकार, प्रतोली, अट्टालक, सोपान,

---

१ शुक्रनीति, ४.८६०.
२ मनु, ७.७५, एवं मेधातिथि का भाष्य.
३ नीतिवाक्यामृत, २०.३.
४ शान्ति, ८७.४-१७.
५ शान्ति, ६९.४२-५६.
६ सभा, ५.२५.

इन्द्रकोष आदि का उल्लेख है। नीतिसार, शुक्रनीति, मानसोल्लास, मानसार, शिल्प-सार, समरांगण-सूत्रधार आदि में भी दुर्ग निर्माण विधि का विशद विवरण मिलता है। महाभारत में दुर्ग निर्माण-शैली का तो विवरण नहीं प्राप्त होता किन्तु दुर्ग के विभिन्न अंगों का उल्लेख अवश्य किया गया है। परिखा, वप्र और प्राकार का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है।

महाभारत में इन्द्रप्रस्थ, द्वारकापुरी, लंकापुरी, द्रुपदनगर, रैवतक आदि दुर्ग तथा दुर्गरक्षित नगरों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।[1] उससे विदित होता है कि दुर्ग की रक्षा के लिए सर्व प्रथम जल से भरी परिखा का निर्माण किया जाता था, और उसे मीन, नक्र, आदि के द्वारा तथा कील आदि गाड़ कर दुर्गम्य बना दिया जाता था। परिखा को पार करने के लिए पुल बने रहते थे, जो शत्रु के आक्रमण के समय तोड़ दिये जाते थे। उसके भीतरी ओर वप्र तथा ऊंचा प्राकार होता था। प्राकार के भीतर गोपुर द्वार होता था, जिसकी रक्षा के लिए यंत्र, शतघ्नि आदि यथा स्थान रखे जाते थे। द्वार पर प्रहरी नियुक्त रहते थे जिनकी आज्ञा के बिना न कोई बाहर जा सकता था और न भीतर। तोरण के अतिरिक्त, प्रासाद, हर्म्य, अट्टालक, तथा मार्ग निर्मित किये जाते थे। किन्तु इन सबमें प्राकार और परिखा ही अधिक महत्व के होते थे। मेरुवृज के चारों ओर शैल प्राकार थी। लंका के दुर्ग के चारों ओर अगाधतोया सात परिखायें थीं। द्रुपदनगर के चारो ओर परिखा तथा तीन प्राकारों का निर्माण किया गया था। इन्द्र-प्रस्थ के चारों ओर समुद्र की भाँति अगाध जल से भरी खाई थी। इसका प्राकार अपनी ऊंचाई से आकाश का स्पर्श करता प्रतीत होता था। द्वारकापुरी को परिवेष्ठित करती हुई खाई थी और इसका भी प्राकार गगनचुम्बी था।

दुर्ग-संस्कार

दुर्गों की देखभाल तथा दुर्ग-रक्षा राजा का प्रधान कर्तव्य था।[2] श्रीकृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं कि उन्होंने कुशस्थली दुर्ग का ऐसा संस्कार कराया था कि उसमें प्रवेश करना देवताओं के लिए भी दुर्लभ था। उस दुर्ग में रह कर स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती थीं वृष्णि कुल के महारथियों की तो बात ही क्या?[3] राजा दुर्ग-संस्कार ही नहीं वरन् उनकी देख भाल, रक्षा सामग्री, विशेषत: अस्त्र-शस्त्र, संग्रह की ओर भी समुचित ध्यान देता था। दुर्ग-व्यसन ग्रस्त राजा न अपनी रक्षा कर सकता था और न राज्य की।

---

१ आदि, १९९.२९-३४; सभा (गीता), १५.५-१२; आरण्य, २६८.३-५, आदि (गीता), १९९.८ से पूर्व; सभा, १३.५०-५४.

२ शान्ति, ५८.८; अनुशासन, पृ० ५९५०.

३ सभा, १४.५१.

१०
पर-राष्ट्र नीति

इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष प्रायः छोटे २ राज्यों में विभक्त रहा है। यह सभी राज्य साम्राज्यवादी नीति के अनुयायी थे। वैदिक युग से ही भारतीय राजाओं के सम्मुख 'आसमुद्रक्षितीश' बनने का आदर्श रखा जा चुका था। ऐसी स्थिति में विभिन्न राज्यों में युद्ध अवश्यम्भावी था। लेकिन भारतीय साम्राज्यवाद पाश्चात्य साम्राज्यवाद से भिन्न था। वह असुर-विजय की अपेक्षा धर्म-विजय को ही श्रेष्ठ मानता था। पराजित राजा का उन्मूलन नहीं किया जाता था। वह विजेता के आधीन सामन्त रूप से अपने राज्य में शासन करता रहता था। ऐसी स्थिति में इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करना आवश्यक था। हमारे प्राचीन आचार्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के तीन मूल तत्व निर्धारित किये हैं :— मण्डल-योजना, चार उपाय, तथा षाड्गुण्य।

मण्डल-सिद्धान्त

मण्डल-सिद्धान्त शक्ति सन्तुलनार्थ प्रतिपादित किया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार चार प्रकार के राज्य होते हैं—मित्र, शत्रु, मध्यम, तथा उदासीन। इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि दो पड़ोसी राज्य, जिनकी सीमायें परस्पर मिलती हैं, स्वभावतः एक दूसरे के शत्रु होते हैं, और शत्रु राज्य के परे जो राज्य होता है वह स्वभावतः मित्र होता है। मध्यम राजा वह है जिसका राज्य शत्रु और मित्र राजा की सीमा पर स्थित हो। उदासीन राजा का राज्य इन तीनों ही राज्यों से कुछ दूर स्थित होता है। यह चार राजा मण्डल-सिद्धान्त के मूल हैं, और इनके पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना ही मण्डल के प्रसंग में की जाती है।

वस्तुतः मण्डल के अन्तर्गत १२ राजाओं को स्थान दिया जाता है। मण्डल का केन्द्र-बिन्दु, जिसके सम्बन्ध से अन्य राजाओं का नामकरण किया जाता है, विजिगीषु कहलाता है। यह वह शक्तिशाली शासक है जो अन्य राजाओं को विजय करने की

इच्छा रखता है। विजिगीषु राजा के अग्र भाग में जिस राजा की सीमा उसके राज्य से मिलती है उसे अरि, अथवा शत्रु, कहा गया है। तत्पश्चात् क्रमशः मित्र, अरि मित्र, मित्र-मित्र तथा अरि मित्र-मित्र राजा होते हैं। इसी प्रकार पृष्ठ भाग में क्रमशः शत्रु और मित्र राजाओं की परम्परा होती है, परन्तु अग्र भाग के राजाओं से भिन्नता व्यक्त करने के लिए उनका नामकरण अन्य प्रकार से किया गया है। विजिगीषु के पृष्ठ भाग में स्थित राजा को पार्ष्णिग्राह कहा जाता है। वास्तव में यह पीछे स्थित शत्रु ही है। तदनन्तर क्रमशः आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहसार तथा आक्रन्दासार होते हैं। इस प्रकार विजिगीषु से आगे पांच और उसके पीछे के चार राजा मण्डल के अंग माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त मध्यम ओर उदासीन राजा भी होते हैं। इस प्रकार मण्डल के राजाओं की संख्या १२ होती है। एतदर्थ इसे 'द्वादश-राजमण्डल' कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक राजा की पाँच प्रकृतियां होती हैं—अमात्य, कोष, दुर्ग, बल और राष्ट्र। अतः मण्डल के समस्त राजाओं की प्रकृतियों की संख्या मिल कर ७२ होती है।[१] महाभारत में हमें द्वादश राजमण्डल, उनकी ६० प्रकृतियाँ और दोनों के सम्मिलित योग ७२ का भी उल्लेख मिलता है।[२]

भारतीय राजनीति-वेत्ताओं ने मण्डलस्थ राजाओं के प्रति कैसी नीति अपनाना चाहिये इसकी समुचित विवेचना की है। महाभारत में भी यत्र-तत्र तत्सम्बन्धी कुछ आदेश मिलते हैं, यथा मण्डलस्थ राजाओं के साथ राजनीतिक तथ्यों को ध्यान में रख कर यथोचित व्यवहार करना चाहिये, अथवा शत्रु पर आक्रमण करने से पूर्व पार्ष्णि-ग्राह की गति विधि भली भाँति समझ लेना चाहिए।[३] मित्र, उदासीन मध्यस्थ तथा शत्रु के प्रति कब कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका ज्ञान नारद राजा के लिए आवश्यक मानते हैं।[४] शान्तिपर्व में तो यहाँ तक आदेश दिया गया है कि राजा उदासीन, अरि, तथा मित्र की गति विधि का ज्ञान अपने गुप्तचरों द्वारा प्राप्त करे।[५] धृतराष्ट्र भी युधिष्ठिर से कहते हैं कि राजा को अपने शत्रु एवम् उदासीन तथा मध्यस्थ राजाओं के मण्डल का सदैव ध्यान रखना चाहिए। उसे चार प्रकार के शत्रु तथा शत्रु के मित्र को भी पहचानना चाहिए।[६]

---

१ यथा, नीतिसार, अध्याय ८.
२ शान्ति, ५९. ७०-७१; आश्रमवासिक (गीता) ६. १-६.
३ सभा, ५. ७८.
४ सभा. (गीता), ५. २५-२६। देखिए क्रि० ५. १५-१६.
५ शान्ति, ८८. १८-१९.
६ आश्रमवासिक. (गीता), ६ १-६.

मित्र

भारतीय राजशास्त्र-विशारदों ने मित्र को राज्य का अंग मान कर इस मत का प्रतिपादन किया है कि कोई भी राज्य बिना राजनीतिक गठबंधन के स्थिर नहीं रह सकता। देश में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने के लिए अन्य राजाओं से मैत्री स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक था। इसीलिए हमारे ग्रन्थों में मित्र को इतना महत्व प्रदान किया गया है। मित्र का महत्व व्यक्त करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं: 'मेरी तो यह धारणा है कि जिस विषम परिस्थिति में सुहृद सहायक होते हैं वहाँ न प्रचुर धन, सम्बन्ध, और न बन्धु-बान्धव ही काम आते हैं। हित की बात कहने वाला तथा हितकारी सुहृद दुर्लभ है'।[1] इसीलिए राजा अपने शत्रु तथा उसके मित्रों में भेद उत्पन्न कराने का प्रयास किया करते थे।[2]

भीष्म के अनुसार मित्र चार प्रकार के होते हैं—सहार्थ, भजमान, सहज, तथा कृत्रिम[3]। उपर्युक्त चार प्रकार के मित्रों में भजमान और सहज प्रकार के मित्रों की ओर से सदैव सशंक रहने का आदेश है।[4] कर्ण पर्व में भी चार प्रकार के मित्रों का उल्लेख किया गया है (१) सहज मित्र (जिनके साथ स्वाभाविक मैत्री होती है), (२) सन्धि करके बनाये हुए मित्र, (३) धन देकर अपनाये गये तथा (४) जो किसी के प्रबल प्रताप से प्रभावित हो स्वतः शरण में आ जाते हैं।[5]

मित्र के गुण

शान्ति पर्व में भीष्म मित्र के लक्षण (गुण) भी प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार उत्तम मित्र वे हैं जो अपने मित्र राजा की उन्नति से कभी तृप्त नहीं होते वरन् उसकी उत्तरोत्तर उन्नति की आंकांक्षा करते हैं। इसके बिपरीत उसकी अवनति से दुखी होते हैं। वे धर्म-कार्यों में भी मित्र राजा को हानि से बचाने का प्रयत्न करते तथा उस पर बिपत्ति आने की आशंका से सदा भयभीत रहते हैं। वही मित्र उत्तम होता है, जो मित्र को आत्मवत् मानता है और उसकी उन्नति देखकर कभी ईर्षा नहीं करता।[6] उसी पर्व में वह अन्यत्र कहते हैं कि कुलीन, वाक्सम्पन्न, ज्ञानवान,

---

१ शान्ति, १६२. ३-४.
२ शान्ति, १०३. २७.
३ शान्ति, ८१. ३.
४ शान्ति, ८१.६.
५ कर्ण, ६४. २७.
६ शान्ति, ८१. १६-२०.

रूपवान, गुणवान, लोभहीन, परिश्रमशील, कृतज्ञ, माधुर्य गुण-युक्त, सदा व्यायामशील, सत्य-प्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, दोष-शून्य, सुमित्रों से सम्पन्न, तथा लोक-विख्यात व्यक्ति को ही अपना मित्र बनाना चाहिये ।[1] जो मित्र भाई बन्धुओं में भेद उत्पन्न होने पर उनमें मेल कराने का प्रयत्न नहीं करते वे सच्चे मित्र नहीं हैं ।[2]

मित्र के प्रति व्यवहार

भीष्म के अनुसार राजा हितैषी मित्र की बात ध्यानपूर्वक सुने, और उसकी रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहे । जो भय-त्रस्त राजा द्वारा मित्र बनाया गया हो अथवा जो स्वयं भयभीत होकर मित्र बना हो इन दोनों प्रकार के मित्रों की रक्षा करनी चाहिये । जैसे बाजीगर सर्प के मुख से हाथ बचा कर उसके साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार अपनी रक्षा करते हुए उन्हें एक दूसरे का कार्य साधन करना चाहिये । सच्चा मित्र, मित्र राजा की हानि देखकर दुखी और सन्तप्त होता है, और उसको सचेत करना अपना धर्म समझता है । महाभारत के अनुसार राजा अपने शुभचिन्तक मित्र की बात ध्यान से सुने और उसी के अनुसार कार्य करे । जो अल्प-बुद्धि मनुष्य बहुत से मित्र बना कर मित्रभाव में स्थिर नहीं रहता वह विपत्ति में पड़ने पर उनकी सहायता नहीं प्राप्त कर सकता । भीष्म यह भी आदेश देते हैं कि राजा को अपने मित्रों से सतर्क रहना चाहिये ।[3] उनके अनुसार 'मैत्री कोई स्थिर रहने वाली वस्तु नहीं है । स्वार्थ के सम्बन्ध से ही मित्र और शत्रु बना करते हैं । ...जो मनुय स्वार्थ के सम्बन्ध का विचार किये बिना मित्रों पर केवल विश्वास करता है उसकी बुद्धि चंचल ही समझना चाहिये' ।[4] भीष्म तो यहां तक कहते हैं कि मित्र की गतिविधि जानने के लिए भी गुप्तचर नियुक्त करना चाहिये,[5] क्योंकि शत्रु भेद-नीति के प्रयोग से मित्रों में परस्पर भेद उत्पन्न करा देते हैं ।[6] एक अन्य स्थल पर वह कहते हैं कि जब राजा पर किसी प्रबल शत्रु का आक्रमण हो तब उसे कर्तव्याकर्तव्य का विचार करने के लिए मित्रों के साथ मंत्रणा करना चाहिये ।[7] मित्र राजा को सम्यक् परामर्श ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता भी देते थे । मित्रों द्वारा प्रस्तुत सहायता के दृष्टान्त महाभारत में अनेकशः

१ शान्ति, १६२. १७-१९.
२ उद्योग, ९१. १५.
३ शान्ति, ८१.६.
४ शान्ति, १३८.१३४-१३६.
५ शान्ति, ६९.९.
६ आरण्य, ३४.६३.
७ शान्ति, ६९.३२.

उपलब्ध होते हैं।[1]

इस ग्रन्थ में मित्र-द्रोह बहुत गर्हित माना गया है। मित्र का अपकार, कल्याण-कारी मित्र का परित्याग एवम् मित्र का अनिष्ट करने वाले व्यक्ति निन्दनीय ठहराये गये हैं।[2] इसके विपरीति, जो अपने को कष्ट में डाल कर भी मित्र का कार्य सिद्ध करते हैं, उनकी ओर से कभी विरक्त नहीं होते, और उसमें विश्वास रखते हैं वे ही मित्रता के उपयुक्त माने गए हैं।[3]

शत्रु

मित्र की भांति शत्रु तथा उसके प्रति नीति की भी सम्यक् विवेचना की गयी है। दुर्योधन शत्रु की परिभाषा इस प्रकार करते हैं :

> शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका।
> यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥[4]

अन्यत्र बृहस्पति भी कहते हैं कि जो किसी को पीड़ित देखकर प्रसन्न, और प्रसन्न देख कर पीड़ा का अनुभव करता है, वही शत्रु है।[5] शत्रुता अथवा मित्रता स्थायी नही होती : सामर्थ्ययोग अथवा परिस्थितिवश लोग एक दूसरे के शत्रु अथवा मित्र हुआ करते हैं। अवसर आने पर कितने मित्र शत्रु बन जाते हैं और शत्रु मित्र।[6] दुर्योधन यथेष्ठ ही कहते हैं कि जन्म से कोई किसी का शत्रु नहीं होता। जिनकी एक सी वृत्ति होती है वही एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं (येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुः)।[7] ऐसी परिस्थिति में राजा को शत्रु-मित्र का भेद समझना अत्यन्त आवश्यक था। भीष्म राजा को आदेश देते हैं कि सूक्ष्म बुद्धि द्वारा वह शत्रु और मित्र का अन्तर ज्ञात करे। एक मूषक की कथा द्वारा भी वह इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।[8]

---

१ उद्योग, ४.६-७.
२ शान्ति, १६२.६-६.
३ शान्ति, १६२.
४ सभा (गीता), ५४.१०
५ शान्ति, १०४.४९ :–

> आर्तिरार्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम्।
> विपरीतं तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेवतत् ॥

६ शान्ति, १३६. १३०-१३ ; ३४-१३५.
७ सभा (गीता), ५५.१५.
८ शान्ति, १३६.

शत्रु का वर्गीकरण

प्राचीन ग्रन्थों में शत्रु का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। कामन्दक दो प्रकार के शत्रु मानते हैं, सहज और कार्यज।[1] महाभारत में भी एक स्थल पर चार प्रकार के शत्रुओं का उल्लेख है, परन्तु उनका विश्लेषण नहीं किया गया है।[2]

इस ग्रन्थ में शत्रु के प्रति व्यवहार के दो मूल तत्व निर्देशित किये गये हैं, (१) शत्रु का अविश्वास तथा (२) उसका विनाश। शान्तिपर्व में बृहस्पति कहते हैं कि शत्रु का विश्वास कभी न करना चाहिये।[3] भीष्म भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार जो राजा शत्रु के साथ सन्धि करके सुख से सोता है, वह उसी मनुष्य के समान है जो वृक्ष पर प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा हो। ऐसा मनुष्य गिर कर ही सजग होता है।[4] इस प्रसंग में वह इन्द्र का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उसने नमुचि से कभी बैर न करने की प्रतिज्ञा की थी, परन्तु जब वह विश्वस्त हो गया तब अवसर पाकर इन्द्र ने उसका सिर काट लिया। यही सनातन शत्रु-वृत्ति कही गयी है। (रिपौवृत्तिः सनातनी)।[5] आचार्य कणिक के अनुसार ऋण, अग्नि, और शत्रु को कभी शेष न छोड़ना चाहिये। वे बढ़कर मनुष्य का नाश कर देते हैं।[6] वह तो यहाँ तक कहते हैं कि द्रवित शत्रु या जिसने अपकार किया हो यह दोनों ही बध्य हैं।[7] इसीलिए बृहस्पति शत्रु के प्रति साम-नीति का प्रयोग श्रेष्ठ नहीं मानते।[8] वह प्रच्छन्न अथवा प्रकाश योग जिससे शत्रु संकट में पड़े, उसी का प्रयोग उचित मानते हैं।[9] उद्योग पर्व में रानी विदुला भी अपने पुत्र को शत्रुबध करके स्वधर्म पालन करने का आदेश देती हैं।[10]

महाभारत में शत्रु के प्रति वर्तनेवाली नीति का सम्यक् निरूपण किया गया है। इसके मुख्य सिद्धान्त हैं—शत्रु की गति-विधि से अवगत रहना, गुप्तचरों द्वारा उसकी आर्थिक स्थिति, सैनिक शक्ति, रक्षा-विधान, राजनीतिक सम्बन्ध, तथा प्रजा के रागा-पराग का ज्ञान प्राप्त करना, शत्रु की दुर्बलता (छिद्र) को परिलक्षित करना, उसकी

---

१ नीतिसार, ८.५८.
२ आश्रमवासिक (गीता), ६.२.
३ शान्ति, १०८.७-४१.
४ शान्ति, १३८.३७. द्रष्टव्य, शान्ति, १३६.१८३-१८५, तथा १०४.२७-३०.
५ सभा (गीता), ५५-१३.
६ शान्ति, १३८.५८-५९.
७ शान्ति, १३८ ५२-५४.
८ शान्ति, १०४.३५-४३.
९ सभा (गीता), ५५.९.
१० उद्योग, १३२.३०.

शक्ति क्षीण करना, अपने मित्र, दूत, चरों द्वारा शत्रु के मित्रों में भेद उत्पन्न कराना, दान-मान द्वारा उसकी प्रकृतियों का आत्मसात करना, उसकी सेना में भेद उत्पन्न करना और प्रजा में परस्पर बैर-विरोध की सृष्टि करना, इत्यादि। इन सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिए साम, दान, भेद आदि उपाय काम में लाये जाते थे। इनका प्रयोग देश-कालानुसार तथा शत्रु के बलाबल का विचार करके किया जाता था। शत्रु के प्रति तूष्णी दण्ड, विष तथा कृत्या का प्रयोग करना भी उचित ठहराया गया है।[1]

आदि पर्व मे शत्रु को वश में करने के विभिन्न उपायों का निर्देशन किया गया है। कौरव पाण्डवों को विनिष्ट करने के अभिप्राय से इस प्रकार मंत्रणा करते हैं : गुप्तचरों द्वारा कुन्ती और माद्री के पुत्रों में भेद उत्पन्न किया जाय; राजा द्रुपद, उनके पुत्र, तथा अमात्यों को युधिष्ठिर के परित्याग करने का प्रलोभन दिया जाय, स्वयं कुन्ती के पुत्रों में फूट डालने का प्रयत्न किया जाय; कृष्णा को पतिपरित्याग के लिए बहकाया जाय, अथवा भीष्मसेन का बध करा दिया जाय। 'भीम के बिना पाण्डव अपनी दुर्बलता का अनुभव करके प्रयत्न-हीन हो जायेंगे, और हमारी आधीनता स्वीकार कर लेंगे, तब हम नीतिशास्त्र के अनुसार उनके विनाश कार्य में लग जायेंगे'।[2] उपर्युक्त नीति में सभी उपायों का समावेश परिलक्षित होता है।

अब प्रश्न उठता है कि शत्रु के साथ कैसी नीति बरतनी चाहिये ? अपनी अपेक्षा निर्बल शत्रु पर ही आक्रमण करना चाहिये, बलशाली पर नहीं। जो शत्रु अपनी अपेक्षा अधिक बलशाली हो उसके साथ विग्रह न करे, विशेषतः यदि देश-काल भी उसी के अनुकूल हो। ऐसी अवस्था में निर्बल राजा को यही आदेश दिया गया है कि वह शत्रु के प्रति नतमस्तक हो उसे यथोचित सम्मान प्रदान करे, मधुर वाणी द्वारा आत्मसमर्पण कर दे और इस प्रकार मित्रवत् व्यवहार करे कि शत्रु के मन में सन्देह की उत्पत्ति न हो सके।[3] उसका विश्वास प्राप्त कर लेने के पश्चात् गुप्त रूप से अपने ध्येय की सिद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। उसके साध्य और साधनों का विनाश, मनुष्य बध, मार्ग-दूषण, आगार-विनाश, आदि उपायों का अवलम्बन करके शत्रु-शक्ति के क्षीण करने का प्रयास करे।[4] यदि शत्रु के मन में उसके प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर हट जाना चाहिये। परन्तु यदि परिस्थिति उसके अनुकूल हो, और शत्रु व्यसन-ग्रस्त हो तब उस

---

१ शान्ति, १०४.१६-४३.
२ आदि, १९२.
३ शान्ति, १०४.२७-३०.
४ शान्ति, १३८.४ ; ६१.

पर आक्रमण कर दे। बहुत से शत्रुओं पर एक साथ आक्रमण न करे। साम-दाम आदि उपायों द्वारा एक-एक शत्रु का क्रमशः दमन करने का प्रयास करे। स्वयं बलशाली होने पर भी अनेक शत्रुओं से एक साथ विग्रह न करे।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपाय था शत्रु के शत्रु के साथ मित्रता करना।[१] भीष्म का स्पष्ट आदेश है कि राजा को शत्रु के शत्रु, जो उसकी अपेक्षा अधिक बलशाली हो, के साथ अवश्य सन्धि कर लेना चाहिये। शत्रु के पीड़ित करने का यह सर्वोत्तम उपाय था।[२] महाभारत में एक अत्यन्त रोचक किन्तु सर्वथा सत्य राजनीतिक तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। शत्रु पर प्रहार करने के लिए उद्यत होकर भी उसके प्रति प्रिय बचनों का प्रयोग करे और उसका मस्तक काट कर भी उसके लिए शोक प्रकट करे।[३] शरणागत शत्रु का पुत्रवत् पालन करे।[४] भारत के सभी राजनीतिक विचारकों ने शरणागत-वात्सल्य को राजा का परमधर्म माना है और यह परम्परा देश में निरन्तर विद्यमान रही है।

पराजित शत्रु के साथ उदारतापूर्ण व्यवहार

महाभारत एवं अन्य राजनीतिक ग्रन्थों में शत्रु का उच्छेदन और उन्मूलन राजा का कर्तव्य माना गया है, परन्तु उसकी आधीनता स्वीकार करने पर पराजित शत्रु पूर्णरूपेण रक्षणीय माना गया है। इस प्रसंग पर हम अन्य अध्याय में प्रकाश डालेंगे। भारतीय साम्राज्यवाद पराजित राज्यों को आत्मसात करने की अपेक्षा उनको वशीभूत करना ही श्रेष्ठ मानता है। असुर-विजय की अपेक्षा धर्म-विजय की ही सराहना की गयी है। इस नीति का प्रमाण हमें महाभारत में भी उपलब्ध होता है। व्यास जी भारत युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर को आदेश देते हैं कि वह पराजित तथा मृत राजाओं के राज्य में जाकर उनके अनुज, पुत्र, आदि उपयुक्त अधिकारियों को राजपद पर अभिषिक्त करें। जिनके उत्तराधिकारी बालक या गर्भ में हों उनकी प्रजा को समझा बुझाकर सान्त्वना द्वारा शान्त करें। इस कथन से स्पष्ट होता है कि व्यास पराजित शत्रु के राज्य को आत्मसात करने के पक्ष में न थे। अन्य आचार्यों ने इस विषय पर भी महत्व पूर्ण प्रकाश डाला है कि विजित देश की प्रजा के साथ विजयी राजा को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये।

---

१ शान्ति, १३८.३९-४०.
२ शान्ति, १०४.२६-२७.
३ शान्ति, १३८.५२-५४.
४ सभा, ५.४५.

उपाय

राजशास्त्र-प्रणेताओं ने युद्ध करना क्षत्रिय का सर्व श्रेष्ठ धर्म माना है। युद्ध में विजय निश्चित नहीं, परन्तु दोनों पक्षों का क्षय-व्यय निश्चित है। अतएव उन्होंने राजा को अन्य संभावित उपायों से शत्रु को वश में करने का आदेश दिया है। साधारणतया उपाय चार माने गये हैं—साम, दान, भेद तथा दण्ड। परन्तु कामन्दक आदि आचार्यों ने सात उपायों का भी उल्लेख किया है। अन्य तीन उपाय हैं माया, उपेक्षा, तथा इन्द्रजाल।[१] महाभारत से दोनों ही मतों की पुष्टि होती हैं। चार उपायों का तो उल्लेख मिलता ही है,[२] एक स्थल पर सात उपायों का भी विवरण प्राप्त होता है। यह सात उपाय थे यंत्र, औषधि, इन्द्रजाल, साम, दान, दण्ड तथा भेद।[३] कामन्दक के माया और उपेक्षा के स्थान पर इस ग्रन्थ में यंत्र और औषधि को स्थान दिया गया है। शान्ति पर्व में एक स्थान पर पांच उपायों का उल्लेख प्राप्त होता है:—साम, दान, दण्ड, भेद तथा उपेक्षा।[४] इस प्रकार महाभारत से स्पष्टतः विदित होता है कि मूलतः उपायों की संख्या चार थी, परन्तु क्रमशः इनकी अभिवृद्धि होती गई और अन्ततः सात उपाय माने जाने लगे।

कौटिल्य, कामन्दक, आदि के ग्रन्थों में उपायों की परिभाषा प्राप्त होती है। साम का अर्थ शान्तिपूर्ण उपायों से (सान्त्वना देकर) शत्रु को अपने वश में करना; दान का अर्थ धन देकर शत्रु की प्रकृतियों को अपने पक्ष में लाना, और शत्रु से उन्हें विरक्त करना; भेद का अर्थ शत्रु तथा उनके मित्रों एवं प्रकृतियों में भेद उत्पन्न कराना; और दण्ड का अर्थ बलपूर्वक युद्ध द्वारा शत्रु को वश में करना था।

शान्तिपर्व में बृहस्पति राजा को यही आदेश देते हैं कि साम, दान और भेद नीति का अवलम्बन करके वह अपना ऐश्वर्य बढ़ाने का प्रयत्न करे, और यथासंभव दण्ड प्रयोग से बचे।[५] इन उपायों में कौन अधिक उपयुक्त अथवा लाभदायक है, यह निर्णय करना कठिन है। जब अवसर के अनुरूप उपाय काम में लाये जाते हैं तभी वे सिद्धदायक होते हैं। अतएव विद्वानों ने अवसर के अनुरूप ही उपायों के प्रयोग करने का आदेश दिया है।[६] राज्य की वैदेशिक नीति उपायों पर ही आधारित थी। अतएव

---

१ नीतिसार, १८.३.
२ यथा, सभा, ५.५१; आरण्य. १६९.४१; कर्ण, ६.११-१२; शान्ति १०४.३५.
३ सभा, ५.४१.
४ शान्ति, ५९.३५
५ शान्ति, ६९.२२-२३; ९५.१; १०४.२२.
६ शान्ति, १०४.२३.

राजा को देश-काल तथा अपने बलाबल का विचार करके ही विभिन्न उपायों का प्रयोग करना चाहिये ।[१]

शान्ति पर्व में बृहस्पति का आदेश है कि शत्रु के प्रति सामनीति का नहीं, वरन् दण्डनीति का ही प्रयोग करना चाहिये ।[२] परन्तु विराट पर्व में कहा गया है कि समान-शक्ति शत्रु के प्रति साम और भेद नीति का प्रयोग करना चाहिए । अपनी अपेक्षा अधिक शक्ति-शाली शत्रु के प्रति दान नीति का, परन्तु यदि स्वयं अधिक शक्ति-शाली हो तो दण्ड नीति का प्रयोग करना चाहिये—अर्थात् उस पर आक्रमण करना चाहिये ।[३] इसी प्रकार शान्ति पर्व में भी कहा गया है कि जब शत्रु पक्ष अधिक प्रबल हो तब प्रथमतः सामनीति का प्रयोग करे, और उसके विफल होने पर दान नीति का । दाननीति में यदि भेद नीति का समावेश हो तो वह अधिक उत्तम होती है । अन्य तीनों उपायों के बिफल होने पर ही दण्ड नीति का प्रयोग करना छाहिये ।[४]

उपायों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उद्योग पर्व में प्राप्त होता है । श्रीकृष्ण जी जब कौरवों को समझाने गये तब प्रथमतः उन्होंने सामनीति का प्रयोग किया, जिससे कुरुवंश में फूट न हो और प्रजा की निरन्तर उन्नति होती रहे । इसमें जब उन्हें सफलता न मिली तब उन्होंने भेदनीति का प्रयोग किया । उन्होने दुर्योधन के पक्षपाती राजाओं में फूट डालने का प्रयत्न किया । समस्त राजाओं की भर्त्सना कर दुर्योधन को तृणवत् कह कर तथा कर्ण और शकुनि को डरा धमका कर कौरव दल में भेद उत्पन्न कराने की चेष्टा की । तत्पश्चात्, साम-सहित दान नीति को अपना कर अभीष्ट कार्य सिद्ध करना चाहा । उन सब उपायों के विफल होने पर उन्होंने पाण्डवों से कहा कि उन पापियों को केवल चौथे उपाय, दण्ड प्रयोग, द्वारा ही मार्ग पर लाया जा सकता ।[५]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आवश्यतानुसार चारों उपाय क्रमशः अथवा विभिन्न उपायों का संयुक्त प्रयोग किया जाता था । शान्तिपर्व में भीष्म भी यही आदेश देते हैं कि प्रथमतः सामनीति और उसके विफल होने पर भेदनीति से काम लेना चाहिये । जब उसमें भी सफलता न मिले तब दान नीति का और इन तीनों के विफल

---

१ आरण्य, २८. ३०-३१.
२ शान्ति, १०४. ३९.
३ विराट (गीता), २९. ११-१२.
४ शान्ति (गीता), ९४. ४-५ के मध्य.
५ उद्योग, १४८.

होने पर दण्ड नीति का प्रयोग करना चाहिये ।[1]

इन उपायों में तीन का विशेष महत्व था । बृहस्पति का कथन है कि राजा शत्रु के प्रति प्रथम भेदनीति का और तत्पश्चात् दण्डनीति का प्रयोग करे ।[2] आरण्य पर्व में भीम कहते हैं कि विद्वान राजा तथा उसके मित्रों को भेद नीति द्वारा शत्रु और उसके मित्रों में फूट डालने का प्रयत्न करना चाहिये । उसके परिणामस्वरूप जब उसके मित्र शत्रु राजा का परित्याग कर दें तब उसकी दुर्बलता से लाभ उठाकर अपने बश में कर ले ।[3] कालकबृक्षीय मुनि भी कोशल-नरेश को यही उपदेश देते हैं कि राजा को शत्रु पक्ष में भेद उत्पन्न कराना चाहिये ।[4] विराट पर्व से विदित होता है कि सेना के विनाश करने के जितने साधन हैं उनमें आपस की फूट सब से मुख्य है ।[5]

सामनीति से जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है वह परिणामत: हितकारी होता है ।[6] उद्योग पर्व में पाण्डव कहते हैं–"कि यद्यपि हम युद्ध की इच्छा न रखकर, साम, दान और भेद इत्यादि उपायों से राज्य की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे हैं, तथापि यदि हमारी सामनीति असफल हुई तो युद्ध ही हमारा प्रधान कर्तव्य होगा' ।[7] उनके अनुसार साम और दान के प्रयोग से जो विजय प्राप्त होती है वह श्रेष्ठ है, भेदनीति से प्राप्त विजय मध्यम और युद्ध अर्थात् दण्ड के प्रयोग से प्राप्त विजय जघन्य है । अन्यत्र भी वह श्रीकृष्ण से कहते हैं कि कौरवों के प्रति साम और दान नीति से कोइ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । जो शत्रु साम-दान से प्रसन्न न हो सके उस पर दण्ड का ही प्रयोग करना चाहिये ।[8]

उपेक्षा का उल्लेख हमें शान्ति पर्व में प्राप्त होता है । कालकवृक्षीय मुनि के अनुसार यदि शत्रु उपेक्षा करने के योग्य हैं तो उसकी उपेक्षा करना चाहिये ।[9] बृहस्पति तो राजा को यही आदेश देते हैं कि शत्रु द्वारा उपेक्षित होने पर भी उसे निराश न होना चाहिये ।[10] कामन्दक ने अपने नीतिसार में महाभारत के कथानक

---

१ शान्ति, १०३-२२.
२ शान्ति, १०४.२७.
३. आरण्य, ३४.६६.
४. शान्ति, १०६.९-१३.
५. विराट (गीता), ११.१३.
६. उद्योग (गीता), २.१३-१४.
७. उद्योग, ७०.६९.
८ उद्योग, ८०.१२-१४.
९. शान्ति, १०६.१३.
१०. शान्ति, १०४.१३.

से ही उपेक्षा उपाय के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। कीचक के प्रति विराट ने उपेक्षा की नीति अपनायी थी, और यही नीति हिडिम्बा ने अपने भ्राता के प्रति अपनायी थी। इन घटनाओं का उल्लेख क्रमशः विराट तथा आदि पर्व में प्राप्त होता है।[१]

महाभारत में विष प्रयोग को निन्दित माना गया है, परन्तु शत्रु के विनाश का यह भी एक उपाय था। कालकवृक्षीय मुनि कोशलराज से कहते हैं कि राजा को चाहिये कि औषधि-योग द्वारा अपने शत्रु का विनाश करे और विष का प्रयोग करके उसके हस्ति, अश्व तथा मनुष्यों का बध करवा दे।[२] बृहस्पति भी इसी मत का समर्थन करते हैं।[३]

माया का अभिप्राय है छल तथा कपट द्वारा अपना अभीष्ट सिद्ध करना। कामन्दक ने इस प्रसंग में भीम और नल के उदाहरण दिये हैं। भीम ने कीचक का स्त्रीरूप धारण करके बध किया था। इसी प्रकार राजा नल ने बहुत दिनों तक माया का प्रयोग करके अपने को गुप्त रखा था।[४] यह दोनों ही कथानक महाभारत में प्राप्त होते हैं। द्रोणपर्व में शकुनि को 'मायाशत विशारद' कहा गया है। उसने युद्ध में श्रीकृष्ण और अर्जुन को मोहित करके उनके प्रति माया का प्रयोग किया था, परन्तु अर्जुन ने उसकी सब माया को विफल कर दिया था।[५] भीष्म पर्व में भी अलम्बुष द्वारा महामाया के प्रयोग का वर्णन मिलता है। उसकी समस्त माया को अभिमन्यु ने व्यर्थ किया था।[६] प्रत्येक शासक को शत्रु की माया नीति तथा उसके प्रतिकार के साधनों का ज्ञान होना चाहिये।

षाड्गुण्य

पर राष्ट्र नीति का तीसरा आधार था षाड्गुण्य। प्राय: सभी आचार्यों के अनुसार यहां छः गुण निम्नलिखित हैं :—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव।[७] महाभारत में भी भीष्म ने इन्हीं छः गुणों का उल्लेख किया है। राजाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के यही छः आधार थे। इनकी व्याख्या और विश्लेषण अर्थशास्त्र, नीतिसार प्रभृति राजनीतिक ग्रन्थों में सविस्तार किये गये हैं। सारांशत: शत्रु से मेल

१. नीतिसार, १८. ८-५९.
२. शान्ति, १ ६.२३.
३. शान्ति, १०४.१६.
४. नीतिसार, १८ ५६.
५. द्रोण, १२९.१०-२७
६. भीष्म, ९७, २१-२८
७. नीतिसार, १८ ३.

रखना सन्धि, विरोध करना विग्रह, आक्रमण करना यान, युद्ध की प्रतीक्षा में बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति वर्तना द्वैधीभाव, और अपने से बलवान राजा की शरण लेना संश्रय कहलाता है।

महाभारत में षाड्गुण्य शब्द अथवा उनमें से कुछ गुणों का उल्लेख अनेकशः किया गया है। इसका महत्व इसी से प्रकट हो जाता है कि राजा के लिये षाड्गुण्य नीति के गुण-दोष और उनके यथा अवसर प्रयोग करने का ज्ञान आवश्यक माना गया हैं।[1] भीष्म यथेष्ठ ही कहते हैं कि जो राजा षाड्गुण्य को भली भांति जानता है वही इस पृथ्वी का उपभोग कर सकता है।[2]

इन गुणों में सन्धि और विग्रह ही प्रधान हैं। महाभारत में भी सन्धि और विग्रह की विस्तृत विवेचना की गई है। अन्य गुणों का यदा-कदा उल्लेख मात्र प्राप्त होता हैं।

सन्धि

यद्यपि हमारे आचार्यों ने राजा को युद्ध के लिये सदैव तत्पर रहने का आदेश दिया है और युद्ध करना उसका परम कर्तव्य माना है, तथापि सन्धि को भी उन्होंने कम महत्व नहीं दिया है। सन्धि से यदि कार्य सिद्ध हो सके और शक्ति-सन्तुलन बना रहे तो इससे श्रेष्ठ अन्य कौन साधन हो सकता है? सन्धि युद्ध से पूर्व, युद्ध के मध्य अथवा उसकी समाप्ति पर की जा सकती है। कौटिल्य और कामन्दक ने अपने ग्रन्थों में सन्धि के विभिन्न प्रकार, उसके उपयुक्त अवसर, एवम् उसके योग्य तथा अयोग्य पक्षों की विशद विवेचना की है।

महाभारत में यद्यपि इस प्रकार की विवेचना का अभाव है फिर भी इस विषय पर बहुत महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। भीष्म के अनुसार सन्धि के तीन भेद होते हैं :– उत्तम मध्यम तथा अधम, जिनको क्रमशः वित्त सन्धि, सत्कार सन्धि तथा भय सन्धि कहा जाता है। धन के आदान-प्रदान से की गयी वित्त सन्धि उत्तम, आदर-सत्कार द्वारा सम्पादित सत्कार-सन्धि मध्यय, और भयवश की गयी सन्धि अधम है।[3] सन्धि मित्र के साथ तो की ही जाती है, परिस्थितिवश शत्रु के साथ भी सन्धि की जा सकती है। भीष्म का आदेश है कि आवश्यकता पड़ने पर शत्रु के साथ कभी, किसी भी दशा में, सन्धि की जा सकती है। जो मनुष्य ऐसा नहीं करता वह न अपने

१ शान्ति, ५७.१६-१८; उद्योग. ३३.४३; आदि (गीता), १९१, पृ०५७४.
२ शान्ति, ६९.६४.
३ शान्ति ५९.३७.

उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है और न धन की प्राप्ति। इसके बिपरीत स्वार्थ सिद्ध का अवसर देखकर जो राजा शत्रु के साथ सन्धि करता है वह महान फल प्राप्त करता है।[1] इस मत के समर्थन में उन्होंने मार्जार-मूषिक के सम्वाद रूप में एक प्राचीन कथानक उदधृत किया है। मूषिक कहता है कि आचार्यों के अनुसार संकट के समय जीवन की रक्षा चाहने वाले मनुष्य को निकटवर्ती शत्रु से सन्धि कर लेना चाहिये।[2]

यद्यपि भीष्म ने पूजनी चिड़िया के माध्यम से यह कहा है कि जब आपस में बैर हो तब सन्धि करता उचित नहीं है,[3] परन्तु, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं उन्होंने स्वयं यही आदेश दिया है कि आवश्यकता पड़ने पर शत्रु के साथ भी सन्धि करने में बिलम्ब न करना चाहिये। इस मत की पुष्टि महाभारत में अनेक स्थलों पर की गयी है।[4] भीष्म तो यहां तक कहते हैं कि यदि विजिगीषु आक्रमणकारी का आचार-विचार शुद्ध हो और वह धर्मार्थ के साधन में कुशल हो तो उसके साथ शीघ्र ही सन्धि कर लेना चाहिये। यदि वह शक्तिशाली, परन्तु अधर्मपरायण हो, तो उसके साथ हानि उठाकर भी सन्धि कर लेना उचित है। इतना ही नहीं, यदि आवश्यकता हो तो प्रचुर धन देकर और अपनी राजधानीं का परित्याग करके भी सन्धि कर लेना चाहिये, क्योंकि जीवित रहने पर राजा अपने खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर सकता है।[5] इसी प्रकार धृतराष्ट्र भी युधिष्ठिर को उपदेश देते हैं कि क्षीण-शक्ति राजा को अल्पफला भूमि, स्वर्ण, कुप्य तथा अपनी सेना भी देकर शत्रु के साथ सन्धि करने का प्रयास करना चाहिये। इसके विपरीत यदि शत्रु क्षीण-शक्ति हो और सन्धि के लिये इच्छुक हो तो उससे यही सब वस्तुयें लेकर सन्धि कर ले। इतना ही नहीं, उसके पुत्र को भी बंधक स्वरूप अपने देश मे रखने की चेष्टा करे।[6]

भीष्म का स्पष्ट आदेश है कि अपने तथा शत्रु के बलाबल और देश-काल को देख कर शत्रु के साथ सन्धि करना चाहिये।[7] अपनी निर्बलता शत्रु पर प्रकट होने से पूर्व ही सन्धि कर लेना और भी श्रेयस्कर है। अन्यत्र वह कहते हैं कि यदि अपने और

---

१ शान्ति, १३६.१५-१६.
२ शान्ति, १३६.४४.
३ शान्ति, १३७.२७.
४ शान्ति, १३६.९४-९६; १९९-२००; २०२-२०६.
५ शान्ति, १२९.४-६.
६ आश्रमवासिक (गीता), ६.८; १२
७ शान्ति, १३८.२९.

शत्रु के प्रयोजन समान हों तो उसके साथ सन्धि करके युक्तिपूर्वक अपना कार्य सिद्ध करना चाहिये।[1] लोमश तथा नारद ऋषि भी समयानुसार सन्धि और विग्रह करने के पक्षपाती हैं।[2] इसी प्रकार कृपाचार्य भी दुर्योधन को अपने तथा अपने मित्रों की शक्ति और बलाबल का विचार करके ही पाण्डवों के साथ सन्धि या विग्रह करने का आदेश देते हैं।[3]

भीष्म ने सन्धि करने योग्य तथा अयोग्य पुरुषों की भी व्याख्या की है। उनके अनुसार कुलीन, वाक्कुशल, ज्ञान-विज्ञान में दक्ष, गुणवान, लोभरहित, जितश्रम, सद्मित्र-सम्पन्न, कृतज्ञ, मधुर-स्वभाव, सत्य-प्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, दोषरहित तथा लोक-विख्यात व्यक्ति ही मित्रता के पात्र हैं। जो यथाशक्ति अपना कर्तव्य पालन करते हैं, अकारण क्रोध अथवा स्नेह का परित्याग नहीं करते, तथा मित्र का अहित नहीं चाहते वे ही सन्धि के लिए उपयुक्त पात्र हैं। एक स्थल पर कहा गया है कि सुहृदों के प्रति सुस्थिर-बुद्धि, उनके कार्य-साधन में तत्पर, मित्र-धर्म का निर्वाह तथा शास्त्रानुसार आचरण करने वाले व्यक्ति से जो सन्धि करता है उसका राज्य चन्द्रमा की चाँदनी की भांति बढ़ता है।[4] इसके विपरीत लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, कपटी, शठ, क्षुद्र, पापाचारी, सर्वशंकी, आलसी, दीर्घसूत्री, गुरुपत्नीगामी, नास्तिक, वेद-निन्दक, इन्द्रियलोलुप, असत्यवादी लोक-विद्विष्ट, अकृत-प्रतिज्ञ, नृशंस, तथा परछिद्रान्वेषी मनुष्य से सन्धि न करना चाहिये।[5]

भीष्म शत्रु के साथ सन्धि करके भी उसका विश्वास न करने का आदेश देते हैं।[6] जो बलवान व्यक्ति से सन्धि करके आत्मरक्षा के प्रति उदासीन हो जाता है उसकी सन्धि खाये हुये अपथ्य अन्न के समान अहितकर होती है।[7]

विग्रह

महाभारत में इस तथ्य को अनेकशः प्रतिपादित किया गया है कि देश, धर्म और प्रजा-रक्षार्थ राजा को सदैव युद्ध के लिये तत्पर रहना चाहिये। शत्रु-दमन उसका प्रधान कर्तव्य था। शान्ति पर्व में भीष्म, शुक्राचार्य का निम्नोक्त कथन उधृत करते हैं :—

---

१ शान्ति ६९.१५-१६.
२ सभा, ५. १५, शान्ति १३८. १८४-८५.
३ विराट (गीता), २९.४.
४ शान्ति, १६२.१७-२५.
५ शान्ति, १६२.६-१६.
६ शान्ति, १३६.२०६-२०७; १३८.३७.
७ शान्ति, १३६.९.

भगवानुशना चाह श्लोकमत्र विशांपते ।
तमिहैकमना राजन्गदतस्त्वं निबोधमे ।।
द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजनं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ।।[१]

राजा को दुर्बल शत्रु की भी अवहेलना न करना चाहिये, क्योंकि अल्प अग्नि, और अल्प विष भी मार डालने में समर्थ होते हैं।[२] थोड़ी सी भी असावधानी से लाभ उठा कर शत्रु बाज पक्षी की भांति टूट पड़ते हैं।[३] अतः भीष्म शत्रु को विषैले सर्प की भांति मार डालना ही उचित मानते हैं।[४] अन्यत्र भी वह कहते हैं कि ऋण, अग्नि और शत्रु को अवशिष्ट न छोड़ना चाहिये।[५] भगबान वासुदेव भी इसी मत के समर्थक हैं।[६] इसी प्रकार युधिष्ठिर का कथन है कि क्षत्रिय युद्ध में दूसरों का बध करके ही जीवन निर्वाह करते हैं। यही परम्परा से चला आने वाला धर्म है।[७] सञ्जय की दृष्टि में तो क्षत्रिय के लिये युद्ध से अधिक लाभप्रद कोई अन्य कार्य ही नहीं है।[८]

युद्ध का औचित्य

शान्ति पर्व में युद्ध के औचित्य पर भी विचार किया गया है। युधिष्ठर के अनुसार 'क्षात्रधर्म से अधिक पापपूर्ण कोई धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि युद्ध में महान जन संहार होता है।' भीष्म ने उनकी शंका समाधान करते हुए युद्ध के औचित्य को इस प्रकार व्यक्त किया : 'जो विजयार्थी राजा युद्ध के अवसर पर प्राणियों को कष्ट पहुंचाता है, वही विजय के उपरान्त समस्त प्रजाकी उन्नति करता है। जैसे खेत को निराने वाला किसान घास आदि के साथ कितने ही धान के पौधों को काट डालता है तो भी धान नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार राजा और उसके सैनिक युद्ध में शत्रुओं का का वध करते हैं, परन्तु युद्ध के पश्चात् राज्य की उन्नति करके प्रायश्चित कर डालते हैं। दान, यज्ञ और तप के प्रभाव से उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। यथेष्ठ ही कहा गया है कि शत्रुओं से युद्ध छेड़ कर जो राजा अपने शरीर को यूप की भाँति

---

१ शान्ति, ५७.२-३.
२ शाति, ५८.१२-१७, तथा ८३.५४; ९०.२१; ९४.२०; उद्धोग, ८१.१३.
३ शान्ति, ९६.३६.
४ शान्ति, १२०.१४-१५.
५ शान्ति, १३८.५८-५९.
६ आरण्य, २३.२३-२७.
७ उद्योग (गीता), ७०.४६-४८; ८३.१३.
८ उद्योग (गीता), १५९.५१, तथा शल्य (गीता), ४.८-९.

निछावर कर देना है उसका त्याग अनन्त दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ के तुल्य है।[१] एक अन्य स्थल पर युद्ध की तुलना यज्ञ से की गयी है। युद्ध करने का वही फल होता है जो अनन्त दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ का।[२] युधिष्ठिर और कृष्ण का सम्वाद भी युद्ध के औचित्य पर प्रकाश डालता है। युधिष्ठिर के अनुसार 'जब ऐसे व्यक्तियों का बध करना उचित नहीं जिनका अपने साथ कोई सम्बन्ध न हो, और जो सर्वथा अनार्य और शत्रु भाव रखने वाले हों तब अपने सगे सम्बन्धी, श्रेष्ठ और सुहृद जनों का बध कैसे उचित हो सकता है? उनका बध तो बड़ा पाप है—युद्ध सर्वथा पाप-मूल है।' श्रीकृष्ण ने उनकी धारणा को भ्रामक सिद्ध करते हुए कहा कि विधाता ने क्षत्रियों के लिये यही सनातन धर्म निर्धारित किया है—संग्राम में विजय प्राप्त करना अथवा युद्धभूमि में प्राणोत्सर्ग कर देना।[३] धृष्टद्युम्न के अनुसार भी शत्रु का बध न करना ही अधर्म है।

इस प्रसंग में यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि महाभारत में क्षत्रिय के लिए वीरगति प्राप्त करना परम धर्म माना गया है। भीष्म के अनुसार युद्धस्थल में वीर योद्धा की त्वचा में जितने शस्त्र विदीर्ण होते हैं, उसे उतने ही सर्व-कामनापूर्ण अक्षयलोक प्राप्त होते हैं। रक्त के प्रवाह से सम्पूर्ण पाप धुल जाते हैं। बाणों के चुभने से जो कष्ट होता है उससे उसके तप की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।[४] युद्ध से परांगमुख कायर सर्वथा बध्य हैं। क्षत्रिय के लिए तो युद्ध में मृत्यु का आलिंगन ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।[५] जो सैनिक युद्ध-भूमि में वीरगति प्राप्त करता है वह इन्द्रलोक प्राप्त करता है, और इसके विपरीत जो पीठ दिखाकर युद्ध से भागता है वह नरकगामी होता है।[६] ऐसा इन्द्र का कथन है। अन्यत्र भीष्म एक प्राचीन कथानक का उल्लेख करते हुए कहते है कि मिथिलानरेश जनक ने योग-बल से अपने सैनिकों को स्वर्ग और नरक का प्रत्यक्ष दर्शन कराया था, जो क्रमशः शूर-वीरों और कायरों को प्राप्त होते हैं।[७] स्त्री पर्व में भी कहा गया है कि युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले सैनिक जितनी सुगमता से स्वर्ग-लोक जाते हैं, उतनी सुगमता से प्रचुर दक्षिणा-युक्त यज्ञ करने वाले भी नहीं।[८] इसी

---

१ शान्ति, ९८ १-११; १३८.५०.
२ शान्ति, ९९.१३-२६.
३ उद्योग, ७०-७१.
४ शान्ति, ९२.११-१४.
५ शान्ति, ९८.२०-३०.
६ शान्ति, १९.२६-४१.
७ शान्ति, १००.१-८.
८ स्त्री (गीता), २. १६: १८; ९. १८; २१.

पर्व में अन्यत्र युद्ध भूमि में मृत्यु क्षत्रिय के लिए उत्तमगति बतायी गयी है ।[1] युद्ध-धर्म का पालन ही तप, तथा सनातन धर्म है ।

इसी प्रकार के आदर्श अन्य कई स्थलों पर भी व्यक्त किये गये हैं ।[2] द्रोण पर्व में अभिमन्यु की मृत्यु से दुखी अर्जुन को कृष्ण समझाते हुए कहते हैं : 'युद्ध में पीठ न दिखाने वाले शूरवीरों का यही मार्ग है । उनके लिए शास्त्रज्ञों ने यही गति निश्चित की है । अभिमन्यु पुण्यात्मा पुरुषों के लोक में गया है । संग्राम में मृत्यु प्राप्त करना शूरवीरों का अभीष्ट मनोरथ है' ।[3] इसी प्रकार के उद्गार अश्वत्थामा ने अपने पिता की मृत्यु के बाद व्यक्त किये थे । युद्ध में मृत्यु होने से स्वर्ग की, और शत्रुबध करके यश की प्राप्ति होती है । दोनों ही प्रकार से युद्ध लाभदायक होता है । इसमें निष्फलता तो है ही नहीं ।[4]

हम ऊपर लिख चुके हैं कि महाभारत युद्ध करना राजा का धर्म मानता है, और समरभूमि में वीरगति प्राप्त करने वाले सैनिकों की बहुत प्रशंसा करता है । लेकिन इस ग्रन्थ से यह भी प्रतिध्वनित होता है कि यथा-संभव युद्ध से बचना चाहिये । अन्यान्य उपायों के विफल होने पर ही युद्ध-पथ पर अग्रसरित होना चाहिये । बामदेव का स्पष्ट आदेश है कि राजा युद्ध के अतिरिक्त अन्य उपायों से ही अपना लक्ष्य सिद्ध करे, क्योंकि युद्ध द्वारा प्राप्त विजय जघन्य मानी जाती है ।[5] इसी प्रकार भीष्म का मत है कि यदि सन्धि संभव हो तो युद्ध न करना चाहिये । साम, दान और भेद आदि उपायों के विफल होने पर ही युद्ध मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये ।[6] बृहस्पति भी यथासंभव युद्ध बचाने के पक्षपाती हैं क्योंकि युद्ध में विजय अनिश्चित है ।[7] यदि युद्ध अवश्यम्भावी हो तब राजा को देश-काल और शत्रु के बलाबल को भली भाँति ज्ञात कर उसमें संलग्न होना चाहिये ।

इस ग्रन्थ में युद्ध से पूर्व करणीय कार्यों पर भी प्रकाश डाला गया है । सर्व प्रथम शत्रु के पास दूत भेजकर सन्धि की चेष्टा करे । पाण्डवों ने भी श्रीकृष्ण को अपना

---

१ स्त्री (गीता), ११. ८.
२ यथा अरण्य, १५४.२४-२५; २३८.९ विराट (गीता), ३८.२९; ६९.७; कर्ण (गीता), ९३.५४-५५, इत्यादि.
३ द्रोण (गीता), ७२.६७-७२.
४ स्त्री (गीता), २.१८.
५ शान्ति, ९५.१.
६ शान्ति, १०३.२२.
७ शान्ति, १०४. २.

दूत बना कर कौरवों के पास भेजा था। तत्पश्चात् दूत के प्रयास असफल होने पर युद्ध आरम्भ करना चाहिये। आक्रमण करने से पूर्व राजधानी की रक्षा का समुचित प्रबंध नितान्त आवश्यक था। घोष, ग्रामादि (जिनकी रक्षा सुगमता से न की जा सके) के निवासियों को नगरों में भेज दे और उनको दुर्गम गुप्त स्थानों में स्थान दे।[१]

युद्ध के योग्य-अयोग्य पक्ष

बामदेव के अनुसार राजा को अपनी अपेक्षा दुर्बल शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये, अपने से बलवान पर नहीं।[२] भीष्म का भी यही मत है। उनके अनुसार जिसको समूल नष्ट करना संभव न हो. और जिसका मस्तक काट कर धरती पर न गिरा सके ऐसे शत्रु से विग्रह करने की चेष्टा न करे।[३] कृपाचार्य ने भी एक अवसर पर कहा था कि दुर्बल शत्रु को ही बल से दबाना चाहिये। अधिक-बल शत्रु यदि सेना और वाहन में अपनी अपेक्षा हीन हो तभी उसके साथ युद्ध करना लाभदायक होगा।[४] मित्रहीन, सहायक और बन्धु रहित, दूसरे के साथ युद्ध में व्यस्त, प्रमादग्रस्त, दुर्बल शत्रु ही आक्रमण के योग्य हैं। भीष्म का यह कथन सर्वथा यथेष्ठ है: 'जिसने बलवान के साथ विग्रह ठाना उसके लिये कहां राज्य और कहां सुख'।[५]

युद्ध के लिये उपयुक्त अवसर

महाभारत में युद्ध के उपयुक्त अवसर की भी विवेचना की गयी है। बामदेव का कथन है कि राजा तभी युद्ध करे जब वह दृढ़-मूल हो, उसके सैनिक हृष्ट-पुष्ट तथा सन्तुष्ट हों और काल उसके अनुकूल हो।[६] बृहस्पति भी ऐसी ही स्थिति में शत्रु पर आक्रमण करने का आदेश देते हैं, विशेषत: जब अपनी सेना अनुरक्त और शत्रु की अपेक्षा अधिक बल-सम्पन्न हो।[७] समबल अथवा अधिक-बल शत्रु के साथ वह सन्धि करने के ही पक्षपाती हैं।[८] भीष्म के अनुसार भी जब विजिगीषु राजा के सैनिक कृत-

---

१ शान्ति ६९ १९-२०; ३३-३८.
२ शान्ति, ९४.२१.
३ शान्ति, १३८.६३-६८.
४ विराट (गीता), २९ ११-१३.
५ शान्ति, १३७.१०७ :—बलिना विग्रहो राजन्न कथांचित्प्रशयते।
बलिना विगृहीतस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम्।
६ शान्ति, ९५. २-६.
७ शान्ति, १०४-१९-२१.
८ शान्ति, १०४. ३७-३८.

निश्चय और उसके अस्त्र-शस्त्र युद्धोपयोगी हों अथवा जब शत्रु व्यसन-ग्रस्त हो तभी उस पर आक्रमण करना उचित है। वह तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि समय अपने अनुकूल न हो तो शत्रु को कन्धे पर बिठा कर भी ढोता रहे। परन्तु समय अनुकूल होते ही उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे जैसे घड़ा पत्थर पर पटक कर तोड़ दिया जाता है। यथासाध्य जब देशकाल अनुकूल तथा अपना पक्ष प्रबल हो तभी विग्रह करना चाहिये।[१] परन्तु यदि अपने ऊपर संकट उपस्थित हो तब तत्काल शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिये।[२] आरण्य पर्व में प्रह्लाद भी यही कहते हैं कि देश-काल तथा बलाबल का विचार करके ही राजा अपनी नीति निर्धारित करे।[३]

इस ग्रन्थ में युद्ध के उपयुक्त ऋतु का भी वर्णन प्राप्त होता है। चैत्र एवम् मार्गशीर्ष के मास आक्रमण के लिए अनुकूल माने गये हैं, क्योंकि इस समय परिपक्व अन्न और जल की प्रचुरता होती है। ऋतु न अत्याधिक शीतल न उष्ण रहती है।[४] शुभतिथि तथा श्रेष्ठ नक्षत्र में आक्रमण प्रारम्भ करना चाहिये।[५]

युद्ध-नियम

भारत के प्राचीन राजशास्त्र-प्रणेताओं ने शत्रु पर विजय प्राप्त करना और युद्ध के लिए सदैव कटिबद्ध रहना राजा का परम धर्म माना है, परन्तु वे युद्ध को अल्पाति अल्प विनाशकारी बनाना चाहते थे। उनका ध्येय था कि युद्ध में निरर्थक क्षय-व्यय न हो। इसीलिए धर्म-युद्ध को अन्य प्रकार के युद्धों से श्रेष्ठ माना गया है और इसी अभिप्राय से कतिपय युद्ध सम्बन्धी नियम भी निर्धारित किये गये हैं। यह नियम प्रायः उसी प्रकार के हैं जैसे आधुनिक युग में हेग-कन्वेन्शन में निर्धारित किये गये थे। यह नियम केवल शास्त्र ग्रन्थों तक ही न सीमित थे, वरन् क्रियान्वित भी होते थे। इसकी पुष्टि मेगस्थनीज के वृत्तान्त से होती है, जिसे यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि एक ओर सैनिक युद्ध कर रहे थे और दूसरी ओर उनके निकट ही भारतीय कृषक खेतों में कृषि कार्य।

युद्ध नियमों का उल्लेख तो अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है परन्तु महाभारत में उन्हें सविस्तार वर्णित किया गया है। शान्तिपर्व के अनुसार यह नियम इस प्रकार थे :—

---

१ शान्ति, १३८. ७-१८; २८-२९.
२ शान्ति, १३८.३३.
३ आरण्य, २९.३१.
४ शान्ति, १०१.८-१०.
५ शान्ति, १०१.२३-२४.

१ राजा राजा ही के साथ युद्ध करे,
२ एक पक्ष का योद्धा विपक्षी को सूचना देकर प्रहार करे, धोखे से नहीं,
३ कवचधारी सैनिक कवचधारी के साथ युद्ध करे,
४ रथी रथी से युद्ध करे, अश्वारोही से नहीं,
५ कवचहीन अथवा शरणागत विपक्षी को बन्दी बना ले, किन्तु बध न करे,
६ वृद्ध, बालक तथा स्त्री का बध न करे
७ भागते हुए की पीठ पर प्रहार न करे,
८ व्यसन ग्रस्त, सोते, प्यासे और थके हुये सैनिकों पर प्रहार न करे,
९ युद्ध स्थल से प्रस्थान करते अथवा भोजन करते समय प्रहार न करे,
१० सन्धि हेतु यदि ब्राह्मण दोनों सेनाओं के मध्य उपस्थित हो जाय; तब तत्काल युद्ध बन्द करा दे.
११ घायल सैनिक अपने अधिकार में आ जाय तो उसकी चिकित्सा कराये अथवा उसके घर वापस भेज दे.
१२ यदि शत्रु धर्म-युद्ध करे तो धर्म युद्ध और कूट-युद्ध करे तो कूट-युद्ध करे।

भीष्म अधर्म से प्राप्त विजय को निन्दनीय मानते हैं।[१] भीष्म पर्व में भी इसी प्रकार के कुछ नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है जो भारत युद्ध से पूर्व कौरव, पाण्डव, तथा सोमकों ने निर्धारित किये थे।[२]

इन नियमों का साधारणतया पालन किया जाता था। विराट पर्व में अर्जुन कहते हैं कि अनाथ, दीन, दुर्बल, वृद्ध, पराजित, अस्त्रहीन, एवं शरणागत व्यक्तियों का मैं बध नहीं करता।[३] अन्यत्र भीष्म कहते हैं 'जिसने शस्त्र डाल दिये हों, कवच और ध्वजा रहित हो अथवा भयभीत हो, एवम् जिसका स्त्रियों जैसा नाम हो अथवा जो अपने पिता का इकलौता पुत्र हो ऐसे मनुष्यों के साथ युद्ध करना मैं पसन्द नहीं करता'।[४]

युद्ध नियमों का उल्लंघन :–

भारत युद्ध में ही नियमों का उल्लंघन भी हुआ था।[५] सब प्रकार के सैनिक

---

१ शान्ति. ९६-९७; ९९.४६-४८; १०० १२-१४.
२ भीष्म, १.२५-३२.
३ विराट (गीता), ६७.५.
४ भीष्म, १०३.७१:७८.
५ भीष्म, १०३.७८.

एक दूसरे से युद्ध करने लगे।[१] मर्यादाहीन युद्ध का विस्तृत विवरण शल्य पर्व में प्राप्त होता है।[२] अन्य पर्वों में भी यही स्थिति दृष्टिगोचर होती है। अभिमन्यु, दुर्योधन, कर्ण, आदि के बध इसके उदाहरण हैं। अभिमन्यु-बध कौरव महारथियों द्वारा असहाय अवस्था में किया गया था, जब उसके रथ, अश्व और अस्त्र-शस्त्र सभी विनष्ट हो गये थे। स्वयं संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि 'यह धर्म-संगत न था'।[३] अचार्य द्रोण को धृष्टद्युम्न ने ऐसे समय मारा था जब वह अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का सम्बाद सुन कर अस्त्र परित्याग कर, आमरण उपवास का व्रत लेकर रण-भूमि में बैठ गये थे।[४] इस कार्य के लिए अश्वत्थामा युधिष्ठिर की भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि आपने सनातन धर्म की अवहेलना करके उनका बध किया है।[५] परन्तु स्वयं अश्वत्थामा ने रात्रि में सोते हुए पाण्डव वीरों का संहार किया था, और कृतवर्मा तथा कृपाचार्य ने भागते हुये योद्धाओं का।[६] अर्जुन द्वारा कर्ण का बध भी युद्ध नियम के प्रतिकूल था। जिस समय उनका बध किया गया था उस समय निःशस्त्र और निर्यान कर्ण पृथ्वी में धंसे हुये अपने रथ के पहियों को निकालने में संलग्न थे।[७] भीमसेन ने दुर्योधन की जंघा पर प्रहार किया था। इसकी निन्दा करते हुए बलराम कहते हैं कि नाभि के नीचे किसी अंग पर आघात करना गदा-युद्ध के सर्वथा विरुद्ध है।[८] उसी प्रसंग में वैशम्पायन का भी कथन है कि युद्ध नियम का उल्लंघन करके ही भीमसेन ने दुर्योधन का बध किया था।[९] दुर्योधन कहते है : 'बहुत से वीरों का एक के साथ युद्ध करना न्यायोचित नहीं, विशेषतः जब वह कवचहीन, परिश्रान्त, आपत्ति-ग्रस्त, और आहत हो तथा उसके वाहन और सैनिक सभी थके हों।[१०] राम द्वारा बालि-बध को भी इसी कोटि में स्थान देना चाहिये।[११]

इसी प्रकार महाभारत में कुछ और भी परस्पर विरोधी कथन द्रष्टव्य हैं।

---

१ भीष्म, ११३.७.
२ शल्य, २२.
३ द्रोण, ४८.२१.
४ द्रोण, १६५.११९-१२०.
५ द्रोण, १६७. ३६-३८.
६ सौप्तिक (गीता), ८.
७ कर्ण ३४.२७-२८ तथा ४२.
८ शल्य, ५७. ४४; ५९.६.
९ शल्य ७. ९-१३.
१० शल्य, ३० १०-१३.
११ आरण्य (गीता), २७९. ३८.

शान्तिपर्व में एक स्थान पर शत्रु-राज्य की कृषि नष्ट करना तथा विष आदि का प्रयोग अनुचित माना गया।[1] परन्तु उसी पर्व में अन्यत्र राजा को यह आदेश दिया गया है कि गुप्त रूप से शत्रु राज्य में फल-फूल, कृषि आदि विनष्ट करके विष द्वारा उसके गज, अश्व और मनुष्यों के बध कराने का उपक्रम करे। इसी प्रकार के अन्य कपट-पूर्ण प्रयोग भी काम में लाये जाते थे।[2] परन्तु यह सब क्रियायें धर्म-संगत नहीं मानी गयी हैं। इनका उपयोग धर्मयुद्ध में नहीं, कपट युद्ध में ही संभव था।[3]

युद्ध की लूट

युद्ध के नियमों की भाँति पराजित शत्रु के देश में होने वाली लूट सम्बन्धी नियम भी प्रतिपादित किये गये हैं :—

१—यदि राजा किसी कन्या को अपने पराक्रम से हरण करे तो वह एक वर्ष तक उससे कोई सम्पर्क न रखे, और यदि वह किसी दूसरे को वरण करना चाहे तो उसे लौट जाने दे।

२—यदि कोई राजा किसी का सम्पूर्ण धन अपहरण करले, तो उसे भी एक वर्ष बाद उसके स्वामी को लौटा देना चाहिये।

३ अपहरित गाय तथा बैल ब्राह्मणों को अर्पण कर दे।

यदा-कदा इन नियमों का भी उल्लंघन होता था। इस प्रसंग में भीष्म प्रतर्दन और दिवोदास के उदाहरण देते हैं। प्रतर्दन पराजित राजा की भूमि छोड़ कर शेष समस्त धन, अन्न, एवं औषधि अपनी राजधानी को ले आये थे। इसी भांति दिवोदास अग्निहोत्र यज्ञ का अंगभूत हविष्य तथा भोजन भी हर लाये थे।[4]

युद्ध की लूट को कितना महत्व दिया जाता था इसका आभास हमें विराट पर्वान्तर्गत गोहरण पर्व से मिलता है। जब कौरव दल विराट देश पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था, तब त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा ने कहा था: 'राजा विराट के यहाँ नाना प्रकार के रत्न और धन हैं वे हम सब ले लेंगे। उनके सहस्रों गायें हैं। हम उनका भी अपहरण कर लेंगे'। पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार एक ओर से

---

१ शान्ति, १०४. ३९.
२ शान्ति, १०६. ५-२४; १२०. १०; १३८-६१.
३ शान्ति, १०७-३.
४ शान्ति, ९७. ५-६; १९-२०.

सुशर्मा ने और दूसरी ओर से कौरवों ने आक्रमण किया और गायों के समूह पर अधिकार कर लिया।[1] परन्तु अन्ततः युद्ध में कौरव पराजित हुये।

अन्य गुण

सन्धि और विग्रह का विवरण हम पहले दे चुके हैं। अब महाभारत के आधार पर हम अन्य चार गुणों की विवेचना करेंगे।

यान

यान का अर्थ है शत्रु देश पर चढ़ाई करना (अभियान)। कामन्दक ने यान के पाँच भेद माने हैं।[2] महाभारत में जो तत्सम्बन्धी विवरण प्राप्त होता है उसका वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं।

आसन

यह यान से पूर्व की उस स्थिति का द्योतक है जब दोनों शत्रु अपनी-अपनी सीमा के अन्दर पूर्णतः तैयार होकर युद्ध की प्रतीक्षा करते हैं। दोनों ही पक्ष युद्ध के लिये सन्नद्ध रहते हैं इसकी तुलना किसी अंश में आधुनिक युग के 'शीत युद्ध' (कोल्ड-वार) से की जा सकती है। कामन्दक ने आसन के भी पाँच भेद माने हैं।[3] महाभारत युद्ध से पूर्व सामरिक तैयारी का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार राजा सर्व प्रथम राजधानी की रक्षा का समुचित प्रबन्ध करे। राज्य के धनी व्यक्ति, सेना के प्रधान अधिकारी, तथा सेना को गुप्त तथा दुर्गम स्थान में रखे। पके हुये धान्य को खेत से काट कर दुर्ग में रखे और यदि यह संभव न हो तो उसे भस्म कर दे। नदी पर निर्मित पुल तुड़वा दे, शत्रुमार्ग में स्थित जलाशयों का जल दूषित करा दे, छोटे छोटे दुर्गों को विनष्ट करा दे, नगर एवं दुर्ग की रक्षा का समुचित प्रबंध करे, प्रगण्डी, आकाश जननी, आदि का संस्कार कराये, परिखा में जल भरवा कर उसमें काँटे बिछा दे, तथा जल-जन्तु छोड़ दे, नगर द्वार पर यंत्र स्थापित करे, दुर्ग के भीतर आवश्यक सामग्री एकत्रित करे, नवीन कूपों का निर्माण तथा पुरानों का जीर्णोद्धार कराये, तृणाच्छादित गृह गीली मिट्टी से लिपा दे, नगर से घास फूस हटा दे, दिन में अग्निहोत्र के अतिरिक्त अग्नि प्रज्ज्वलित न करने दे। नगर से भिक्षुक, चाक्रिक,

---

१ विराट (गीता), ३०. ९-११; २५-२७.

२ नीतिसार, १६. २-२०.

३ नीतिसार, १६. १२-२२.

क्लीव, उन्मत्त, कुशीलव आदि को निष्काषित कर दे (क्योंकि शत्रु के गुप्तचर इस प्रकार के छद्मवेश धारण करते हैं)। आवश्यकतानुसार सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, खाद्य सामग्री एवं औषधि और वैद्यों का संग्रह करे। साथ ही साथ अपने गुप्तचरों द्वारा शत्रु की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करता रहे, और उसके पक्ष में फूट डालने का प्रयत्न करे।[1]

इन आदेशों का समुचित पालन हम द्वारिकापुरी में शल्व के आक्रमण के अवसर पर देखते हैं। मार्ग के पुल तोड़ दिये गये, नौकायें रोक दी गयीं; परिखा में काँटे बिछा दिये गये और आक्रमण-मार्ग में लोह कंटक बिछा कर उसे दुर्गम बना दिया गया था, दुर्ग में अस्त्र-शस्त्र, खाद्य सामग्री पर्याप्त मात्रा में संचित कर दी गयी थी। स्थान-स्थान पर सैनिक नियुक्त थे और बिना राजमुद्रा के न कोई बाहर जा सकता था और न भीतर आ सकता था।[2]

संश्रय

सन्धि और विग्रह की ही भांति संश्रय को भी बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। इसके दो रूप होते हैं—अपनी अपेक्षा अधिक बलशाली शत्रु के आक्रमण के भय से उससे अधिक शक्तिशाली राजा का आश्रय ग्रहण करना, अथवा जब अपनी रक्षा का अन्य उपाय संभव न हो तब शत्रु की शरण ग्रहण करना। इस विषय का विस्तार पूर्वक वर्णन हम पहले कर चुके हैं। कोशलकुमार को कालकवृक्षीय मुनि ने इस प्रसंग में जो उपदेश दिया था वह द्रष्टव्य है। उनके अनुसार पराजित क्षीण-बल राजा को अन्य उपायों के अभाव में विनम्र होकर शत्रु नृप की सेवा करना चाहिये। अपने व्यवहार और कृत्यों द्वारा उसका विश्वास प्राप्त करके उसकी सहायता से बल वृद्धि करे, परन्तु साथ ही साथ शत्रु को विनष्ट करने के लिए भी प्रयत्नशील रहे। कुत्ते और हिरन की भांति चौकन्ना रह कर, शत्रु के प्रति मित्र-धर्म का पालन करते हुए यथासंभव उसकी शक्ति क्षीण करने का उपाय करे। उसे ऐसे कार्य करने की प्रेरणा दे जिसको पूरा करना अत्यन्त कठिन हो, अथवा शक्तिशाली राजाओं के साथ उसका विरोध करा दे। येन केन प्रकारेण उसकी शक्ति क्षीण करने का उपाय करे और अवसर पाकर उसका उन्मूलन कर दे।[3]

---

१ शान्ति, ६९ ४५-६०.
२ आरण्य, १६.
३ शान्ति, १०६ तथा १०८.१७.

द्वैधीभाव

इसका शाब्दिक अर्थ है दोहरी नीति या दुरंगी चाल। इसका आधार कपट नीति है। शत्रु अथवा अन्य राजाओं से एक दूसरे के प्रति सहायता प्राप्त करने की चेष्टा करना। यह नीति बहुत सतर्कता से वर्ती जाती थी, जिससे शत्रु उसकी दोहरी नीति समझ न सके। महाभारत से द्वैधीभाव का उल्लेख तो अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है[१], परन्तु उसका विश्लेषण नही किया गया है।[१]

१ उद्योग, ३३.४४; आदि, १९९.

११

दण्ड एवम् न्याय व्यवस्था

आधुनिक युग में, विशेषत: जनतंत्रात्मक राज्यों में न्याय व्यवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। विश्व के प्राय: सभी संविधानों में सरकार के तीन अंग माने गये हैं– कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका, तथा न्यायपालिका। न्यायपालिका संविधान के अनुसार निर्मित विधि (कानून) के औचित्य-अनौचित्य पर विचार व्यक्त करती है। एतदर्थ इसका महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। प्राचीन भारत में सभा और समिति जैसी संस्थाएं अवश्य विद्यमान थीं किन्तु उनको कानून बनाने का अधिकार न था। इसी प्रकार न्यायालयों को भी कानुन के औचित्य या अनौचित्य पर विचार करने का अधिकार न था। इसका कारण यही था कि प्राचीन काल में हमारे देश में कानून के मूल स्रोत श्रुति, स्मृति तथा शिष्टाचार ही थे। नारद और कौटिल्य ने राजशासन को भी कानून का स्रोत माना है। परन्तु उनके अनुसार भी राजा देश के मूल कानून में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता था। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्राचीन भारत में न्याय-व्यवस्था का स्थान गौण था। वस्तुत: स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। न्याय के महत्व को समझने के लिए हमें भारतीय राजशास्त्र-प्रणेताओं के धर्म एवं दण्ड सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन करना चाहिये।

संस्कृत भाषा का 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है। आँग्ल भाषा में एक भी शब्द ऐसा नही है जो इसका पर्यायवाची माना जा सके। इस शब्द में 'रेलिजन', 'एथिक्स' तथा 'ला' सभी का समावेश है। प्रस्तुत प्रसंग में हम धर्म को 'ला' के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं। हमारे धर्मशास्त्रों में धर्म को बहुत महत्व प्रदान किया गया है। मनु आदि ने, राजा की भाँति, धर्म के भी दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार जब सांसारिक प्राणी मात्स्यन्याय से पीड़ित थे तब प्रजापति ने उनके कष्ट निवारणार्थ धर्म की सृष्टि की और उसकी सहायता से शासन करने का आदेश दिया। परन्तु उस समय की जनता मोह-ग्रस्त थी। वह धर्मानुसार अपना शासन न कर सकी। अत: प्रजापति ने विवश होकर राजा की सृष्टि की, और उसकी सहायता के

लिए दण्ड की। राजा को यह आदेश दिया कि वह दण्ड की सहायता से धर्म की मर्यादा की रक्षा करे, और उसका अतिक्रमण करने वाले को दण्ड दे। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि राजा, धर्म, तथा दण्ड तीनों ही की उत्पत्ति का कारण दैवी अनुग्रह है, और इन तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

राजा धर्म अर्थात् कानून का संरक्षक था[१] और उसकी मर्यादा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ही उसे दण्ड देने का अधिकार प्रदान किया गया था।[२] मनु के अनुसार प्रजापति ने प्रजा की रक्षा हेतु राजा की सृष्टि की और उसकी सहायता के लिए दण्ड की।[३] कामन्दक तो दण्ड को राजा का पर्यायवाची मानते हैं, क्योंकि राजा ही दण्ड-धर है।[४]

राजनीति में दण्ड को इसलिए महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है क्योंकि दण्ड के भय से ही लोग धर्मानुकूल आचरण[५] तथा स्वधर्म का परिपालन करते हैं।[६] उसके अभाव में मात्स्यन्याय का प्राबल्य हो जाता है।[७] इसी लिये प्राचीन लेखकों ने दण्ड की भूरि २ प्रशंसा की है।[८] परन्तु दण्ड-प्रयोग समुचित होना चाहिये। उसका अनुचित प्रयोग स्वयं राजा का विनाश करता है।[९]

दण्ड की परिभाषा

महाभारत में दण्ड के विषय में युधिष्ठिर और भीष्म का सम्बाद अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। धर्मराज अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए पितामह भीष्म से प्रश्न करते हैं: दण्ड क्या है? उसके स्वरूप, आधार, एवं उपादान क्या है? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई और वह किस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों पर शासन करता है? प्रारम्भ में वह किस नाम से प्रसिद्ध था? भीष्म इन प्रश्नों के उत्तर में दण्ड-व्यवस्था की समुचित विवेचना करते हैं।[१०] उनके अनुसार 'दण्ड उद्दण्ड मनुष्यों का दमन करता है और दुष्टों को

---

१ यथा नीतिसार, ६.६ –धर्मसंरक्षणपरो।
२ यथा नीतिसार, १.१ 'दण्डधरो'; शान्ति १२१.४७.
३ मनु ७.३; १४.
४ नीतिसार, २.१५.
५ यथा, मनु, ७.१५; २०-२४, तथा नीतिसार, २.४१
६ नीतिसार, २.४३
७ नीतिसार, २.४०.
८ यथा, मनु, ७.१८; २५.
९ मनु, ७.१२७; याज्ञवल्क्य, १.३५७.
१० शान्ति, १२१.

दण्डित । इस दमन और दण्ड प्रक्रिया के कारण ही विद्वान पुरुष उसे दण्ड कहते हैं······ मनुष्यों को प्रमाद से बचाने तथा उनके धन की रक्षा करने के लिए लोक में जो मर्यादा स्थापित की गई है उसी का नाम दण्ड है' ।[1]

दण्ड का स्वरूप

दण्ड के महत्व के कारण उसे महान देवता माना गया है । वह अपराधियों का दमन करता है, अतः उसकी तुलना अग्नि से की गयी है । साथ ही उसके विकराल रूप को भी अंकित किया गया है । शान्ति पर्व के अनुसार दन्ड की कान्ति नीलोत्पल के समान श्याम है । इसके चार भुजा, आठ पद, और अनेक नयन हैं । इसके कान खूंटे के समान और रोयें ऊपर की ओर उठे हैं । सिर पर जटा तथा मुख पर जिह्वा है । मुख का रंग ताम्र के समान और शरीर व्याघ्र चर्म से आच्छादित है । इस प्रकार दुर्धर्ष दण्ड सदा भंयकर रूप धारण किये रहता है ।[2] सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों में सर्वात्मा दण्ड मूर्तिमान होकर जगत में विचरण करता है ।[3] उसी पर्व में अन्यत्र दण्ड को श्याम तथा लोहिताक्ष कहा गया है । दण्डनीय व्यक्ति पर मार पड़ने से उसकी आखों के सामने अन्धकार छा जाता है, इसलिए उसे श्याम, और दण्ड-कर्ता की आंखें क्रोध से लाल रहती हैं अतएव उसे लोहिताक्ष कहा जाता है ।[4]

निःसन्देह दण्ड के जिस स्वरूप की कल्पना महाभारत में की गयी है उसका आधार यही है कि दण्ड दुर्जनों के दमन हेतु प्रयुक्त होता है । दण्ड के विभिन्न नाम भी इसी के प्रतीक हैं । महाभारत में हमें दण्ड के निम्नोक्त नाम मिलते हैं :- असि, विशन, धर्म, तीक्ष्णवर्मा, दुराधार, श्रीगर्भ, विजय, शास्ता, व्यवहार, सनातन, शास्त्र, ब्राह्मण, मंत्र, धर्मपाल, अक्षर, देव, सत्यग, नित्यग, अग्रज, असंग, रुद्रतनय, मनु, ज्येष्ठ, और शिवंकर आदि सर्वत्र व्यापक होने के कारण दण्ड ही भगवान विष्णु

---

१ शान्ति, १५.८-१०
कामन्दक भी दण्ड की परिभाषा इसी प्रकार करते हैं—'दमो दण्डः' ।

२ शान्ति, १२१.१३-१५ :

दण्डात्त्रिवर्गा सततं सुप्रणीतात्प्रवर्तते ।
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोच्छिरवः ।।
नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ।
अष्टपान्नैकनयनः शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान् ।।
जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराजतनुच्छदः ।
एतद्रूपं विभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुरावरः ।।

३ शान्ति, १२१.१६-१८.

४ शान्ति, १५.१[illegible].

है। नरों का अयन होने के कारण नारायण, प्रभावयुक्त होने से प्रभु और सदा महत्-रूप धारण करने के कारण महान पुरुष कहलाता है। उपर्युक्त सभी नाम दण्ड के महत्व तथा उसके स्वरूप के द्योतक हैं।[१] ईश्वर, पुरुष प्राण, सत्व, चित्त, प्रजापति, भूतात्मा तथा जीव यह आठ भी दण्ड के ही नाम हैं।[२]

दण्ड की उत्पत्ति

शान्तिपर्व में दण्ड की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। पूर्वकाल में वसुहोम ने मान्धाता के प्रश्न के उत्तर में दण्ड की उत्पत्ति और उसके महत्व की विवेचना की थी। उसको भीष्म युधिष्ठिर से बतलाते हैं: 'अत्यन्त प्राचीन काल में जब ब्रह्मा जी यज्ञ कर रहे थे, उस समय यज्ञ की प्रधानता होने के कारण उनका दण्ड अन्तर्ध्यान हो गया। दण्ड के लुप्त होते ही प्रजा में वर्ण-संकरता फैल गयी। कर्तव्या-कर्तव्य, भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागम्य के विचारों का लोप हो गया। सर्वत्र उच्छृंखलता व्याप्त हो गयी। मनुष्य लूटमार करने लगे और बलवान पुरुष निर्बलों की हिंसा। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्मा जी ने भगवान शंकर से इस सामाजिक अनाचार को रोकने के लिए प्रार्थना की। फलस्वरूप स्वयं शिव दण्ड रूप में प्रकट हुये और भिन्न २ वर्गों के लिये राजा की नियुक्ति की। ब्रह्मा जी के यज्ञ के पूर्ण होने पर शिव जी ने वह दण्ड भगवान विष्णु को समर्पित कर दिया। कालान्तर में वह मनु के हाथ में पहुंचा, जिन्होंने उसे अपने पुत्रों को सौंप दिया इस प्रकार क्रमशः दण्ड राजा के हाथ में आया'।[३] उसी पर्व में अन्यत्र कहा गया है कि स्वंय ईश्वर ने धर्म की रक्षा के लिये दण्ड को क्षत्रिय के हाथ में समर्पित किया था।[४]

दण्ड का महत्व

अन्यान्य ग्रन्थों की भांति महाभारत में भी दण्ड के महत्व का वर्णन अनेकशः किया गया है। एक स्थान पर हम पढ़ते हैं कि राज-दण्ड के भय से ही न पापी पाप करते हैं और न मनुष्य एक दूसरे का भक्षण। उसके भय से ही सब आश्रमी अपनी अपनी मर्यादा में स्थिर रहते हैं। वस्तुतः संसार की सब मर्यादा दण्ड में ही प्रतिष्ठित है। दण्ड के अभाव में जनता घोर अन्धकार में निविष्ट हो जायगी, यज्ञ,

---

१ शान्ति, १२१.१९-२२.
२ शान्ति. १२१.४०.
३ शान्ति, १२२.
४ शान्ति, १२१.४७.

दान आदि, क्रियाओं का लोप हो जायगा, तथा कोई भी व्यक्ति मर्यादा का पालन न करेगा। संसार में मात्स्य न्याय का प्राबल्य और समस्त प्रजा विवेक-शून्य होकर विनाश के पथ पर अग्रसरित हो जायगी।[१] दण्ड के भय से ही समस्त लोक सन्मार्ग पर चलता है।[२] शान्ति पर्व में उस भयावह स्थिति का चित्रण किया गया है जो दण्ड के अभाव में हो सकती है।[३] अन्यत्र कहा गया है कि दण्ड के अभाव में वेद तथा धर्म विनष्ट हो जाते हैं।[४]

दण्ड के महत्व के कारण ही अर्जुन ने इसे त्रिवर्ग का रक्षक माना है। दण्ड से ही धन-धान्य की रक्षा होती है। वही प्रजा का शासन एवं उसकी रक्षा करता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि सबके सो जाने पर भी दण्ड जाग्रत रहता है और इसी कारण से विद्वान उसे राजा का धर्म मानते हैं। भीष्म ने यथेष्ठ ही कहा है कि 'यस्मिनहि सर्वमायत्तम् सदण्ड इह केवलं'।

धृतदण्ड राजा

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दण्ड की उत्पत्ति धर्म तथा मर्यादा की रक्षा एवं दुष्टों का दमन करने के हेतु हुयी थी। उसके अभाव में मात्स्य न्याय तथा संकरता फैलती है। इसीलिए सभी राजनीति-प्रणेताओं ने राजा को उधृत-दण्ड होने का आदेश दिया है। महाभारत में भी इस तथ्य का अनुमोदन किया गया है।[५] उतथ्य कहते हैं: 'राज्य की रक्षा वही राजा कर सकता है, जो बुद्धिमान, शूरवीर होने के साथ दण्ड देने की नीति को भी जानता हो। जो दण्ड देने में अशक्त है वह क्लीव और बुद्धिहीन नरेश राज्य की रक्षा कदापि नहीं कर सकता'।[६] इसी प्रकार कामन्दक का कथन है: 'जब राजा दुष्टों, और दुराचारियों को दण्ड देकर वश में नहीं करता तब सारी प्रजा उद्विग्न हो उठती है'।[७] द्रोपदी भी युधिष्ठिर से कहती है कि जो राजा दण्ड देने की शक्ति नहीं रखता वह न इस पृथ्वी का उपभोग कर सकता है

---

१ शान्ति, १५.५; ७.१२-१३; ३०.
२ शान्ति, १५.३२-३३.
३ शान्ति, १५.३६-४२; ४५.
४ शान्ति, ६३.२८.
५ यथा शान्ति, १३८.७-८; ११८.२२; १२०.९; आदि (गीता), ११७ १४; उद्योग १३७.६.
६ शान्ति, ९२.४५.
७ शान्ति, १२३.१६.

और न प्रजा को सुखी। उद्यृत-दण्ड राजा से प्रजा डरती है, और उसके सब कार्य दण्ड द्वारा सिद्ध होते हैं।[१]

महाभारत में अपराधियो को दण्ड देना राजा का कर्तव्य,[२] तथा क्षात्र धर्म का अंग माना गया है।[३] जिस राज्य में शासक दुष्ट और दुराचारियों को दण्ड द्वारा वश में नहीं रखते वहां प्रजा उद्विग्न हो उठती है। साधारण प्रजा ही नही, साधु और ब्राह्मण भी, राजा का अनुसरण नहीं करते, और अन्ततोगत्वा वह अपनी प्रजा के कोप का भागी होता है।[४] शान्ति पर्व में तो यहां तक कहा गया है कि जो राजा दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड नहीं देता उसे आत्म-शुद्धि के लिये उपवास करना चाहिये। राजा ही नहीं यदि पुरोहित भी राजा को उसके कर्तव्य का बोध न कराये तो उसे भी ऐसा ही प्रायश्चित्त करना चाहिये।[५] एतदर्थ महाभारत में अत्यन्त क्षमाशील राजा को श्रेष्ठ नहीं माना गया है। भीष्म के अनुसार राजा को सदा क्षमाशील न होना चाहिये।[६] इसी प्रकार अनुशासन पर्व में भी उल्लिखित है कि जिस राज्य का राजा क्षमाशील नहीं होता, वहां अधर्म नहीं होता।[७]

सम्यक् दण्ड

दण्ड देना राजा का धर्म अवश्य माना गया है, परन्तु दण्ड सम्यक, न्यायोचित, और पक्षपातरहित होना चाहिये। आरण्य पर्व में द्रौपदी का निम्नोक्त कथन बहुत ही सारगर्भित हैं: 'कोमलतापूर्ण व्यवहार करने वाले की सब लोग अवहेलना करते हैं और तीक्ष्ण स्वभाव वाले से सबको उद्वेग प्राप्त होता है। जो यथा अवसर इन दोनों नीतियों का समुचित प्रयोग करना जानता है वही राजा सफल हो सकता है'।[८] सारांशत: राजा को सम्यक् दण्ड होना चाहिये—न अत्यन्त क्षमाशील और न तीव्रदण्ड।[९]

---

१ शान्ति, १३७.७.
२ शान्ति, १४.१६; २३.१३, तथा आरण्य, १९८.२९-३०; अनुशासन (गीता). १४५, पृ० ५९४९ तथा ५९५०.
३ शान्ति, २४.३०.
४ शान्ति, १२६.१७-१८.
५ शान्ति (गीता). ३६.१७.
६ शान्ति, ५६.३७.
७ अनुशासन (गीता), १४१, पृ० ५९५४.
८ आरण्य, २९.३५; दृष्टव्य, अनुशासन (गीता), १४३.३८; १४८.४९-५०, आरण्य, १४९.४८-५२
९ शान्ति, ५७.१८; सभा, ५.७८। दण्डपारुष्य राजा का व्यसन माना गया है।

न्याय करने में राजा को यम के समान व्यवहार करना चाहिये।[1] जब दण्डनीति का समुचित प्रयोग किया जाता है तो लोक-मर्यादा-अक्षुण्ण बनी रहती है, और जगत में सत्युग उपस्थित हो जाता है।[2] परन्तु जब राजा दण्डनीति का परित्याग कर प्रजा को कष्ट देने लगता है तब कलियुग प्रारम्भ हो जाता है।[3] सम्यक् दण्ड राजा को बध और बन्धन का पाप नहीं लगता, परन्तु जो स्वेच्छया दण्ड देता है उसे लोक में अपयश और मृत्यु के पश्चात नरक प्राप्त होता है।[4] वैशम्पायन प्राचीन काल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उस युग में राजा दण्डनीय व्यक्तियों को सदा धर्मानुसार दण्ड देते थे (धर्मेण दण्डय:)।[5] सभा पर्व में भी नारद युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं: 'तुम कठोर दण्ड द्वारा प्रजा को अत्यन्त विक्षुब्ध तो नहीं कर देते ? तुम्हारे मंत्री निरपराध व्यक्ति को दण्डित तथा अपराधी को छोड़ तो नहीं देते' ?[6] उनके उपदेश का तत्व यही था कि राजा अपराधियों को सम्यक् दण्ड दे। महाभारत के अनुसार पूर्वकाल में मनु ने राजा को यह आदेश दिया था कि वह प्रिय तथा अप्रिय के प्रति सम्यक् भाव रख कर दण्ड का समुचित प्रयोग करे।[7] शान्ति पर्व के अनुसार अपराध करने पर सगे बन्धु बान्धवों को भी दण्ड दे।[8] इस सिद्धान्त की पुष्टि राजा सगर के उदाहरण से होती है, जिन्होंने अपने अपराधी ज्येष्ठ पुत्र असमंजस को निष्कासित कर दिया था।[9] इसी प्रकार राजा जनक के विषय में भी प्रसिद्ध है कि वह दण्डनीय व्यक्ति को, चाहे वह उनका पुत्र ही क्यों न हो, यथोचित दण्ड देते थे।[10]

दण्ड के प्रकार

स्मृतियों में दण्ड के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया गया है, यथा, धिग्दण्ड, वाक्दण्ड, धनदण्ड तथा बधदण्ड। इसी भाँति हम प्रकाशदण्ड और गुप्तदण्ड का भी उल्लेख पाते हैं। यह भिन्न प्रकार के दण्ड अपराध तथा देश-काल के अनुरूप दिये जाते थे। महाभारत के शान्ति पर्व में हमें वाक्दण्ड, धनदण्ड, कायदण्ड, तथा बधदण्ड का

---

१ शान्ति, ७०.३०-३१.
२ उद्योग, १३०.१४.
३ शान्ति, ७०.१८.
४ शान्ति, ८६.२२-२३.
५ आदि, ५८ १३.
६ सभा. ५.३४; ७८; ९३-९४.
७ शान्ति, १२१, ९.१०.
८ शान्ति, (गीता), २६७.२९; शान्ति, १३८.४७-४८.
९ शान्ति, ५७.८-९.
१० आरण्य, १९८ २८.

उल्लेख मिलता है,[१] और आश्रमवासिक पर्व में हिरण्य-दण्ड तथा बध का।[२] इस ग्रन्थ के अनुसार सत्युग में जब धर्म के चारों चरण वर्तमान थे, अहिंसात्मक दण्ड द्वारा ही प्रजा वश में की जाती थी, परन्तु उत्तर युगों में जब धर्म की मर्यादा क्रमशः घटती गयी अहिंसात्मक दण्ड से धर्म और अधर्म का सम्मिश्रण होने लगा। अतः दण्डनीय व्यक्ति की आयु, शक्ति और काल के अनुरूप यथोचित दण्ड दिया जाने लगा।[३] भीष्म अपराध और अपराधी के अनुरूप दण्ड देने के समर्थक हैं। उनके अनुसार धनी अपराधी को उसकी सम्पत्ति से वंचित कर देना चाहिये, निर्धन को बन्धन-दण्ड और दुराचारी को कायदण्ड द्वारा सन्मार्ग पर लाना चाहिये।[४] यदाकदा अपराध की गुरुता के अनुरूप कठोर दण्ड देने का भी वर्णन प्राप्त होता है, यथा व्यभिचारी स्त्री को कुत्ते से नुचवाना, तथा व्यभिचारी पुरुष को तप्त लोह की खाट पर लिटा कर भस्म करना।[५] उत्कोचग्राही बन्धन या बध के योग्य माने गये हैं। इसी प्रकार राजा का बध, आग लगाना, एवम् चोरी के अपराध में बध दण्ड ही उपयुक्त माना गया है। जनता के साथ द्वेष रखने वाले भी बधनीय थे। इस प्रकार के दण्डनीय पुरुषों को धनदण्ड देने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[६] महाभारत में यत्र-तत्र राजाओं द्वारा दिये हुए दण्डों का भी विवरण प्राप्त होता है सुद्युम्न ने चोरी के अपराध में महालिखित के दोनों हाथ कटवा दिये थे।[७] एक अन्य राजा ने माण्डव्य ऋषि तथा अन्य चोरों को बधदण्ड की आज्ञा दी और तदुपरान्त उनको शूली दे दी गयी थी।[८]

बधदण्ड की विवेचना

शान्ति पर्व के एक अध्याय में बधदण्ड के औचित्य की विवेचना की गयी है। इस प्रसंग में भीष्म द्वारा उद्धृत राजा सत्यवान और उनके पिता द्युमत्सेन का सम्बाद उल्लेखनीय है। सत्यवान ने एक दिन बहुत से अपराधियों को बधदण्ड के लिए जाते देख कर अपने पिता से प्रतिवाद किया कि किसी प्राणी का बध करना धर्म-संगत नहीं

———

१ शान्ति, १६०.६८.
२ आश्रमवासिक (गीता)। ५.३१.
अन्यत्र शान्ति पर्व (२६७.१३) में उद्वेजन, बन्धन, बिरूपकरण तथा बधदण्ड का उल्लेख है।
३ शान्ति (गीता) २६७.३.
४ शान्ति ८६.१९-२०.
५ शान्ति, १५९.५९-६०.
६ शान्ति, ३९.२५.
७ शान्ति, ३४.२८ तथा २४.९-१०.
८ शान्ति ५६.३-३२; ७८.१४.

हो सकता (वधोनामभवेद् धर्मो नैतद् भवितुमर्हति)।[1] बधदण्ड से केवल अपराधी की ही मृत्यु नहीं होती वरन् उसके माता, पिता, स्त्री और पुत्र आदि की भी जीविका के साधन विनष्ट हो जाने के कारण एक प्रकार से मृत्यु ही हो जाती है। अतएव उनका मूलोच्छेद न करना चाहिये। न मूलघातः कर्तव्यों नैष धर्मसनातनः' अपराधी का सर्वस्व अपहरण करना अथवा अंग भंग करके कुरूप बना देना उचित है, परन्तु प्राण-दण्ड देकर उसके कुटुम्बियों को क्लेश पहुंचाना उचित नहीं है।

प्रत्युत्तर में द्युमत्सेन ने प्रश्न किया कि यदि अपराधी का बध न करना धर्म है तो फिर अधर्म क्या है ? धर्म का उल्लघंन करने वाले दस्यु और अपराधियों का बध न किया जाय तो प्रजा को कष्ट होगा, इसमे वर्णसंकरता और कर्मसंकरता फैलेगी। लोग पर-धन आत्मसात करेंगे और लोक मर्यादा का निर्वाह असंभव हो जायगा। इसी आधार पर उन्होंने बधदण्ड को धर्मसंगत बताया। इस प्रसंग में उन्होंने दण्ड के प्रकार पर भी प्रकाश डाला है। पूर्वकाल में अपराधी को केवल धिग्दण्ड दिया जाता था। तदनन्तर अपराध की मात्रा बढ़ने पर वाग्दण्ड, तत्पश्चात् अर्थदण्ड और उसके भी अपर्याप्त सिद्ध होने पर बधदण्ड का प्रयोग होने लगा।[2]

व्यास के अनुसार भी धर्म का विनाश चाहने वाले तथा अधर्म के प्रवर्तक दुरात्माओं का बध करना ही उचित है। यदि एक व्यक्ति को मार कर कुटुम्ब का क्लेश दूर हो जाय, और एक कुल के नाश करने से समस्त राष्ट्र सुखी हो जाय, तो ऐसा करना धर्मनाशक नहीं, धर्मपोषक है। भगवान कृष्ण भी कहते हैं कि दस्यु-बध से पुण्य की प्राप्ति होती है।[3] परन्तु ब्राह्मण, दूत,[4] पिता गुरु तथा परोपकारी पुरुष अबध्य माने गये हैं। स्त्रियों का, तथा जो सबका अतिथि-सत्कार करते हों उनका भी बध न करना चाहिये।

वर्ण और दण्ड

भारतीय दण्ड विधान में समुचित और यथापराध दण्ड देने का आदर्श है, परन्तु दण्ड अपराधी के वर्ण के आधार पर दिया जाता था। आधुनिक युग में यह अनुचित और पक्षपातपूर्ण माना जायगा। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि प्राचीन काल में यदि उच्चवर्ण के लोगों को निम्नवर्ग के अपराधियों की अपेक्षा लघु दण्ड दिया

---

१ शान्ति (गीता), २६७.१-७.
२ शान्ति, २६७.१८-१९.
३ शान्ति, ३४.१८-१९.
४ उद्योग (गीता), २९.३१.

जाता था तो उन्हें उतना ही अधिक कठोर प्रायश्चित्त करना पड़ता था। महाभारत में भी वर्ण के अनुरूप दण्ड देने की व्यवस्था का परिचय प्राप्त होता है। शान्ति पर्व में एक स्थल पर अर्जुन कहते हैं कि अपराधी ब्राह्मण के लिए वाणी द्वारा अपमानित करना, क्षत्रिय को निर्वाहमात्र के लिए धन देकर शेष सम्पत्ति का, और वैश्य की समस्त सम्पत्ति का अपहरण पर्याप्त दण्ड है. परन्तु शूद्र निर्दण्ड है।[१]

ब्राह्मणों की दण्डनीयता के विषय में महाभारत-काल में दो मत थे। एक मत उनको अदण्ड्य मानता था और दूसरा दण्डनीय।[२] आदि-सम्राट पृथु के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने ब्राह्मणों को अदण्डनीय मानने की प्रतिज्ञा की थी।[३] भीष्म भी ब्राह्मण को अदण्ड्य मानते हैं।[४] उनके अनुसार ब्राह्मण अपराधी को केवल राज्य से निष्कासित कर देना चाहिये। ब्रह्म-हत्या, गुरुपत्नी-गमन, भ्रूणहत्या तथा राजद्रोह जैसे घोर अपराध के दोषी ब्राह्मण के लिए भी निष्कासन का ही विधान है, उसे शारीरिक दण्ड कभी न देना चाहिये।[५] ब्राह्मण-बध सम्पूर्ण प्राणियों के बध से भी अधिक भयंकर बताया गया है।[६] परन्तु आदि पर्व में हम एक राजा को भ्रमवश माण्डव्य ऋषि को चोरी के अपराध में बधदण्ड देते हुए देखते हैं।[७] महाभारत के अनुसार अपराधी ब्राह्मण की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है।[८] यदि भोजन मात्र के लिए दूसरों के खेतों से बिना पूछे अन्न उठा ले और तत्पश्चात् उसकी सूचना राजा को दे तब भी वह दण्डनीय नहीं, क्योंकि राजा के दोष के कारण ही उसे भूख से पीड़ित होना पड़ता है।[९] भीष्म के अनुसार यदि कोई चोरी करता है तो राजा को चाहिये कि

---

१ शान्ति, १५. ९.
शूद्र को निर्दण्ड मानने के दो कारण प्रतीत होते हैं :— (१) उसे सम्पत्ति रखने का अधिकार न था अतः उसे धनदण्ड नहीं दिया जा सकता था, (२) उसके लिये सपरिश्रम दण्ड भी व्यर्थ था क्योंकि सेवाकार्य ही उसकी वृत्ति थी।

२ शान्ति, (गीता), १३२. १६.
अपरे नैवमिछन्ति ये शंखलिखितप्रियाः।
मात्सर्यादथवा लोभान्न ब्रूयुर्वाक्यमीदृशम्॥

३ शान्ति, ५९. १०८

४ शान्ति ५६. २२; देखिए आदि (गीता), १२८. ९; १८९. ३६.

५ शान्ति, ५६.३२-३३

६ आदि. १०१.२५, तथा १८०.८.

७ आदि, १०१.१०-११.

८ आदि (गीता), १८९.३६.

९ शान्ति, १५९. ११-१३

वह उसके भरण-पोषण की व्यवस्था करे क्योंकि यदि ब्राह्मण चोर बन जाता है तो इसमें राजा का ही दोष है। परन्तु यदि राजा उसके भरण-पोषण की व्यवस्था कर दे और उसके पश्चात् भी वह पूर्ववत् चोरी करता रहे तो उसे बन्धु बान्धव सहित देश से निर्वासित कर देना चाहिये।[1] अन्यत्र कहा गया है कि यदि सन्यासी ब्राह्मण भी अपराध करे तो उसे भी दण्डित करना चाहिये।[2]

महाभारत में अपराधियों को क्षमा प्रदान करने की प्रथा का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रसंग में आरण्य पर्व के अन्तर्गत प्रह्लाद और बलि की वार्ता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका निष्कर्ष है कि यदि कोई व्यक्ति अज्ञानवश अपराध करे तो वह क्षमा का पात्र है परन्तु जो व्यक्ति जान बूझ कर अपराध करे उसे अवश्य दण्ड देना चाहिये। इस बात की भली भांति जाँच करके ही दण्ड देना चाहिये कि अपराध जान-बूझ कर किया गया है या अज्ञानवश। इसी प्रकार प्रथम अपराध करने पर उसे क्षमा प्रदान करे परन्तु पुनः अपराध करने पर उसे अवश्य दण्डित करे। राजा को यह भी आदेश दिया गया है कि यदि अपराधी ने पहले कभी उपकार किया हो तो यथासंभव उसको क्षमा प्रदान करना चाहिये। कभी-कभी लोक भय के कारण भी अपराधी को क्षमा-दान की आवश्यकता होती है।[3]

दण्ड का उद्देश्य

दण्ड का उद्देश्य क्या होना चाहिये, कृतापराध के लिए प्रतिशोध अथवा अपराधी का सुधार? इस विषय पर वर्तमान युग में भी पर्याप्त मत भिन्नता है। ऐसी ही स्थिति महाभारत में भी देखी जाती है। इस ग्रन्थ में दण्ड को श्याम तथा लोहिताक्ष कहा गया है। इसका यही अभिप्रय है कि दण्ड का उद्देश्य अपराधियों में भय उत्पन्न करना, और उन्हें दण्ड देना था।[4] अन्यत्र भी कहा गया है कि राजदण्ड के भय से ही पापी पाप और प्रजा प्रमाद नहीं करती।[5] महाभारत मे दन्ड की प्रतिशोधात्मक भावना का अभाव है। इस ग्रन्थ से दण्ड का मुख्य ध्येय सुधारात्मक प्रतीत होता है। प्रह्लाद के अनुसार प्रजा को भय दिखा कर धर्म में लगाना ही दण्ड का

---

१ शान्ति, ?७.१२-१३.
२ शान्ति (गीता), ?६७.१४-१५.
३ आरण्य. २९.?५-??. शान्ति पर्व के अनुसार भी यदि कोई व्यक्ति अनेक बार अपराध करे तो उसे गुरुत्तर दण्ड प्रदान करना चाहिये, शान्ति (गीता), ?६?.?.
४ शान्ति १५.??.
५ शान्ति, १५.५: राजदंडभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।

उद्देश्य है, किसी का प्राण लेना नहीं।[१] दस्युओं को साधु बना कर दस्यु-वृत्ति का अन्त करना ही इसका अभिप्राय है।[२] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि मनुष्यों को प्रमाद से बचाने, और उनके धर्म की रक्षा करने के लिए जो मर्यादा स्थापित की गई है उसी का नाम दण्ड है।[३] वास्तव में महाभारत में दण्ड के दो ही मुख्य कार्य माने गए हैं, लोक-रक्षा तथा स्वधर्म-परिपालन।[४]

महाभारत मे एक अन्य सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि दण्ड से पाप का प्रायश्चित होता है।[५] इस आदर्श का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण शंख-लिखित कथानक में प्राप्त होता है। भीष्म कहते हैं: 'विधाता ने दण्ड का विधान इस उद्देश्य से किया है कि लोग आनन्द से रहें सुनीति का बर्ताव करें, और राष्ट्र में धर्म. तथा अर्थ की रक्षा हो'।[६] वास्तव में यही दण्ड का सच्चा उद्देश्य था।

न्याय व्यवस्था

धर्म के स्रोत

महाभारत में दण्ड की तो विस्तृत विवेचना की गयी है, किन्तु इस ग्रन्थ से न्याय व्यवस्था पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। इस संदर्भ में सर्व प्रथम हमें धर्भ (कानून) के स्रोत की समीक्षा करना चाहिये। भारतीय परम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ में भी धर्म के तीन स्रोत माने गये हैं—श्रुति स्मृति तथा शिष्टाचार।[७] एक स्थान पर 'अर्थ' को भी धर्म का स्रोत माना गया है।[८] इसका तात्पर्य संभवत: अर्थशास्त्र से है।[९] कौटिल्य के विपरीत, महाभारत काल में राजशासन को धर्म का स्रोत नहीं माना गया है।

उपर्युक्त तीन स्रोतों के महत्वक्रम की भी विवेचना की गयी है। अनुशासन पर्व में

---

१ शान्ति, ·६७.८५.

२ शान्ति, २६७.२३.

३ शान्ति, १५.१० : असंमोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशां पते ॥

४ शान्ति १२१.३९.

५ शान्ति (गीता), २६९.१२ (प्रायश्चित्तं विधीयते)।

६ शान्ति, १५.३५.

७ शान्ति, -५१.३; ३४१.६; अनुशासन गीता), ११९.४५

८ शान्ति. २५१.३ :
सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम्॥

९ अर्थशास्त्र, २.१०.

महेश्वर श्रुति को प्रथम स्थान देते हैं, स्मृति और शिष्टाचार को द्वितीय और तृतीय ।[1] परन्तु आरण्य पर्व में श्रुति की अपेक्षा शिष्टाचार को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया गया है ।[2] उसी पर्व में युधिष्ठिर भी कहते हैं: 'श्रुतियाँ भिन्न २ हैं । एक ही ऋषि नहीं है जिसका मत मान्य हो । अतः जिस पथ का अनुसरण महाजन करते आये हैं वही समुचित मार्ग है' ।[3] अन्यत्र वह धर्म के इन तीनों स्रोतों को संदिग्ध मानते हैं । उनके अनुसार 'धर्म केवल वेदों के पाठमात्र से नहीं जाना जा सकता......जो व्यक्ति समस्थिति में है उसका एक धर्म है, जो विषम स्थिति में हैं, उसका दूसरा । केवल वेदपाठ से आपद्धर्म का ज्ञान कैसे हो सकता है । सत्पुरुषों का आचरण धर्म माना गया है और जिनमें धर्माचरण लक्षित होता है वही सत्पुरुष माने गये हैं । ऐसी स्थिति में अन्योन्य-आश्रय दोष के कारण सदाचार धर्म का लक्षण नहीं हो सकता है । वेदों का वचन सत्य है, यह कथन लोक-रंजन मात्र है । वेदों से स्मृतियों का प्रसार हुआ परन्तु यदि वेद ही अप्रमाणित हैं तो स्मृतियाँ कैसे प्रमाणित हो सकती हैं' ।[4] भीष्म ने उनके इस संशय का समुचित समाधान किया । उनके अनुसार धर्म एक ही है । तीनों स्रोतों द्वारा एक ही धर्म का निर्देशन होता है । वह यह नहीं स्वीकार करते हैं कि वे तीनों प्रमाण भिन्न २ धर्म का प्रतिपादन करते हैं । स्पष्टतः भीष्म के मतानुसार श्रुति, स्मृति, और शिष्टाचार पर आधारित धर्म ही यथेष्ठ धर्म है । वह तर्क का सहारा लेकर धर्म की जिज्ञासा करना उचित नहीं मानते ।[5]

कुल, जाति और श्रेणी धर्म को भी शिष्टाचार के समकक्ष स्थान दिया गया है । महाभारत के अनुसार ब्रह्मा जी ने जिस नीतिशास्त्र की रचना की थी, उसमें भी देश, जाति, और कुल धर्म को स्थान दिया गया था ।[6] आदि पर्व में कुल धर्म को बहुत महत्वपूर्ण बतलाया गया है ।[7] भीष्म का स्पष्ट आदेश है कि राजा को उसे मान्यता देना

---

१ अनुशासन (गीता), १४१.६५: वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोऽपरः ।
शिष्टाचीर्णोऽपरः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः ।।
मनु (२.६), याज्ञवल्क्य (१.७), वशिष्ठ (१.४-५), आदि स्मृतिकारों का भी ऐसा ही मत है ।

२ आरण्य, १०८.५७-६५ :— वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः ।
दमस्योपनिषत्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा ।। ६८

३ आरण्य (गीता), ३१३.११७

४ शान्ति २६२.१-१०.

५ अनुशासन (गीता), १६२.२०-२१.

६ शान्ति, ५९.७६.

७ आदि (गीता), ११२.११-१३.

चाहिये ।[१] इन धर्मों की रक्षा करना, प्रजा को इनके अनुसार आचरण करने के लिए सुविधा देना, एवं उन्हें उनके पालन करने के लिए बाध्य करना राजा का प्रधान धर्म माना गया है । उसको स्वयं अपने कुलधर्म के उल्लंघन करने का अधिकार न था । भीष्म ने जातिधर्म को भी कुलधर्म की भाँति आदि काल से प्रचलित माना है, और शान्ति पर्व में अनेक स्थलों पर उसे कुलधर्म और देशधर्म के समान ही महत्वशाली बतलाया है । उनके अनुसार उसकी विधिवत रक्षा करना चाहिये ।

परिषद

धर्म के अनुसार अभियोग का निर्णय करना राजा का कार्य था, परन्तु धर्म-विषयक संशय का निराकरण करना परिषद का कार्य था । इस परिषद के सदस्य धर्म के ज्ञाता विद्वान ब्राह्मण होते थे । व्यास जी कहते हैं : 'यदि धर्म के निर्णय में सन्देह उत्पन्न हो तो दस वेद-शास्त्रज्ञ अथवा तीन धर्म-पाठक ब्राह्मण जो निर्णय दें उसी को धर्म मानना चाहिये' ।[२] इस प्रकार की परिषद का उल्लेख प्रायः स्मृतियों में भी प्राप्त होता है ।[३]

न्यायालय

न्याय व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी राजा स्वयं होता था । उसे यथेष्ठ ही धर्म का संरक्षक एवं दण्डधर कहा गया है । उसके दैनिक कार्यक्रम में न्याय करने का भी समय नियत था । भीष्म आदेश देते हैं कि न्याय करते समय राजा को अपने पास तत्व-दर्शी विद्वान रखना चाहिये ।[४] अनुशासन पर्व में भी कहा गया है कि अनेक तत्वदर्शी श्रेष्ठ पुरुषों के साथ परामर्श करके अभियुक्त के कथित अपराध, देशकाल, न्याय और अन्याय, आदि की विवेचना करने के पश्चात् ही शास्त्रानुसार दण्ड देना चाहिये ।[५] इस नियम से यह प्रतीत होता है कि भारत के प्राचीन आचार्य किसी एक व्यक्ति के न्याय करने के पक्ष में न थे । वैदिक युग में सभा राष्ट्र की प्रधान न्यायालय थी । महाभारत-काल में भी उसका यह अधिकार अक्षुण्ण बना रहा । इस विषय की विवेचना हम राष्ट्र सभा शीर्षक अध्याय में करेंगे ।

---

१ शान्ति, ६६.२३.

२ शान्ति, ३७.१५: दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः ।
यद्ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये ।।

३ यथा मनु, ८.१०.

४ शान्ति (गीता), ६९.२८; (क्रि०), ६९.२७.

५ अनुशासन (गीता), १४५; पृ० ५९४९.

जनता के सभी अभियोगों का निर्णय करना राजा के लिए संभव न था। अतः भिन्न भिन्न प्रकार के न्यायालयों की सृष्टि हुयी जिनका समुचित विवरण हमें धर्म-शास्त्रों में प्राप्त होता है। महाभारत से इस विषय पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। शान्ति पर्व में भीष्म के एक कथन के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि राजा के अतिरिक्त अमात्य तथा राजकुमार को भी न्याय करने का अधिकार था।[1] अन्यत्र प्राड्विवाक का उल्लेख मिलता है।[2] परन्तु उसके गुण और कार्य का परिचय नहीं दिया गया है। स्मृतियों से विदित होता है कि यह न्याय-व्यवस्था का प्रमुख अधिकारी था। महाभारत में यदा-कदा न्यायाधिकारियों के आवश्यक गुणों का उल्लेख है। धृतराष्ट्र न्याय कार्य के लिये केवल ऐसे पुरुषों की ही नियुक्ति के पक्ष में हैं, जो अपराधियों को उचित दण्ड दे सकें। वह राजा को गुप्तचरों द्वारा उनके कार्यों पर निरन्तर दृष्टि रखने का आदेश देते हैं। इस ग्रन्थ में राजा को यह भी आदेश दिया गया है कि वह अपराध के अनुरूप दण्ड दे। जहां राजा अपराध के अनुरूप दण्ड देता है वहीं धर्म की रक्षा होती है। जो पर-स्त्री सम्पर्क, मिथ्या-व्यवहार, उत्कोच, उग्रदण्ड के दोषी, अथवा कटुवादी, लोभी, साहस-प्रिय, सभा-विहार भेत्ता या वर्ण-प्रदूषक हों, उनको देश काल के अनुरूप हिरण्यदण्ड अथवा बधदण्ड देना चाहिये। शान्ति पर्व के अनुसार बिना भली भाँति विचार किये दण्ड न देना चाहिये —'नापरीक्ष्य नयेद् दण्डम्'।[3]

शान्ति पर्व के एक अन्य कथन के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि उस युग में भी ग्राम-सभा तथा 'गण' को न्याय करने का अधिकार प्राप्त था।[4] स्मृतियों तथा अन्य साधनों से भी विदित होता है कि प्राचीन भारत में ग्राम सभा एवम् श्रेणी आदि को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त थे।[5]

व्यवहार

न्याय के व्यवहार पक्ष पर महाभारत से और भी कम प्रकाश पड़ता है। शान्ति-पर्व के निम्नोक्त पद में नीलकंठ व्यवहार सम्बन्धी नियमों का आभास पाते हैं।

नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः।
अष्टपान्नैकनयनःशंकुकर्णोर्ध्वरोमवान्॥

---

१ शान्ति, ८६. १५-२६.
२ शान्ति, १२१-४५.
३ आश्रमवासिक (गीता), ५.२७-२९
४ शान्ति, ३६. २३.
५ दृष्टव्य, Mookerji, R.K., *Local Government in Ancient India*, ch. V.

१२

राष्ट्र-सभा

वर्तमान पार्लियामेन्ट की भाँति प्राचीन भारत में भी कुछ संस्थायें थीं, जिनका परिचय हमें साहित्यिक ग्रन्थों से प्राप्त होता है। परन्तु इनके वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। ऋग्वेद में ऐसी दो संस्थायें, सभा और समिति वर्णित हैं। अथर्ववेद में इनको प्रजापति की दुहिता 'प्रजापतेर्दुहितरो' कहा गया है।[1] इस वाक्य से यही प्रमाणित होता है कि यह भारतीय आर्यों की प्राचीनतम संस्थायें थीं। कालान्तर में समिति का तो अस्तित्व समाप्त हो गया, परन्तु सभा का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहा, यद्यपि इसका स्वरूप परिवर्तित होता गया है। वैदिक काल में सभा और समिति प्रशासन की सर्वोच्च संस्था थीं। राज्य की सत्ता उन्हीं में केन्द्रित थी और वह राजा का निर्वाचन भी करती थीं। परन्तु शनैः शनैः उनके अधिकार क्षीण होते गये।

महाभारत-काल में भी सभा विद्यमान थी। सभा शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—राज-सभा के अर्थ में यह सदस्यों की बैठक तथा सभा भवन दोनों ही का बोधक है। इसके अतिरिक्त स्थानीय-सभा तथा विश्रामालय के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

महाभारत में अनेक राज्यों के सभाभवनों का विशद वर्णन प्राप्त होता है। उनके आकार-प्रकार, एवम् साज-सज्जा का समुचित चित्रण किया गया है। आदि पर्व में युधिष्ठिर की सभा का वैभव चित्रित है, जिसका निर्माण वास्तु-कुशल मय दानव ने किया था।[2] इसी प्रकार उद्योग पर्व में कौरव सभा का वैभव वर्णित है।[3] इनके अतिरिक्त

---

१ अथर्ववेद, ७ १३.१.

२ आदि, १.८९-९०, तथा सभा, १; आश्वमेधिक (गीता), ५.५, १९-२, १६ २-४.

३ उद्योग, ४६.४-५.

विराट, कंस आदि की सभाओं का भी वृतान्त पाया जाता है।[1] वृष्णियों की सभा सुधर्मा नाम से विख्यात थी।[2] सभा का महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि पार्थिव नरेशों को ही नहीं देवताओं को भी इसकी आवश्यकता होती थी। सभा-पर्व में देवराज इन्द्र, यमराज, कुबेर, वरुण और ब्रह्मा की सभाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है।[3] नागों की भी सभा थी।

महाभारत में राजसभा के विभिन्न नाम प्राप्त होते हैं, यथा संसद, समिति तथा परिषद।[4] यह ग्रन्थ सभा-संगठन पर अधिक प्रकाश नहीं डालता है। उपलब्ध विवरण से प्रतीत होता है कि सभा में राजा, राजपरिवार के अन्य सदस्य सामन्त एवम् मित्र राजा, आचार्य और पुरोहित, मंत्री, अमात्य, सेनापति तथा प्रजा के प्रतिनिधि उपस्थित रहते थे। कौरव-सभा में धृतराष्ट्र तथा उनके पुत्र,[5] और इसी प्रकार इन्द्र की सभा में उनके पुत्र अर्जुन विद्यमान थे।[6] विराट की सभा में मंत्री, द्विज, सूत, मागध, वैश्य, आदि उपस्थित पाये जाते हैं।[7] अन्यत्र उसके वृद्ध, ब्राह्मण एवं क्षत्रिय सदस्यों का उल्लेख है।[8] युधिष्ठिर की सभा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, और महर्षि विद्यमान थे।[9] कौरव सभा में भिन्न २ देशों के राजा, राजकुल के अन्य सदस्य, सेना के प्रधान[10] और इनके अतिरिक्त निगम-प्रधान, बहुश्रुत वृद्ध तथा पौर भी उपस्थित थे।[11] वृष्णि सभा में मंत्रियों के अतिरिक्त प्रजा के प्रतिनिधि, ब्राह्मण और निगमों की उपस्थिति का उल्लेख है।[12] उपर्युक्त विवरण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सभा राजा के आश्रित दरबारियों की ही संस्था न थी, वरन् उसमें चारों वर्णों की प्रजा के प्रतिनिधि उपस्थित रहते थे।

सभा के सदस्यों को सभ्य, सभासद, सभानुचारिणा,[13] आदि नामों से सम्बोधित

---

१ उद्योग, १; सभा (गीता), ३८, पृ० ८०।.
२ आदि, २१२.१०.
३ सभा, ७.११.
४ उद्योग, ८९.११-१२; ९२.२८; शान्ति, ५६.५५.
५ आरण्य, १३.५५.
६ आरण्य, ४४ २०.
७ विराट (गीता), ७.१-५.
८ विराट (गीता), १६.१२-१३.
९ सभा, ३१.२४-२५; ४.६-१८.
१० सभा (गीता), ६०.३-५.
११ उद्योग, २.५-७.
१२ मोसल (गीता), ७.९.
१३ विराट (गीता), १६.१२ व १३ के मध्य; सभा ८.३०, तथा विराट (गीता), ११.४.

किया जाता था । इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र सभासदों के गुणों की भी विवेचना की गयी है । भीष्म ने युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में सभासदों के निम्नोक्त लक्षण बतलाये हैं : लज्जा-शीलयुक्त, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल और सुवक्ता ।[१] अन्यत्र कहा गया गया है कि वह सभा, सभा नहीं जहाँ वृद्ध न हों, और वे वृद्ध वृद्ध नहीं जो धर्म की बात न कहें ।[२] एक स्थान पर सभासदों को धर्मज्ञ भी कहा गया है ।[३]

सभा में राजा स्वयं उपस्थित होकर उसका निर्देशन करता था । इसके प्रमाण अनेकशः प्राप्त होते हैं ।[४] परन्तु राजा की अनुपस्थिति में सभापतित्व का भार किसी अन्य सदस्य को सौंप दिया जाता था । सभा पर्व में उसे श्रेष्ठ कहा गया है ।[५] आदि पर्व में हमें सभापाल का भी उल्लेख मिलता है । उसका कार्य था सभा की बैठक बुलाना, और और उसकी कार्यवाही सम्पादन करना ।[६]

सभाभवन की देखभाल के लिये बहुसंख्यक कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे । इन कर्मचारियों में द्वारपाल का पद बहुत ही महत्वपूर्ण था ।[७] इसकी आज्ञा के बिना कोई व्यक्ति सभा में प्रवेश न कर सकता था । आवश्यक सूचना भी उसी के द्वारा सभा में पहुंचायी जाती थी । सुभद्राहरण की सूचना द्वारपाल ने ही दी थी ।

सभा कार्य

भारत की प्राचीन राज-सभा वर्तमान युग की संसद की भाँति विधि-निर्माण के अधिकार से वंचित थी । उसका प्रमुख कार्य था देश की समस्याओं पर विचार करना, और राज्य की नीति निर्धारित करना । सभा में राजनीतिक समस्याओं पर विचार किया जाता था । विराट की सभा में पाण्डवों की समस्या पर विचार करके यह निर्णय किया गया था कि धृतराष्ट्र के पास दूत भेज कर आधा राज्य पाण्डवों को दिलाने का अनुरोध किया जाय ।[८] श्रीकृष्ण भी पाण्डवों की ओर से दूत बन कर कौरव सभा में उपस्थित हुए थे ।[९] संजय ने भी कुरुसभा में अपनी और पाण्डवों की वार्ता का विवरण

---

१ शान्ति, ८४.१-२.
२ उद्योग, ३५.४९.
३ उद्योग, ९३.४७-४८.
४ आरण्य, १३.५५; ८१.२२-२६; उद्योग, १.३, आदि.
५ सभा (गीता), ६८.७८.
६ आदि, २१२.१०.
७ आदि, २१५.११.
८ उद्योग, १.४.
९ उद्योग, ८९.१२; ९२.२७-२८; ९३.१-३.

प्रस्तुत किया था।[1] सभा में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर ही नहीं गृहनीति पर भी, वाद-विवाद होता था। गान्धारी ने कुरुसभा में ही दुर्योधन के अपराधों का वर्णन किया था।[2] अर्जुन ने द्वारकावासियों से अपने साथ चलने का अनुरोध किया। उनके इस प्रस्ताव पर वृष्णियों की सुधर्मा सभा में विचार विमर्श हुआ और वाद-विवाद के पश्चात उसे स्वीकार किया गया।[3] इसी प्रकार युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के प्रश्न पर भी सभा में ही विचार किया गया।[4]

सभा में प्रार्थी राजा के सम्मुख उपस्थित होता था। पाण्डवों ने जब राजा विराट के यहाँ (अज्ञातवास के अवसर पर) शरण ग्रहण की थी तब उन्होंने राज-सभा में सेवा कार्य के लिये याचना की थी।[5] पीड़ित व्यक्ति भी अपनी प्रार्थना राजा के सम्मुख सभा में ही प्रस्तुत करते थे। कीचक द्वारा पीड़ित द्रौपदी ने विराट की सभा में अपना कष्ट सुनाया था।[6]

राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त सभा में मनोरंजन की भी आयोजना की जाती थी। इन्द्र की सभा में हम तुम्बुरु आदि गन्धर्वों एवं अप्सराओं को नृत्य-गान करते हुए देखते हैं।[7] स्वयं युधिष्ठिर कहते हैं : 'विराट की सभा के सदस्य बन कर हम अक्षक्रीड़ा करेंगे'। कौरव सभा में द्यूतक्रीड़ा के परिणाम स्वरूप ही भारत युद्ध हुआ था। कभी कभी सभा में अवाँछनीय और अप्रत्याशित घटनायें भी घट जाती थीं। कौरव सभा में द्रौपदी के साथ अभद्र व्यवहार किया गया था।[8] विराट की सभा में भी वह कीचक द्वारा अपमानित की गई थी।[9]

सभा राज्य की सर्वोच्च न्यायालय भी थी। जब राजा सभा में बैठ कर अभि-योग का निर्णय करता था। उस समय सभा-भवन में केवल न्याय-निपुण सदस्यों की ही उपस्थिति आवश्यक थी। महाभारत में न्यायालय के रूप में सभा कार्य प्रणाली पर दो कथानकों से अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। कुरु सभा में उपस्थित होकर

---

१ उद्योग, ३२.३०.
२ उद्योग, १४५.२८.
३ मोसल (गीता), ७.
४ सभा, १२ १३.
५ विराट (गीता), ७; ११. ३-४.
६ विराट (गीता), ६. ९; २०-२२.
७ आरण्य, ४४. ८-३२.
८ आदि, १. १०६.
९ विराट (गीता), १६. ९;४९.

द्रौपदी ने प्रश्न उठाया था कि क्या युधिष्ठिर को उन्हें दाँव पर लगाने का अधिकार था। इस प्रश्न पर तर्क-वितर्क के पश्चात् धृतराष्ट्र ने द्रौपदी के पक्ष में ही निर्णय किया था।[१] इसी प्रकार विराट की सभा में भी द्रौपदी ने कीचक के विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत किया था। न्याय याचना करते हुए उसने विराट और उसके सभासदों की भर्त्सना भी की थी। परन्तु सभा ने उसी के पक्ष का समर्थन किया था और कीचक की निन्दा।[२] न्यायालय के रूप में सभा का मुख्य ध्येय था धर्मानुसार न्याय करना। हम पहले ही लिख चुके हैं कि सभा के सदस्य धर्मज्ञ होते थे। उद्योग पर्व का निम्नोक्त कथन भी इस प्रसंग में बहुत महत्वपूर्ण है :—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौधर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥[३]

सभा पर्व में भी कहा गया है कि जो धर्मज्ञ व्यक्ति सभा में झूठा निर्णय देता है वह असत्य-भाषण के फल का भागी होता है। अधर्म और अन्याय का फल सभासदों को प्राप्त होता है, अर्द्धांश सभापति को, और चतुर्थांश उन सभासदों को जो निन्दनीय पुरुषों की निन्दा नहीं करते। निन्दा-योग्य मनुष्यों की निन्दा करके सभापति और सभासद निर्दोष हो जाते हैं। धर्म विषयक प्रश्न का झूठा उत्तर देने वाले भी पाप के भागी होते हैं।[४]

सभा पर्व से विदित होता है कि न्याय-सभा में स्त्रियों को बुलाना अनुचित माना जाता था। इस पर्व में उल्लिखित है कि पहले धर्मपरायण लोग स्त्री को कभी सभा में न लाते थे। किन्तु कौरव राज्य में वह प्राचीन धर्म नष्ट हो गया था।

कार्य-प्रणाली

महाभारत से सभा की कार्य प्रणाली पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। प्रथमतः हम देखते हैं कि सभासदों के आसन निर्दिष्ट रहते थे। राजा का आसन सर्व श्रेष्ठ

---

१ सभा (गीता), ६७-७१.
२ विराट (गीता), १६.
३ उद्योग, ३५. ४९.
४ सभा (गीता), ६८. ६४; ७४; ७७-७९.

अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम्॥ ७८॥
अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥ ७९॥

होता था। उसी के सम्मुख अन्य सदस्य अपने-अपने आसनों पर बैठते थे। विराट की सभा में युधिष्ठिर राजपरिवार के आसन पर बैठ गये थे, तब विराट ने इसका प्रतिवाद किया था।[1] विराट और कुरु सभा के आसनों का यथेष्ठ विवरण प्राप्त होता है। सभा में विचारार्थ जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता था उस पर सभी सदस्य अपना-अपना मत व्यक्त करते थे। कुछ सदस्य उसका समर्थन करते थे तो कुछ विरोध। उदाहरणार्थ, विराट की सभा में कृष्ण का प्रस्ताव था कि दूत भेजकर दुर्योधन से अनुरोध किया जाय कि वह आधा राज्य युधिष्ठिर को दें। इस प्रस्ताव का बलराम ने समर्थन किया था और सात्यकि ने विरोध। अन्य सभासदों ने भी अपने अपने विचार प्रकट किये थे। कृष्ण ने उनके आक्षेपों का समाधान किया और अन्ततः उनका प्रस्ताव सभा ने स्वीकार किया।[2] इसी भाँति यादव सभा में सुभद्राहरण पर घोर वाद-विवाद के पश्चात् कृष्ण का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था।[3] इससे यह विदित होता है कि सभासदों को अपने अपने विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। स्वयं धृतराष्ट्र-पुत्र विकर्ण ने कुरु सभा में द्रोपदी के पक्ष का समर्थन किया था।[4] सभासद अपनी सम्मति या तो मौन रह कर या 'साधु साधु' कह कर प्रकट करते थे।[5] सभासदों का यह भी कर्तव्य था कि वह निष्पक्ष भाव से अपना मत व्यक्त करें। और प्रायः ऐसा ही होता भी था। विराट की सभा में कीचक की निन्दा की गयी थी, और द्रोपदी की सराहना, यद्यपि द्रोपदी ने सभा में बहुत ही कटुवाक्य कहे थे।[6] दूसरी ओर कौरव सभा के सदस्यों को हम क्लीववत् बर्ताव करते हुए पाते हैं। जब सभा में द्रोपदी का अपमान किया गया था तब विदुर के अतिरिक्त किसी ने उस अधर्म का प्रतिवाद नहीं किया था।[7] सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव कार्यान्वित किये जाते थे। इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि प्रायः राजा स्वयं सभा में उपस्थित रहता था और अन्य सदस्यों की भाँति वह भी अपना मत व्यक्त करता था।

---

१ विराट (गीता), ७०.७.

२ उद्योग, १-४.

३ आदि, २१२.

४ सभा (गीता), ६८. ११-२६.
सभासदों द्वारा निर्भीक और स्पष्टोक्ति के अन्य उदाहरणों के लिए देखिये, सभा (गीता), ३७, ६२-६३; ६८; विराट (गीता), १६ २०-२४, इत्यादि।

५ आदि, ३८.१.

६ विराट (गीता), १६.३१-३९.

७ उद्योग, २९. ३०-३६.

पौरजानपद

जायसवाल के अनुसार महाभारत-काल में सभा के अतिरिक्त एक अन्य प्रतिनिधि संस्था, पौरजानपद, भी विद्यमान थी। उनका विश्वास है कि वैदिक-कालीन समिति के अवसान पर इस नवीन संस्था का जन्म हुआ और ईसापूर्व ६०० से ६०० ई० तक इसका अस्तित्व बना रहा। उन्होंने रामायण, महाभारत, दिव्यावदान, मृच्छकटिक आदि साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त स्मृतियों, अभिलेखों, और मुद्रालेखों के आधार पर इस संस्था का अस्तित्व प्रमाणित किया है। पौरजानपद शब्द 'पुर' और 'जनपद' से बना है। पुर राजा की राजधानी का द्योतक है, और जनपद राजधानी के अतिरिक्त राज्य के अन्य भागों का। राज्य के इन दोनों ही विभागों में पृथक पृथक प्रतिनिधि सभायें थीं, जिनको क्रमशः 'पौर' और 'जानपद' कहा जाता था। यह दोनों सभायें मिलकर समस्त राज्य की प्रतिनिधि संस्था का रूप धारण करती थीं। इसी कारण से यह दोनों शब्द प्रायः एक ही साथ उल्लिखित मिलते हैं। जायसवाल के मतानुसार यह राज्य की अधिकार-सम्पन्न सर्वोच्च संस्था थी, जो राजा को अपदस्थ तथा उसका उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकती थी। मंत्रियों के लिए इसका सहयोग आवश्यक था, नवीन करों के लिए इसकी स्वीकृति आवश्यक थी, और इसे कानून बनाने का भी अधिकार प्राप्त था। सारांशतः इसके सहयोग के बिना राष्ट्र का शासन असंभव था। राजा पर यह पूर्ण नियंत्रण रखती थी।[१]

जायसवाल के तर्क बहुत सारगर्भित हैं।[२] परन्तु पौर और जानपद शब्द पुर तथा जनपद के साधारण निवासियों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। पौर का शाब्दिक अर्थ पुरवासी तथा पुर-संस्था दोनों ही संभाव्य हैं, और बहुवचन में इसका अर्थ पौर-सभा के सदस्य भी हो सकता है।

डा० अल्तेकर ने जायसवाल के सभी तर्कों का खण्डन करते हुए पौरजानपद नामक संस्था का अस्तित्व अप्रमाणित ठहराया है। उनके अनुसार जायसवाल ने अपना

---

१ *Hindu Polity*, Chaps. 27-28.

२ प्रोफेसर दीक्षितार और डा० धर्मा भी उनके विचारों से सहमत हैं। दृष्टव्य, Dikshitar, *Hīndu Administrative Institutions*. pp. 156-58 and Dharma, *Rāmāyaṇa Polity*, p. 37.
परन्तु डा० ला० (I. H. Q, VI, pp. 181-84), और डा० काणे *Histery of Dharma Śāstra* III pp 94-95) उनके मत को अमान्य ठहराते हैं।

मत प्रतिपादित करने में शब्दार्थ ही नहीं, व्याकरण के नियमों का भी अतिक्रमण किया है। अल्तेकर का कथन है कि यदि इस प्रकार की कोई संस्था ई० पू० ६०० से लेकर ६०० ई० तक देश में विद्यमान रहती तो उसका उल्लेख समसामयिक अभिलेखों में अवश्य होता।[१]

इन दो प्रकाण्ड विद्वानों के परस्पर विरोधी मतों से पौर-जानपद जैसी संस्था का अस्तित्व संदिग्ध हो जाता है। रामायण की भाँति महाभारत में भी पौरजानपद शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है, परन्तु संभवतः वह पुर और जनपद के निवासियों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। शान्ति पर्व में एक स्थल पर कहा गया है कि समस्त प्रकृतियों के साथ पौरजानपद भी युधिष्ठिर के स्वागत हेतु हस्तिनापुर में उपस्थित हुए थे।[२] उसी पर्व में अन्यत्र कहा गया है कि जिस राजा के पौरजानपद दयाशील एवं धनधान्य सम्पन्न होते हैं वह दृढ़-मूल होता है।[३] उसी प्रसंग में पौरजानपदों को राष्ट्र-हितैषी अथवा राष्ट्र-विरोधी, एवम् दुर्विनीत अथवा विनयशील भी कहा गया हैं।[४] अन्यत्र राजा को पौरजानपदों पर अनुकम्पा करने का आदेश दिया गया है।[५] आदिपर्व में हम द्रोपदी स्वयम्वर के अवसर पर 'पौरजानपदाजनाः' को उनके दर्शन हेतु उपस्थित पाते हैं।[६] आश्रमवासिक पर्व में धृतराष्ट्र के वचन सुनकर हम 'पौरजानपदाः जनाः' को दुखी देखते हैं।[७] उद्योग पर्व में ब्राह्मण और वृद्धों के साथ पौरजानपदों ने देवापि का राज्याभिषेक रोक दिया था।[८]

उपर्युक्त उद्धरणों की समुचित विवेचना करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'पौर' 'जानपद' शब्द पुर और जनपद निवासियों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। केवल उद्योगपर्व से उद्धृत वाक्य इसका अपवाद हो सकता है क्योंकि वहाँ पौरजानपदों के साथ ब्राह्मण और वृद्धों का भी उल्लेख किया गया है। यदि हम पौरजानपद का अर्थ

---

1 Alteker, *State & Government in Ancient India*, pp. 146-55.
२ शान्ति, ३९.९.
३ शान्ति, ९५.५.
४ शान्ति (गीता), ९४, पृ० ४६६७:
राष्ट्र कर्मकरा ह्येते राष्ट्रस्य च विरोधिनः।
दुर्विनीता विनीताश्च सर्वे साध्याः प्रयत्नतः॥
५ शान्ति, ८८.२२.
६ आदि, १६५.२५.
७ आश्रमवासिक (गीता), ९.१८.
८ उद्योग, १४७.२१-२३.

यहाँ भी पुर और जनपद के निवासी करें तब ब्राह्मण और बृद्धों का अलग उल्लेख करने की आवश्यकता न थी । शान्तिपर्व में पौर जानपद के साथ प्रकृति का उल्लेख असंगत नहीं है । प्रकृति का अर्थ यहाँ पर प्रजा नहीं अमात्य इत्यादि हैं । इस प्रकार महाभारत में इस बात का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता कि पौरजानपद नामक कोई संस्था थी । यदि ऐसी संस्था उस समय विद्यमान होती, तब कौरव और पाण्डवों के उत्तराधिकार प्रश्न पर उसमें अवश्य विचार किया जाता ।

१३
राज-पुरुष

राजा के लिए एकाकी शासन करना संभव नहीं है। उसे बहुसंख्यक और विभिन्न वर्गों के कर्मचारियों की सहायता लेनी पड़नी है। यह प्रशासन-अधिकारी ही शासन का वास्तविक भार वहन करते हैं। एतदर्थ भारतीय शासन-तंत्र में उन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। उनका महत्व युधिष्ठिर के इस प्रश्न से व्यक्त होता है : 'राजा को किस प्रकार के गुण-सम्पन्न व्यक्ति नियुक्त करना चाहिये ? वह एकाकी शासन सूत्र का संचालन नहीं कर सकता'। भीष्म का प्रत्युत्तर राज-पुरुष कर्मचारियों के महत्व को स्पष्टत: व्यक्त करता है। उनके अनुसार सहायकों के बिना राजा न शासन कर सकता हैं और न किसी अर्थ की प्राप्ति। यदि प्राप्ति हो भी गयी तो उसकी रक्षा असंभव है। अतएव गुणसम्पन्न भृत्यों की नियुक्ति नितान्त आवश्यक है।[1] महाभारत में प्रशासन अधिकारियों के लिये राजपुरुष, राजयुक्त, राजोपजीवी, नृप-सेवी, भृत्य, परिच्छद आदि अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[2]

राज्य की शासन-व्यवस्था मुख्यत: भृत्यों पर आधारित थी। अत: राजा को गुणसम्पन्न व्यक्तियों को ही विभिन्न प्रशासकीय पदों पर नियुक्त करने का आदेश दिया गया है।[3] महाभारत में विशिष्ट पदाधिकारियों के गुणों का तो उल्लेख किया ही गया है, कुछ ऐसे गुणों का भी उल्लेख है जो राज्य के समस्त कर्मचारियों में अपेक्षित थे। साधारणतया, कुलीन, जितेन्द्रिय, शुचियुक्त, विनीत, ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न, कर्तव्यपरायण, मृदुभाषी, निष्कलंक तथा राजा और राज्य के प्रति अनुरक्त व्यक्तियों को ही राजकीय सेवा का अधिकारी माना गया है। भीष्म के अनुसार सभी भृत्यों को उद्योगशील तथा रणकोविद भी होना चाहिये।[4] राजपुरुषों में अपेक्षित गुणों का वर्णन इस ग्रन्थ में

---

१ शान्ति, ११६.११-१३; ९४.२६; उद्योग ३७.२२.
२ सभा, ५.१०४; शान्ति, ८३.१०; ८३.२६, ८३.२४; ५५.८; ८४-५.
३ शान्ति, ११६.१३; ११८.२-३; ११९.१.
४ शान्ति, ११९.१८.

अनेक स्थलों पर अनेक व्यक्तियों द्वारा किया गया हैं।[१] हमारे ग्रन्थ में उन अवगुणों का भी उल्लेख है जो राजसेवकों में न होने चाहिये। वामदेव के अनुसार जो राजा मूर्ख, इन्द्रियलोलुप, लोभी, दुष्चरित, दुर्बुद्धि, अश्रुत, मदिरा, द्यूत, स्त्री तथा मृगयासक्त व्यक्तियों को राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करता है वह श्री-भ्रष्ट हो जाता है।[२] भीष्म भी निम्नकुलोत्पन्न, लोभी, क्रूर, निर्लज्ज, मूर्ख, अकुशल व्यक्तियों की नियुक्ति के विरुद्ध हैं।[३] इसी प्रकार नारद युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं: 'तुमने ऐसे लोगों को तो नहीं नियुक्त कर रखा है जो लोभी, चोर, अथवा व्यवहारिक अनुभव रहित हैं' ?[४]

उपधा परीक्षा

मंत्रियों की भाँति भृत्यों के लिये भी उपधा परीक्षा का विधान था। भीष्म का स्पष्ट आदेश हैं:—'नापरीक्ष्य महीपालः प्रकर्तु भृत्यमर्हति'।[५] किसी भी व्यक्ति के गुणों की सम्यक् परीक्षा करके ही उसे राज-सेवा में नियुक्त करना चाहिये। अर्थविभाग में तो उन्ही को नियुक्त करना चाहिये जो पाँचों उपधा परीक्षाओं में उत्तीर्ण हों।[६]

भृत्यों के तीन वर्ग

महाभारत में योग्यता के आधार पर राज-सेवकों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—उत्तम, मध्यम और अधम।[७] भीष्म के अनुसार तीनों प्रकार के भृत्यों को उनकी योग्यता के अनुरूप पदों पर नियुक्त करना चाहिये।[८] यही मत विदुर का है,[९] और नारद भी युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं:—

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः॥[१०]

वामदेव का आदेश है कि महत्वपूर्ण कार्यों में, विशेषतः अर्थ सम्बन्धी कार्यों में, जितेन्द्रिय, शुचि-शक्ति सम्पन्न तथा अत्यन्त अनुगत और अनुरक्त पुरुषों को ही नियुक्त करना चाहिये।[११] इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुये भीष्म कहते हैं कि धर्म-कार्य में

---

१ यथा, शान्ति, ५७.२३-२४; ८४.५; ९४.१३-१४; १२०.२४-२६, इत्यादि।
२ शान्ति, ९४.१६-१७.
३ शान्ति, ८४.६; ७२.८-९; ११९.८; १४.
४ सभा, ५.६५.
५ शान्ति, ११८.४.
६ शान्ति, ८४.२०.
७ सभा, ५.३२; ५.६४; उद्योग, ३३.५६.
८ शान्ति, ११८.३: भृत्या ये यत्र योग्याः स्युस्तत्र स्थाप्याः—। तथा, ११९.१.
९ उद्योग, ३३.५६.
१० सभा, ५.३२; ५.६४.
११ शान्ति, ९८.१४-१५

धार्मिक, अर्थ-कार्य में अर्थकोविद, अन्तःपुर में क्लीव तथा कठोर कार्य में क्रूर पुरुषों की नियुक्ति उचित है।[1] अन्यत्र भी वह आदेश देते हैं:—

शरभः शरभस्थाने सिंहः सिंह इवोर्जितः।
व्याघ्रो व्याघ्र इव स्थाप्यो द्वीपी द्वीपी यथा तथा ॥[2]

भृत्यों को उनकी योग्यता के प्रतिकूल पदों पर कभी न नियुक्त करे—प्रतिलोमं न भृत्यास्ते स्थाप्याः। ऐसा करने से राजा प्रजा का रंजन नहीं कर सकता।[3]

वेतन-पुरस्कार

महाभारत में राजकर्मचारियों के वेतन सम्बन्धी कतिपय नियम पाये जाते हैं। विदुर का आदेश है कि भृत्यों को पर्याप्त वेतन मिलना चाहिये।[4] शान्तिपर्व में भी कहा गया है कि राजा को राज्य की सब आय अपने ही लिए न रखना चाहिये: राजकर्मचारियों को भी उसका अंश देना चाहिये। राजा के समान वे भी वेतन और भोग के अधिकारी हैं।[5] उद्योगपर्व में वेतन निर्धारित करने का आधार व्यक्त किया गया है। बिदुर के अनुसार भृत्यों का वेतन उनकी योग्यता, कार्य एवं राजकीय आय-व्यय को दृष्टि में रखकर निर्धारित करना चाहिये।[6] राजा को यह भी आदेश दिया गया है कि वह भृत्यों का वेतन निर्धारित समय पर दे। कालातिक्रमण उनको क्षुभित कर देता है।[7] बिदुर यह भी आदेश देते हैं कि राजकर्मचारियों की वृत्ति-संरोध न करना चाहिये, क्योंकि अपने वेतन और भोग से वंचित होकर वह राजा के विरुद्ध हो जाते हैं।[8] नारद भी युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं: 'क्या तुम लोभ, मोह या विश्रम्भवश आश्रित जनों की वृत्ति बन्द तो नहीं कर देते हो ?[9]

उत्तम कार्य सम्पादन करने वाले भृत्यों को पुरस्कृत करने का भी नियम था,[10] और इसी प्रकार जो लोग राज-सेवा में मृत्यु का वरण करते थे उनके आश्रित जनों के

१ आरण्य, १५०.४६.
२ शान्ति, ११९.५.
३ शान्ति, ११९.६-७.
४ उद्योग, ३८.२४.
५ शान्ति, ५७ २५-२६; उद्योग, ३८.२४.
६ उद्योग, ३७.२०: कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वाण्यायव्ययोचानुरूपां च वृत्तिम्।
७ सभा, ५.३८-३९.
८ उद्योग, ३७.२१; शांति, ११६.६-७.
९ सभा, ५.८२.
१० शान्ति, ५७.२५.

भरण पोषण का भी विधान था ।[१] एक महत्वपूर्ण नियम का उल्लेख सभा पर्व में मिलता है । नारद के अनुसार किसी भी कर्मचारी को तब तक सेवा से निवृत्त न करना चाहिये जब तक उसका अपराध भली भाँति प्रमाणित न हो जाय ।[२]

इस ग्रन्थ में अन्य अधिकारियों के वेतन का तो नहीं, परन्तु ग्राम अधिकारियों के वेतन और भत्ते का वर्णन अवश्य प्राप्त होता है । ग्रामिक के भरण-पोषण की व्यवस्था उस ग्राम की आय से ही होना चाहिये जिसका वह अधिकारी हो। इसी प्रकार दशप तथा विंशप के भरण-पोषण का प्रबन्ध अधीनस्थ ग्रामिक करते थे। दूसरे शब्दों में अपने २ ग्रामों की आय का एक अंश उनको प्रदान करते थे । शत-ग्रामपाल का वेतन एक सुस्फीत, जन-संकुल ग्राम की तथा सहस्रग्रामाध्यक्ष का वेतन शाखा-नगर की आय के समान था । उनको वेतन धान्य और हिरण्य दोनों ही रूपों में प्रदान किया जाता था ।[३]

महाभारत में भीष्म, विदुर, नारद आदि ने राज-कर्मचारियों के शील और व्यवहार सम्बन्धी नियम निर्धारित किये हैं, जो सभी देशों और सभी युगों के लिए आदर्श माने जा सकते हैं । संक्षेपतः वे नियम इस प्रकार हैं : राज सभा में उपयुक्त स्थान तथा आसन ग्रहण करना, यत्नपूर्वक स्वामी का हित साधन, मन में भी उसका अहित न सोचना, राजा एवम् राजपुत्रों का गुणकीर्तन, और दण्डित होने पर भी उनकी निन्दा न करना, तत्परता से स्वकार्य संपादन, बिना आज्ञा के कोई भी कार्य न करना, राजा के सम्मुख अपना पाण्डित्य न प्रकट करना और न उसे कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश देना, प्रिय और हितकर बात कहना, किन्तु प्रिय और अहितकर नहीं, राजा के समान वेश-भूषा न धारण करना और न उसके यान, वाहन, आसन आदि का प्रयोग करना, परन्तु उसके द्वारा प्रदत्त भूषणादि को आदरपूर्वक धारण करना, राजा की उपस्थिति में सम्यक् व्यवहार करना, रानी, अंतःपुर के सेवक, राजा के शत्रु तथा जिनसे वह अप्रसन्न हो उनसे किसी प्रकार का सम्पर्क न रखना, राजा की गुप्त बातें न प्रकट करना, उत्कोच न लेना तथा आलस्य, प्रमाद, अभिमान, क्रोध एवम् छल-कपट का प्ररित्याग ।[४] उन्हें राजा की सेवा बड़ी सतर्कता और सावधानी से करना चाहिये, क्योंकि यदि प्रसन्न होकर वह देवतावत् मनोरथ पूर्ण करता है, तो कुपित हो अग्निवत् समूल नष्ट भी कर देता है ।[५]

---

१ सभा, ५.४४.
२ सभा, ५.६३.
३ शान्ति, ८८.६-९.
४ यथा विराट (गीता), ४.७-५१; शान्ति, ८३.२३-३१; सभा ५.५५ और उससे आगे ।
५ शान्ति, ८३.२८-३१; विराट (गीता), ४.२२.

महाभारत में भृत्यों के प्रति राजा के कर्तव्य की भी विवेचना की गयी है। उनको सम्मानित और पुरस्कृत करना राजा का धर्म था, परन्तु उनके साथ अत्यन्त कोमलता और मृदुता का व्यवहार वर्जित माना गया है। राजा को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ हास-परिहास तो कदापि न करना चाहिये। ऐसा करने से समुत्पन्न दोषों का सम्यक् चित्रण शान्ति पर्व में किया गया है। सारांशतः 'जैसे लोग डोरे में बंधे हुए पक्षी के साथ खेलते हैं, वैसे ही वे भी राजा के साथ खेलने की इच्छा करने लगते हैं, और जनता से कहने लगते हैं कि राजा तो हमारा गुलाम है।'[1] वे जाली आज्ञापत्र बना कर राज्य को भी जर्जरित कर देते हैं।[2] अतः राजा को उनके कार्यों और गतिविधियों पर सदैव दृष्टि रखना चाहिये।[3] इसके लिए चर भी नियुक्त किये जाते थे।[4] अयोग्य तथा अस्वामिभक्त कर्मचारियों को पदमुक्त अथवा दंण्डित करना भी राजा का कर्तव्य था,[5] परन्तु बिना सम्यक् बिचार किये अथवा प्रमाण के अभाव में दण्ड देना निन्दनीय माना गया है।[6] महाभारत राजपुरुषों के दोषों से परिचित है और उनके लोभ तथा क्रूरता से प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रधान कर्तव्य मानता है। उतथ्य के अनुसार उनके अन्याय से उत्पन्न पाप का भागी स्वयं राजा होता है।[7] भीष्म का भी आदेश है कि राजा अन्यायी कर्मचारियों को समुचित दण्ड दे।[8]

शान्ति पर्व में कालकवृक्षीय मुनि के कथन से विदित होता है कि राज-सेवकों की स्थिति बहुत अच्छी न थी। वह पूर्वाचार्यों को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि 'राजसेवियों की पापमयी जीविका अगतिक गति है। राजाओं की संगति वैसी ही होती है जैसे विषधर सर्पों की। राजा के आश्रित-जनों को उसके मित्र और शत्रुओं से ही नहीं स्वयं राजा से भी निरन्तर भय बना रहता है।[9] इसी प्रकार के भाव उसी पर्व में एक गोमायु

---

१ शान्ति, ५६.४८-६०:

क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोके चैव वदन्त्युत ॥ ५९ ॥

तथा अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९५३.

२ शान्ति, ५६.४२.

३ सभा, ५.९३-९४.

४ शान्ति, १२०.३०; सभा, ५.२७.

५ उद्योग, ३७.२४; अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९४०.

६ सभा, ५.६३.

७ शान्ति, ९२.२३-२८.

८ शान्ति, ८९.२२.

९ शान्ति, ८३.२४-२६.

द्वारा भी व्यक्त कराये गये हैं। वह कहता है :

'अपराधैर्न तावन्तो भृत्याः शिष्टा नराधिपैः ।
उपधातैर्यथा भृत्या दूषिता निधनं गताः ।।'[१]

उपर्युक्त कथन असाधारण परिस्थिति के द्योतक हो सकते हैं, क्योंकि इस ग्रन्थ में राजा और राज-पुरुषों के पारस्परिक सहयोग और सद्भावना पर ही बल दिया गया है,[२] जो सुशासन के लिए नितान्त आवश्यक था। वास्तव में वे राजा का ही अनुकरण और अनुसरण करते थे। वामदेव का यह कथन बहुत ही सारयुक्त है कि 'जिस राज्य में राजा प्रजा पर अत्याचार करने लगता है वहाँ राज-पुरुष भी वैसा ही व्यवहार करने लगते हैं। इसके परिणाम स्वरूप वह राज्य शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है'।[३]

राजकर्मचारियों की संख्या बहुत अधिक थी। स्वराष्ट्र के अतिरिक्त उनकी नियुक्ति परराष्ट्र में भी की जाती थी।[४] एक स्थान पर उनको दो वर्गों में विभाजित किया गया है—आभ्यंतर तथा बाह्य।[५] आभ्यंतर सेवक राज-प्रासाद के और बाह्य सेवक अन्य राजकीय कर्मचारी थे। अन्यत्र इनको पारिपार्श्वक तथा बाह्य सेवक कहा गया है।[६] महाभारत में सब प्रकार के कर्मचारियों का तो परिचय नहीं मिलता है, परन्तु प्राप्त उल्लेखों से सुनियोजित 'नौकरशाही' का अस्तित्व प्रमाणित होता है। अर्थशास्त्र की भाँति इस ग्रन्थ में भी 'अष्टादश तीर्थों' का उल्लेख है,[७] परन्तु उनका विवरण नहीं उपलब्ध है। भाष्यकार नीलकंठ के अनुसार इसके अन्तर्गत निम्नोक्त पदाधिकारी थे : मंत्री, पुरोहित, युवराज, चमूपति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक, कारागाराधिकारी, द्रव्य-संचयकृत्, कृतकार्येषु-अर्थानां विनियोजक, प्रदेष्ट्र, नगराध्यक्ष, कार्य निर्माणकृत, धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रान्तपाल, तथा आटवीपाल।

---

१ शान्ति, ११२. ३३.

२ शान्ति, १८०.२२.
अप्यदृष्ट्वा नियुक्तानि अनुरूपेषु कर्मसु ।
सर्वांस्ताननुर्वेत स्वरांस्तंत्रीरिवायता ।।

३ शान्ति, ९४.१-२.

४ सभा, ५. ५५.

५ सभा, ५. ५८.

६ शान्ति, ११९. ९-१०.

७ सभा, ५. २७.
दृष्टव्य, अर्थशास्त्र, १. १२.

यद्यपि नीलकंठ और कौटिल्य के विवरण में कुछ अधिकारियों के नामों में अन्तर पाया जाता है, फिर भी उनमें बहुत साम्य है। स्वयं महाभारत में इन सब अधिकारियों का एकत्र उल्लेख तो नहीं प्राप्त होता, परन्तु उनमें से अधिकांश नाम यत्र-तत्र अवश्य पाये जाते हैं। यह भी संभव है कि भाष्यकार की यह सूची उत्तरयुगीन ग्रन्थों पर आधारित हो। मंत्री, युवराज, चमूपति आदि के विषय में हम अन्यत्र लिख चुके हैं। यहाँ पर अन्य अधिकारियों के विषय में जो कुछ ज्ञान महाभारत से प्राप्त होता है उसका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुरोहित

महाभारत ब्राह्म-शक्ति और क्षात्र शक्ति के समन्वय में विश्वास रखता है।[१] अतः वह राजा को सहायता देने के लिए सुयोग्य पुरोहित नितान्त आवश्यक मानता है।[२] वैसे भी यह पद बहुत महत्वपूर्ण था, और कतिपय आचार्यों ने पुरोहित को मंत्रिमण्डल का सदस्य माना है।[३] इस पद की महत्ता भीष्म के इस आदेश से भी स्पष्ट हो जाती है कि राजा प्रथमतः पुरोहित का वरण करे और तत्पश्चात् अपना अभिषेक।[४] अन्यत्र भी पुरोहितहीन राजा को उच्छिष्ठ तथा बध्य माना गया है।[५] केकय-राज के अनुसार उनका पुरोहित 'सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वामी' था।[६] इस पद के लिए बहुत उच्च गुण अपेक्षित थे, जिनका उल्लेख हमारे ग्रन्थ में अनेकशः प्राप्त होता है।[७] बहुश्रुत, मंत्रविद् धर्मनिष्ठ, विद्वान ही इस पद पर प्रतिष्ठित किये जाते थे।

पुरोहित का मुख्य कर्तव्य राजा के धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न कराना था। उसके समस्त इष्टापूर्त कार्य पुरोहित के द्वारा ही सम्पादित किये जाते थे। वह अनिष्ट और अमंगल निवारणार्थ उपाय भी करता था।[८] इसके अतिरिक्त पुरोहित राजनीतिक कार्यों में भी भाग लेता था और गूढ़ विषयों में राजा को मंत्रणा देता था। पुरोहितों में सर्वश्रेष्ठ उदाहरण धौम्य का है। महाराज द्रुपद के पुरोहित भी पाण्डवों की ओर

---

१ शान्ति, ७५. १५.
२ शान्ति, ७४. १.
३ दृष्टव्य शुक्रनीति, २. ६९-७०.
४ शान्ति, ७४. २९.
५ शान्ति, (गीता), ७३, पृ०, ४६१४.
६ शान्ति, ७८. २४.
७ दृष्टव्य, शान्ति, ७४. १-२; २८; ७८.२४; (गीता), ७९. ४-५; सभा, ५.२९, इत्यादि।
८ शान्ति, ७२.४; ७३.१८; शान्ति (गीता), ७३, पृ० ४६१४.

से संधि का प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गये थे। वस्तुतः पुरोहित राजा का सच्चा मित्र और पथप्रदर्शक था। भीष्म के अनुसार उसे सत्पथ पर अग्रसारित करना तथा असत्पथ से दूर रखना पुरोहित का प्रधान कर्तव्य था।[१] अन्तःपुर से सम्बन्धित कार्यों में भी वह उचित मंत्रणा देता था।[२] यह कथन कि राष्ट्र का योग-क्षेम पुरोहित के अधीन है[३] सर्वथा यथेष्ट है।

पुरोहित के अतिरिक्त ऋत्विक भी होते थे, जिनका प्रमुख कार्य था राजा के यज्ञों का सम्पादन। महाभारत में उनके भी विशिष्ट गुणों का उल्लेख है।[४]

द्वारपाल

द्वारपाल अथवा प्रतीहारी का पद भी बहुत महत्वपूर्ण था। उद्योग पर्व में उसका एक अन्य नाम, दौवारिक, भी उल्लिखित है।[५] उसका प्रधान कार्य था राज-द्वार की रक्षा। उसकी आज्ञा के बिना कोई भी राजप्रासाद के भीतर नहीं जा सकता था। आगन्तुक व्यक्तियों को वही राजा के सम्मुख उपस्थित करता था। भीष्म के अनुसार प्रतीहारी को भी उन सात गुणों से युक्त होना चाहिये जो दूत के लिये आवश्यक थे।[६]

दूत

यद्यपि दूत को अष्टादश तीर्थों में स्थान नहीं दिया गया है, तथापि उसका पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। कतिपय आचार्य, पुरोहित की भाँति उसे भी मंत्रि-मण्डल का सदस्य मानते हैं।[७] दूत-पद निःसन्देह बहुत प्राचीन है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद में मिलता है।[८] प्रायः सभी उत्तरयुगीन लेखकों ने उसकी योग्यता और कार्यों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

दूत राज्य का वरिष्ठ अधिकारी था। उसका प्रधान कार्य था अपने स्वामी की नीति और विचारों से दूसरों को अवगत कराना। अतएव उसका व्यक्तित्व और

---

१ शान्ति, ७३.१; १५-१७.
२ शान्ति (गीता), ७३, पृ० ४६१४.
३ शान्ति, ७५.१.
४ शान्ति, ७८.२२; ८०.५-६.
५ उद्योग, ३०.२६.
६ शान्ति, ८६.२८-२९.
७ दृष्टव्य, शुक्रनीति, २.६९-७०.
८ ऋग्वेद, १.१२.१; १.६१.३; ८.४४.३.

व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अत्यधिक प्रभावित करता थे।[1] कौटिल्य और कामन्दक ने महत्वक्रम से तीन प्रकार के दूतों का उल्लेख किया है—निसृष्टार्थ, मितार्थ तथा शासनहारक अथवा शासनवाहक। निसृष्टार्थ दूत को सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त रहते थे, परन्तु अन्य दो के अधिकार सीमित थे।[2]

महाभारत में इस प्रकार का वर्गीकरण तो नहीं है, परन्तु विभिन्न प्रकार के दूतों के उदाहरण अवश्य प्राप्त होते हैं। भगवान कृष्ण निश्चय ही पाण्डवों के निसृष्टार्थ दूत थे। उनको कौरवों से सन्धि अथवा विग्रह करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। द्रुपद के पुरोहित को, जिसे कार्य विशेष सम्पादनार्थ प्रेषित किया गया था, हम मितार्थ दूत मान सकते हैं। शासनहारक दूतों का उल्लेख तो अनेकशः प्राप्त होता है।

निसृष्ठार्थ दूत में बहुत उच्च गुण अपेक्षित थे। कामन्दक के अनुसार उसे प्रगल्भ, स्मृतिवान्, वाग्मी, शस्त्र और शास्त्र में निपुण तथा अभ्यस्तकर्मा होना चाहिये। मितार्थ और शासनहारक गुणों में उसकी अपेक्षा क्रमशः एक और दो पाद हीन होते थे।[3] कौटिल्य दूत के लिए वह सभी गुण आवश्यक मानते हैं जो अमात्य में अपेक्षित थे।[4] महाभारत में दूत के आठ गुणों का वर्णन किया गया है—अस्तब्ध, अक्लीव, अदीर्घसूत्र, सानुक्रोश, श्लक्ष्ण, अहारमन्य, निरोग तथा उदारवाक्य।[5] परन्तु शान्तिपर्व में केवल सात गुणों का ही उल्लेख है—कुलीन, शीलसम्पन्न, वाग्मी, दक्ष, प्रियंवद, यथोक्तवादी एवम् स्मृतिवान्।[6] कृष्ण भी दूत को धर्मशील, शुचि-सम्पन्न, कुलीन तथा अप्रमत्त होना आवश्यक मानते हैं।[7] एक स्थल पर संजय कहते हैं: 'मैं शान्ति रखने में समर्थ हूँ और युद्ध करने में भी। धर्म और अर्थ का ज्ञान रखता हूँ, और समयानुसार कोमल और कठोर भी हो सकता हूँ।' इस कथन से भी दूत के गुणों पर प्रकाश पड़ता है। विदुर का स्पष्ट आदेश है कि अकुशल दूत पर विश्वास न करना चाहिये।[8]

---

१ यथा, मनु, ७.६४.
२ अर्थशास्त्र, १.१६; नीतिसार, १३.३.
३ नीतिसार, १३.२-३.
४ अर्थशास्त्र, १.१६.
५ उद्योग, ३७.२५.
६ शान्ति, ८६.२७.
७ उद्योग १.२४.
८ उद्योग, (गीता), ३९.३७.

दूत के कार्य प्रधानतः कूटनीतिक और राजनीतिक थे, परन्तु यदा-कदा उसे चर का भी कार्य करना पड़ता था। कामन्दक यथेष्ठ ही उसे प्रकाश-चर कहते हैं।[१] उद्योग पर्व में कृष्ण शत्रुपक्ष के भाव जानने के लिए दूत भेजने का प्रस्ताव करते हैं, जो पाण्डवों को आधा राज्य देने के लिए कौरवों को बिवश कर सके।[२] अन्ततः द्रुपद के पुरोहित को यह कार्य सौंपा गया और उसे यह आदेश दिये गये : धृतराष्ट्र से धर्म-संगत बातें कह कर उनके समर्थकों की सहानुभूति प्राप्त करना, कुरु-पक्ष में भेद उत्पन्न कराना तथा सैन्य संग्रह में बाधा उपस्थित करना।[३] दूत उपयुक्त उपायों द्वारा प्रति-पक्षी शासक को अपने स्वामी के अनुकूल बनाने का भी प्रयास करते थे।[४] वे संधि अथवा विग्रह का प्रस्ताव लेकर तो भेजे ही जाते थे, यदा-कदा अन्य शासकों को अपने स्वामी की अधीनता स्वीकार करने और उसे कर देने के लिऐ बाध्य करने का भार भी उनको सौंपा जाता था। .उदाहरणार्थ, सहदेव के दूतों ने अनेक राजाओं को धर्मराज युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार करने के लिये बिवश किया था।[५] दूत मित्र-राष्ट्रों को भी भेजे जाते थे। भारत युद्ध से पूर्व पाण्डवों ने अनेक मित्र राजाओं के पास दूत भेज कर सहायता की याचना की थी।[६]

दूत का कार्य सन्धि-विग्रह तक ही सीमित न था। अन्य कार्यों के लिए भी वह पर-राष्ट्र में भेजे जाते थे। युधिष्ठिर और दुर्योधन के दूत यज्ञ में सम्मिलित होने का निमंत्रण लेकर विभिन्न राजाओं के पास गये थे।[७] कौरव-दूत बनवासी पाण्डवों के पास उनका संदेश लेकर गये थे और लौटकर उनका यथोक्त, किन्तु कटु, प्रत्युत्तर सुना दिया था।[८] इसी भाँति राम-दूत अंगद ने भी लंकापति से अपने स्वामी का यह संदेश सुनाया था—'सीता को लौटा दो अन्यथा जीवित न बचोगे'।[९] उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्टतः विदित होता है कि अपने आदेश का पालन करने के लिए दूत को दण्डित नहीं किया जाता था। द्रुपद भी अपने पुरोहित से कहते हैं—'कौरव राज्य में आपको कोई भय

---

१ नीतिसार, १३.३३.
२ उद्योग १.२३-२४.
३ उद्योग, ६.८-१५.
४ उद्योग, (गीता), १३५.३७
५ सभा, २८.४५-४९.
६ उद्योग (गीता), ७.१
७ सभा, ३०.३९-४०; आरण्य, २४२.६-१०.
८ आरण्य (गीता), २५६.६-१८.
९ आरण्य, २६७.५४; २६८.९; १५; १७.

नहीं है, क्योंकि आप दौत्य कर्म कर रहे हैं'।[1] इसी भाँति कृष्ण ने पाण्डवों को उलूक के साथ कठोर व्यवहार करने से रोका था, क्योंकि वह तो केवल दूसरे के कथन को ही दोहरा रहा था।[2] भीष्म के अनुसार आपद्काल में भी दूत की हत्या न करना चाहिये।[3]

दूत के व्यवहार और आचरण सम्बन्धी नियम भी विभिन्न ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। वह पर-राष्ट्र में वहाँ के शासक की आज्ञा प्राप्त करके ही प्रवेश करता था, और अपने स्वामी का अप्रिय संदेश भी निर्भय होकर कहता था। परन्तु मनु के अनुसार उसे अपने आप को विपत्ति में न डालना चाहिये।[4] महाभारत से भी ऐसा ही आभास मिलता है। श्रीकृष्ण जब कौरव सभा में गये तब दुर्योधन द्वारा भोजनार्थ निमंत्रित किये जाने पर उन्होंने उत्तर दिया था कि अपना प्रयोजन सिद्ध होने पर ही दूत भोजन-सम्मान स्वीकार करता है।[5]

इस ग्रन्थ में दूतों के कुछ वरिष्ठ उदाहरण प्राप्त होते हैं। सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भगवान कृष्ण का है, जिन्होंने पाण्डवों की ओर से दौत्य-कर्म किया था।[6] अन्य उदाहरण उलूक, संजय, तथा द्रुपदराज के पुरोहित के हैं।[7] आरण्य पर्व में राम-दूत अंगद तथा राजा नल के दौत्य कर्म का उल्लेख हैं।[8]

गुप्तचर

आधुनिक युग की भाँति महाभारत-काल में भी गुप्तचरों की समुचित व्यवस्था थी। वे स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र में नियुक्त किये जाते थे और वहां की जनता की गति-विधि का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करते थे। दूत की भाँति चर-व्यवस्था का सर्व प्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है[9] और वेदोत्तर काल में भी उसका महत्व अक्षुण्ण बना रहा। प्राचीन युग में, जब यातायात के साधन बहुत सीमित थे, राजाओं को चरों द्वारा प्रेषित समाचारों पर ही आश्रित रहना पड़ता था और इसी कारण वे 'चार-चक्षु'

---

१ उद्योग, ६.१६
२ उद्योग (गीता), १६२.३८.
३ शान्ति, ८६.२५-२६.
४ मनु, ७ ६८.
५ उद्योग, ८९ १८.
६ उद्योग, भगवद्यानपर्व.
७ उद्योग, १५८.१६१; २२ ३२, २०.२१.
८ आरण्य, २६७-२६८; ५२-५३.
९ ऋग्वेद, १.२४.१३; ६.४.३.

कहे गये हैं।[१]

महाभारत में गुप्त चरों के लिए चार, प्रणिधि तथा गूढ़चर शब्द प्रयुक्त हुये हैं।[२] भीष्म के अनुसार उनकी नियुक्ति स्वयं राजा को करना चाहिये, क्योंकि समस्त राष्ट्र उन्हीं पर प्रतिष्ठित रहता है।[३]

गुप्तचरों का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। अतएव इस विभाग में केवल चुने हुए व्यक्ति ही नियुक्त किये जाते थे। भीष्म के अनुसार जो व्यक्ति क्षुधा, प्यास और श्रम सहन करने की शक्ति रखते हों, और जिनकी सम्यक् परीक्षा ली जा चुकी हो, उन्हीं को प्रणिधि नियुक्त करना चाहिये।[४] धृतराष्ट्र का भी कथन है कि बहुविधि-परीक्षित, स्वराष्ट्र-निवासी, कार्य-कुशल, विश्वासपात्र तथा राजा के प्रति अनुरक्त व्यक्ति ही इस पद के योग्य हैं।[५]

कौटिल्य और कामन्दक ने गुप्तचरों के विभिन्न वर्गों का उल्लेख किया है जिसका आधार प्रधानतः उनके द्वारा गृहीत छद्म वेश हैं।[६] महाभारत से भी ऐसा ही आभास मिलता है। एक स्थल पर जड़, अन्ध, बधिर, और अन्यत्र तापस और पाषण्ड रूपधारी चरों का उल्लेख है।[७] रावण के गूढ़चर राम की सेना में बानर रूप धारण करके प्रविष्ट हुये थे।[८]

गुप्तचर स्वदेश में ही नहीं परराष्ट्र में भी नियुक्त किये जाते थे। एक प्रकार से देश भर में उनका जाल सा बिछा रहता था। ग्राम और दुर्ग सर्वत्र वे विद्यमान रहते थे, विशेषतः उन स्थानों में जहाँ अधिक लोग एकत्रित होते थे, यथा तीर्थ और आश्रमों में। उनका कार्य क्षेत्र उनके वेश के अनुरूप ही चुना जाता था। वे व्यापारी बन कर नगरों में, साधू-सन्यासी बनकर बन तथा आश्रम में, और कृषक वनकर ग्राम क्षेत्र में निवास करते थे।[९]

---

१ यथा नीतिसार, १३.३९.
२ शान्ति ५७.३९, ५८.५; उद्योग (गीता), ७.४.
३ शान्ति, ८७.२०.
४ शान्ति, ६९.८.
५ आश्रमवासिक (गीता), ५ १५; विराट (गीता), २६.८-११.
६ अर्थशास्त्र १.१२; १३; ४.४; नीतिसार, १३.२७; ४४-४८, इत्यादि।
७ शान्ति, ६९.८; १३८.४०.
८ आरण्य, २६७.५२-५३.
९ यथा नीतिसार, १३.१४; अर्थशास्त्र, १.१२.

भीष्म के अनुसार पुर, जनपद तथा सामन्त राज्यों में प्रणिधि नियुक्त करना चाहिये और उन्हें आपण, बिहार, समाज, भिक्षु-समुदाय, आराम, उद्यान, पंडितों की सभा, तथा धर्मशालाओं को अपना कार्य क्षेत्र बनाना चाहिये। उनको बिहार, प्रपा, धर्मशाला, दानागार, तीर्थ-स्थान, सभा, नगर के प्रवेश द्वार पर सतर्कता से अपना कार्य करना चाहिये।[1] कर्ण भी दुर्योधन को मंत्रणा देते हैं कि उनके गुप्तचर धन-धान्य सम्पन्न तथा जनाकीर्ण देशों में जाकर सुरम्य सभा, सन्यासियों के आश्रम, राजनगर, तीर्थादि स्थानों के वहाँ के निवासियों से विनयपूर्ण युक्ति से पूछ कर पाण्डवों की खोज करें।[2]

स्वराष्ट्र में गुप्तचरों के कार्य थे प्रजा की गतिविधि का अध्ययन, धर्माभिचारी, पापी, चोर आदि कंटकों का पता लगाना, पौर-संघात भेदन, तथा राजकीय कर्मचारियों पर दृष्टि रखना आदि।[3] भीष्म का आदेश है कि राजा गुप्तचरों द्वारा अपने प्रति जनता की भावनाओं का भी पता लगाता रहे।[4] इस प्रकार गुप्तचरों की सहायता से राजा को स्वराष्ट्र की सब बातें ज्ञात रहती थीं।[5] चरों का इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य पर-राष्ट्र में होता था। वे मित्र, शत्रु, मध्यम तथा उदासीन सभी राष्ट्रों में नियुक्त किये जाते थे, जहाँ वे राजा और प्रजा दोनों की भावनाओं का अध्ययन और उनकी गतिविधि का सूक्ष्म रूप से निरीक्षण करते थे। शान्ति पर्व में स्पष्ट आदेश है कि राजा को शत्रु, मित्र तथा उदासीन, राज्यों में गुप्तचरों की नियुक्ति करना चाहिये।[6] आरण्य पर्व में हनूमान भीम से कहते हैं कि शत्रु तथा मित्र राष्ट्रों की सैनिक स्थिति, वृद्धि और क्षय का अपने गुप्तचरों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना राजा का महान कर्तव्य है।[7]

युद्ध के अवसर पर गुप्तचरों का महत्व और भी बढ़ जाता था। उस समय वे केवल शत्रु-राष्ट्र के समाचार ही नहीं देते थे, वरन् शत्रु-पक्ष में भेद उत्पन्न करके अथवा अन्य प्रकार से उसको हानि पहुंचाने की भी चेष्टा करते थे। शत्रु-पक्ष-भेदन, अरि, मध्यस्थ तथा मित्र का अन्वेषण, शत्रु द्वारा-राज-पुरुषों में उपजाप का अनुसन्धान, शत्रु-देश के मार्ग का अन्वेषण, शत्रु-पक्ष का उपजाप एवं विष और औषधि का प्रयोग भी

---

१ शान्ति, ६९.१०-१२; (गीता), १४०.४१.
२ विराट (गीता), २६.८-१२.
३ शान्ति, ५८.५-१२; १३८.४२; सभा, ५.२७.
४ शान्ति, ९०.१५; आश्रमवासिक (गीता), ५.२६-२७.
५ शान्ति, १२०.२७, ३०; ८७.१९, २१.
६ शान्ति, ८७.२१.
७ आरण्य, १४९.४०.

चरों के कार्य थे।[१] नारद के अनुसार राजा को अपने चरों द्वारा शत्रु पक्ष के १८ तीर्थों का निरीक्षण एवं उन की गति-विधि पर दृष्टि रखना चाहिये।[२] ऐसा ही मत धृतराष्ट्र का भी है।

इस ग्रन्थ में शत्रु देश में गुप्तचरों की कार्यवाही के कुछ उदाहरण मिलते हैं। जयद्रथ ने अपने गुप्तचरों द्वारा ही अर्जुन की प्रतिज्ञा का समाचार सुना था।[३] विदुर के गुप्तचरों ने उन्हें पापासक्त पुरोचन की कुचेष्टाओ का समाचार दिया था।[४] रावण के दो गुप्तचर शुक और सारण, बानर-रूप धारण कर राम की सेना में अपना कार्य करते हुए पाये गये थे।[५] अज्ञातवास की अवस्था में दुर्योधन ने भी पाण्डवों का पता लगाने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की थी।[६] भीष्म ने राजकुमारी अम्बा की गतिविधि का पता लगाने के लिए प्राज्ञ पुरुषों की नियुक्ति की थी जो प्रतिदिन के समाचार उनको दिया करते थे।[७] स्वयं धृतराष्ट्र की सेना में युधिष्ठिर के चार-पुरुष विद्यमान थे, जो दुर्योधन और उसके मंत्री तथा सेनापतियों की मंत्रणा के समाचार अपने पक्ष तक पहुंचाया करते थे।[८]

गुप्तचरों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य था शत्रु के गुप्तचरों का पता लगाना, जो गुप्त रूप से उनके राज्य में नियुक्त किये जाते थे।[९] उद्योग पर्व से विदित होता है कि दुर्योधन अपने शिविर में आने वाले वणिक, गणिका एवम् अन्य व्यक्तियों की विधिवत जाँच कराते थे, क्योंकि शत्रुपक्षीय गुप्तचर ऐसे वेश में आ सकते थे। भीष्म का भी आदेश है कि राजा को शत्रु के गुप्तचरों का निरन्तर पता लगाते रहना चाहिये।

अर्थशास्त्र ओर नीतिसार की भाँति, महाभारत से भी गुप्तचरों की कार्यप्रणाली पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसका मूल आधार था गोपनीयता।[१०] शान्ति पर्व में उसी

---

१ शान्ति, ५८.५-१२; १०१.११-१२.
२ सभा, ५.२७.
३ द्रोण, ५२.१-३.
४ आदि (गीता), १४८.३-५.
५ आरण्य, २६७.४२.
६ विराट (गीता), २५.७-२२; २६.८-१२.
७ उद्योग, १८७-१२-१३.
८ उद्योग, १९५.२-३.
९ शान्ति, ६९.११-१२; १३८.३९.
१० आरण्य, १४९.४३

राजा को श्रेष्ठ माना गया है जिसके गुप्तचरों को शत्रु पहचान न सके ।[१] वे इस प्रकार कार्य करते थे कि स्वयं भी एक दूसरे को न पहचान सकें ।[२] भीष्म के अनुसार राजा को स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र में ऐसे ही गुप्तचर नियुक्त करना चाहिये, जिनको कोई पहचानता न हो ।[३] राज्य की ओर से उन्हें आवश्यक साधन प्रस्तुत किये जाते थे ।[४]

चरों की सूचना पर आवश्यक कार्यवाही की जाती थी । धर्माभिचारी, पापी, चोरादि लोक-कंटकों को चरों द्वारा पता लगाकर दण्डित किया जाता था ।[५] महेश्वर का स्पष्ट आदेश है कि राजा गुप्तचरों द्वारा शुभाशुभ समाचार प्राप्त कर आवश्यक कार्यवाही करे ।[६] दूत तो अबध्य था, परन्तु शत्रु के गुप्तचरों को बंदी बनाने और दण्ड देने का नियम था । आरण्य पर्व में उल्लिखित है कि रावण के गुप्तचर शुक और सारण बंदी बना लिये गये थे, परन्तु राम ने दया कर उन्हें मुक्त कर दिया था ।[७]

अन्य अधिकारी

महाभारत में कतिपय अन्य राजकर्मचारियों का उल्लेख मिलता है । इनमें सैन्य, स्थानीय और प्रादेशिक प्रसासन तथा न्याय-विभाग सम्बन्धित अधिकारियों का एवम् अन्तःपुर के सेवकों का विवरण हम अन्य अध्यायों में दे चुके हैं । उनके अतिरिक्त निम्नलिखित अधिकारियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है :

१—आय-व्यय आयुक्त : यह अर्थ विभाग के कर्मचारी थे, और प्रति दिन पूर्वान्ह में राजा के सम्मुख राजकीय आय-व्यय का लेखा प्रस्तुत करते थे ।[८]

२—कोष, कोष्ठ, वाहन, आयुध[९] तथा कृषि, पशु और वाणिज्य[१०] अधिकारी : यह भी अर्थ विभाग से सम्बन्धित थे ।

---

१ शान्ति, ५७.३९.
२ शान्ति, ६९.१०.
३ शान्ति. १३८.४०.
४ विराट (गीता), २६.१४.
५ शान्ति, ५९.१३१; ८७.१९; १३८.४२.
६ अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९४९.
७ आरण्य, २६७.५२-५३.
८ सभा, ५.६२.
९ सभा, ५.५७.
१० शान्ति, ८९.२३.

३—शुल्कोपजीवी : इनका कार्य शुल्क ग्रहण करना था। नारद राजा को आदेश देते हैं कि यह व्यपारियों से अनुचित शुल्क न ले।[१]

अर्थविभाग के कर्मचारियों के लिए विशेष गुण अपेक्षित थे।[२]

४—रक्षिभि : इनके कार्य वर्तमान पुलिस अधिकारियों के समान थे।[३]

५—गोविकर्ता : वह राजकीय पशुशाला का अधिकारी था। राजा विराट के यहां सहदेव की नियुक्ति इसी पद पर हुई थी।[४]

६—कोष और दान अध्यक्ष : उद्योग पर्व से विदित होता है कि बिदुरव कोष और दान विभाग के अधिकारी थे।[५]

७—गणक और लेखक : इनका उल्लेख सभा पर्व में मिलता है।[६]

---

१ सभा, ५.१०३
२ यथा शान्ति, ९४.१४-१५.
३ सभा, ५.९४-९५.
४ विराट (गीता), २.९.
५ उद्योग, १४८.९.
६ सभा, ५.६२.

१४
शासन व्यवस्था तथा नीति

प्रादेशिक प्रशासन

राज्य की आन्तरिक शासन-व्यवस्था पर महाभारत अपेक्षाकृत कम प्रकाश डालता है। इसके अध्ययन से ऐसा आभास मिलता है कि उस युग में देश अनेक राज्यों में विभाजित था, जो बहुत विस्तृत न थे। एक समय महाराज युधिष्ठिर केवल पांच ग्रामों का स्वतंत्र राज्य बना कर शासन करना चाहते थे।[१] राज्य के अर्थ में राष्ट्र, जनपद, और विषय शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।[२] साधारणतः राज्य के अन्तर्गत दो प्रकार के प्रदेश सम्मिलित रहते थे, (१) जो स्वयं राजा के आधिपत्य में थे और (२) जो सामन्त शासकों के अधीन थे।

प्रशासकीय इकाइयाँ

शासन की सुविधा के लिए राज्य को इकाइयों में विभाजित किया जाता था। एक स्थान पर ग्राम, पुर, राष्ट्र, और घोष का उल्लेख प्राप्त होता है; अन्यत्र नगर, ग्राम और प्रान्त का।[३] द्रोण पर्व में कहा गया है कि पृथु के शासनकाल में इस प्रकार का कोई विभाजन न था।[४] स्पष्टतः वह सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी थे। कालान्तर में जब पृथ्वी पर छोटे छोटे राज्य स्थापित हुए तभी इस प्रकार के विभाजन की आवश्यकता हुई। शान्ति पर्व के अनुसार शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम था। उसके ऊपर क्रमशः दस,

---

१ उद्योग, ३१.१८-२०.

२ सभा, ५.६६ (राष्ट्र); शान्ति, २९.२३ (जनपद); शान्ति, ८३.७ में विषय स्पष्टतः राज्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

३ शान्ति (गीता), ४९.३९; (क्रि०), ४९.३३ में राष्ट्र के स्थान पर पत्तन पाठ है; तथा सभा (गीता), ५.८२; (क्रि०) ५.७०-७१.

द्रोण (गीता), ६९ ८.

बीस, शत, तथा सहस्र ग्राम-समूहों की इकाइयाँ होती थीं।[१] सहस्र-ग्राम सबसे बड़ी इकाई थी। इसके आधार पर विश्वास किया जाता है कि महाभारत-कालीन राज्य बहुत विस्तृत न थे। परन्तु यह मत बहुत पुष्ट नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ में यह कहीं नहीं उल्लिखित है कि किसी राज्य में इस प्रकार की कितनी इकाइयाँ थीं। महाभारत की यह व्यवस्था मनुस्मृति के अनुरूप, परन्तु अर्थशास्त्र से सर्वथा भिन्न है।[२]

इन इकाइयों की शासन-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध था। ग्राम-शासन का प्रमुख अधिकारी ग्रामिक था। अपने ग्राम तथा उसके निवासियों की स्थिति, गति-विधि, और उनके गुण-दोष उमे अवगत रहते थे। अपने क्षेत्र की ज्ञातव्य बातों, विशेषतः कठिनाइयों, की सूचना वह अपने से श्रेष्ठ दस-ग्रामाधिकारी (दशप) को देता था। इसी प्रकार दशप विशंत्यधिप को, विशंत्यधिप शत-ग्रामपाल को और शत-ग्रामाध्यक्ष, सहस्र-ग्रामपति को अपने-अपने क्षेत्रों से सम्बन्धित आवश्यक सूचनायें देते थे, और उनके आदेशानुसार शासन करते थे। सहस्र-ग्रामाधिप राजा के आदेशानुसार कार्य करता रहा होगा।[३] यह सब प्रादेशिक अधिकारी सचिव के निर्देशन में कार्य करते थे (धर्मज्ञः सचिवः कश्चित्तत्प्रपश्येदतन्द्रितः)।[४]

यह अधिकारी स्थानीय कर ग्रहण करते थे, और अन्य कार्यों के अतिरिक्त अपने क्षेत्र की रक्षा का भार भी उन पर ही था।[५] इन अधिकारियों के वेतन के सम्बन्ध में हम अन्य अध्याय में लिख चुके हैं।[६] कुछ ग्राम सुस्फीत तथा जनसंकुल थे।[७]

ग्रामों के अनिरिक्त राज्य में कुछ बड़े और छोटे नगर (शाखा नगर)[८] भी थे। इन्द्रप्रस्थ, द्वारकापुरी आदि नगरों के वैभव का सविस्तार वर्णन महाभारत में प्राप्त होता है। नगरों का शासनाधिकारी सर्वार्थचिन्तक कहलाता था। वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों का स्वयं तथा गुप्तचरों द्वारा निरीक्षण करता था। उनके अन्याय

---

१ शान्ति, ८८.३-८.
२ दृष्टव्य, मनु, ७.११३-११५; अर्थशास्त्र, १.१.
३ शान्ति, ८८.३-८.
४ शान्ति, ८८.९.
५ शान्ति (गीता), ८७.९.
६ देखिये पृ० २३१
७ शान्ति, ८८.७.
८ शान्ति, ८८.८.

से प्रजा की रक्षा करना भी उसका कर्तव्य था।[1] भीष्म के अनुसार राजा को स्वयं पुर-शासन का निरीक्षण करना चाहिये (पुरदर्शनम्)।[2] नगर एवम् ग्राम दोनों की रक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाता था।[3]

सामन्त राज्य

सामन्त राज्यों की शासन-व्यवस्था भी उपर्युक्त प्रकार की ही रही होगी। महाभारत साम्राज्यवाद का समर्थक है। प्रत्येक राजा सम्राट पद प्राप्त करने का इच्छुक था। राजसूय और अश्वमेध आदि यज्ञ भी इसी अभिप्राय से किये जाते थे। परन्तु इस साम्राज्यवाद का ध्येय अन्य राज्यों के अस्तित्व को समाप्त करना न था। विजयी सम्राट की प्रभुता मात्र स्वीकार कर लेना पर्याप्त था। अधीनस्थ राजा सामन्त रूप से अपने-अपने राज्यों में पूर्ववत शासन करते रहते थे।

सामन्त शासकों की उपाधि राजन् थी और उनके स्वामी की सम्राट। सभा पर्व के निम्नोक्त वाक्य का यही अभिप्राय है:

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दोहि कृत्स्नभाक ॥

महाभारत के अनुसार सम्राट और सामन्त का सम्बन्ध तीन प्रकार से स्थापित होता था :

१ दिग्विजय के परिणाम स्वरूप : पाण्डु, युधिष्ठिर, दुर्योधन आदि की दिग्विजय-यात्रा में अनेक राजाओं ने उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था।[4]

२ यदा-कदा क्षीण-शक्ति राजा स्वेच्छया किसी शक्ति-सम्पन्न राजा की अधीनता स्वीकार कर लेते थे। इसका प्रमाण हमें सभा पर्व में प्राप्त होता है, जिसमें उल्लिखित है कि कई राजाओं ने जरासन्ध की प्रभुता स्वीकार कर ली थी (पश्यमाने यशोदीप्तं जरासंधमुपाश्रितः)।[5]

३ इसी प्रकार कभी-कभी राजा स्वयं प्रसन्न होकर किसी को सामन्तपद प्रदान

---

१ शान्ति, ८८.१०-१३.
२ शान्ति (गीता), ५८.११; (क्रि०) पाठान्तर 'परदर्शनात्'।
३ सभा, ५.७१; शान्ति, ५८.९.
४ आदि, १०५.७-२१; सभा, २३.२९, इत्यादि.
५ सभा, १३.७-२३.

कर देते थे। उदाहरणार्थ, दुर्योधन ने कर्ण को अंग का राजा नियुक्त किया था।[१] इस नीति के परिणामस्वरूप देश में सामन्त राजाओं का बाहुल्य हो गया, जो स्वयम्वर और यज्ञ आदि के अवसरों पर निरन्तर उपस्थित पाये जाते हैं।[२]

सामन्त शासकों को अपने राज्य के आन्तरिक शासन में पूर्ण स्वतंत्रता थी, परन्तु उन्हें सम्राट को निर्धारित कर तथा विशिष्ट अवसरों पर उपहार और भेंट देना पड़ता था, जिसके उदाहरण महाभारत में अनेकशः प्राप्त होते हैं।[३] विशेष अवसरों पर उनको सम्राट की सेवा में उपस्थित भी होना पड़ता था। युधिष्ठिर के अभिषेक के अवसर पर हम सामन्त राजाओं को अनेक प्रकार के कार्यों में व्यस्त पाते हैं।[४] आवश्यकता पड़ने पर वह अपने अधिराट को सैनिक सहायता भी देते थे। यदा-कदा हम उन्हें सम्राट की सेवा में उच्चपदों पर नियुक्त भी देखते हैं।[५] धृतराष्ट्र के अनुसार वृद्धि के इच्छुक नरेश को सामन्त का बध कदापि न करना चाहिये।[६] साधारतया सम्राट और सामन्त के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण होते थे, परन्तु यदा-कदा इसके विपरीत साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं। आश्वमेधिक पर्व में राजा सुवर्चा का वृतान्त है जब वह कोष-वाहन-क्षीण हो गये तब सामन्त राजाओं ने उन पर आक्रमण कर दिया था।[७]

स्वायत्त शासन

महाभारत से यह भी विदित होता है कि राजतंत्र के भीतर जनतंत्रीय सिद्धान्त विद्यमान थे। आदि पर्व में ग्राम-मुख्य का उल्लेख मिलता है, जो संभवतः ग्राम जनता का प्रतिनिधि था। सभा पर्व में ग्राम पंचायतों का उल्लेख है।[८] इसी प्रकार निगम और उनके प्रधानों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। संभवतः यह नगर में प्रचलित स्वायत्त शासन से सम्बन्धित थे।

---

१ आदि (गीता), १३५.३६-३८.
२ यथा, सभा (गीता), ४५; ५३; आदि, १७७; आरण्य, ५१-५४; ६८-६९.
३ यथा, आदि, १०५.
४ सभा (गीता), ५३.
५ यथा, सभा (गीता), १३.९.
६ आश्वमेधिक (गीता), ४.१२-१३.
७ आश्रमवासिक (गीता), ५.१६-१७.
८ सभा, ५.७० : कच्चिच्छुचिकृतः प्राज्ञाः पंच पंच स्वनुष्ठिताः।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥
उपर्युक्त कथन से यह नहीं स्पष्ट होता है कि यह पंच राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे अथवा जनता द्वारा निर्वाचित।

स्वायत्त-शासन केवल ग्राम-क्षेत्र तक ही सीमित न था। श्रेणी जैसी स्वशासित और सहकारिता पर आधारित अन्य संस्थायें भी विद्यमान थीं। इनके अपने अपने नियम और कानून होते थे, जिनको राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त थी। श्रेणी-मुख्य का समाज में बहुत उच्च स्थान था।[१]

श्रेणी की ही भांति जाति, देश, तथा कुल धर्म को भी मान्यता प्राप्त थी।[२] केकय-राज की गर्वोक्ति है कि वह इन धर्मों का यथा-विधि पालन करते थे।[३] यह नियम भी प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण की तथा स्वायत्त शासन की नीति पर प्रकाश डालते हैं।

शासन-नीति

प्रशासकीय व्यवस्था के अतिरिक्त महाभारत में कतिपय शासन-नीति निर्देशक तत्व भी प्राप्त होते हैं। यहाँ पर उनका वर्णन समीचीन प्रतीत होता है।

शासन में धर्म का स्थान

जिस सिद्धान्त को प्राथमिकता और महत्व प्रदान किया गया है वह है धर्मानुसार शासन करना। शासन-व्यवस्था में धर्म का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था। उसे राज्य और राजत्व का मूल माना गया है।[४] उतथ्य के अनुसार राजा वही है जो धर्म को धारण करे (यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते), और धर्मपूर्वक प्रजा का शासन करे।[५] वस्तुतः राजा की सृष्टि ही धर्मरक्षार्थ हुई थी —धर्माय राजा भवति।[६] अतः महाभारत में अनेकशः और अनेक आचार्यों द्वारा राजा को धर्मानुसार शासन करने का आदेश दिया गया है।[७] ऐसा करने से उसे उत्तम फल तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[८] धर्म की अवहेलना करने से राजा और राष्ट्र दोनों ही विपत्ति-ग्रस्त होते हैं। उतथ्य तो यहाँ तक कहते हैं कि जब राजा धर्म की ओर से प्रमाद करता है तब वर्णसंकरता के परिणामस्वरूप उत्तम

---

१ आरण्य, २१८.१५.
२ शान्ति, ५९.७१; ६६.२३, इत्यादि.
३ शान्ति, ७८.१९.
४ आरण्य, ४.४.
५ शान्ति, ९१.१२; १७.
६ शान्ति, ९१.३.
७ यथा, शान्ति, ५७.१५; ९१.१८; ९४.२३-२८.
८ अनुशासन (गीता), १४१.४८; आश्रमवासिक (गीता), ७.१९; २३.

कुलों में कुत्सित सन्तान का जन्म होने लगता है। पाप कर्म में वृद्धि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आधि-व्याधि और दैवी उत्पात ही नहीं, ऋतुओं के स्वभाव में भी परिवर्तन हो जाता है।[१] इसी प्रकार धर्म की अवहेलना के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न दुष्परिणाम अन्यत्र भी उल्लिखित हैं।[२]

धर्म शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। इसमें सामान्य धर्म, वर्णाश्रम धर्म, स्वधर्म, एवम् देश, जाति, कुल धर्म आदि सभी समाविष्ट हैं। परन्तु आपत्ति काल के लिए दूसरे ही नियम निर्धारित किये गये हैं,[३] क्योंकि उस समय सामान्य नियमों के पालन से सफलता नहीं प्राप्त हो सकती है। विषम परिस्थिति में सामान्य धर्म और स्वधर्म स्वतः आपद् धर्म में परिणत हो जाते हैं। युधिष्ठर यथेष्ठ ही कहते हैं कि देश-काल की परिस्थितिवश धर्म अधर्म हो जाता है, और अधर्म धर्म।[४] एतदर्थ, महाभारत देशकालानुसार ही शासन नीति निर्धारित करने का आदेश देता है। इस सिद्धान्त का प्रभाव हम राज्य की कर-व्यवस्था, परराष्ट्र-नीति एवम् युद्ध-नीति पर स्पष्ट देखते हैं, जिसका विवरण तत्सम्बन्धी अध्यायों में किया जा चुका है।

शासन-तंत्र में धर्म को प्रदत्त प्रमुखता ही ब्राह्मणों की महत्ता और प्रमुखता का कारण थी। वे धर्मधर माने जाते थे।[५] क्षत्रिय की उत्पत्ति भी ब्राह्मणों से ही मानी गयी है, और यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उनसे विरोध करके क्षत्रिय शक्ति-क्षीण हो जाता है।[६] ब्राह्मण-विरोधी नीति के दुष्परिणाम महाभारत में सविस्तार वर्णन किये गये हैं।[७] ब्राह्मणों को कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त थे, जिनका उल्लेख हम कर और न्याय-व्यवस्था के प्रसंग में कर चुके हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा अनुचित होगा कि यह ग्रन्थ पुरोहित-तंत्र का समर्थक है। ब्राह्मणों को शासनाधिकार

---

१ शान्ति, ९१.३०-३५.
२ यथा, शान्ति, ९१ ८-१०; ९२.९-१०; ९४.१-४.
३ यथा, शान्ति, १२८.१३ : अन्यो धर्मः समर्थानामापत्स्वन्यश्च भारत।
　　२६०.४ (गीता): अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः॥;
　उद्योग, २८.२ इत्यादि।
४ शान्ति, ७८.३२ : भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मवुभावपि।
　　कारणाद् देशकालस्य देशकालः सतादृशः॥
५ शान्ति, १२१.३५ : सत्ये व्यवस्थितो धर्मो ब्राह्मणेष्ववतिष्ठते।
६ शान्ति, ५६.२४-२५; ७८.२२-२४; १६५.१८-१९; उद्योग, १५ ३२, इत्यादि।
७ शान्ति, ७३.

नहीं, केवल राजा को मंत्रणा देने का अधिकार प्राप्त था। वस्तुतः मनु की भांति महाभारत भी ब्राह्मण और क्षात्र-शक्ति के समन्वय और सहयोग का समर्थक है।[1] साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि विशेपाधिकार के उपयुक्त सब नहीं केवल स्वधर्मपालक ब्राह्मण ही माने गये हैं।

शासन सम्बन्धी कार्य भली भांति बिचार कर ही करना चाहिये।[2] शीघ्रता करने से हानि हो सकती है। परन्तु निश्चित कार्य के करने में बिलम्ब अनुचित माना गया है।[3] एक बार आरम्भ किये हुए कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ना चाहिये। इस प्रसंग में भीष्म का निम्नोक्त कथन बहुत ही सारगर्भित है :

आरब्धान्येव कार्याणि न पर्यवसितानि च।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ते स राजा राजसत्तमः ॥[4]

आचार्य कणिक भी इसी मत के समर्थक हैं। उनके अनुसार जैसे शरीर में चुभा हुआ काँटा टूट कर कष्ट देता है उसी प्रकार अपूर्ण कार्य भी कष्टकारी सिद्ध होता है।[5]

अन्य सिद्धान्त जिसे महाभारत में बहुत महत्व दिया गया है वह है मन्त्र एवं कार्य की गोपनीयता। भीष्म ने इस सिद्धान्त को अनेकशः प्रतिपादित किया है।[6] उनका कथन है :

चारस्य मन्त्रश्च नित्यं चैव कृताकृते।
न ज्ञायते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥

नारद के अनुसार भी कार्य सिद्ध होने पर ही उसे अन्य व्यक्ति जान सकें, उससे पूर्व कदापि नहीं। आचार्य कणिक भी कहते हैं कि मित्र अथवा शत्रु किसी को भी यह ज्ञात न होना चाहिये कि शासक कब और क्या करना चाहता है। कार्य की समाप्ति पर ही उन्हें इसका ज्ञान होना चाहिये।[7] इसी प्रकार इस पर भी बहुत बल दिया गया है कि

---

१ शान्ति, ७३-७४.
२ आदि (गीता), १३९.८८ ; उद्योग, ३८.७-९ ; १९-२०.
३ सभा, ५.९७.
४ शान्ति, ५७.३२.
५ शान्ति, १३८.६० ; आदि (गीता), १३९.९.
६ शान्ति, ५६.२० ; ५७.१३-१४ ; ५८ ; १९.२० ; सभा, ५.२२.
७ आदि (गीता), १३९.८१.

शासन-छिद्र नितान्त गुप्त रहें। उनका भेद किसी को भी न मिलना चाहिये[१]

शासन की सफलता हेतु शासक को सदैव कर्तव्यशील होना चाहिये। भीष्म प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार उत्थान ही राज-धर्म का मूल है।[२] व्यास जी तो यहां तक कहते हैं कि सम्यक् पुरुषार्थ यदि निष्फल भी हो तो उसके लिये शासक को दोष न देना चाहिये।[३]

एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त जिसका महाभारत में प्रतिपादन किया गया है, वह है अविश्वास की नीति। यद्यपि एक स्थान पर भीष्म सर्वातिशंकी राजा की सराहना नहीं करते (सर्वातिशंकी नृपतिर्यश्च सर्व हरो भवेत्),[४] परन्तु अन्यत्र वह राजा को सबसे सशंक रहने का ही आदेश देते हैं। वह स्पष्ट कहते हैं: 'न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत्'।[५] परन्तु एक अन्य स्थल पर वह विश्वास-अविश्वास नीति की विवेचना करके मध्यम मार्ग प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार किसी पर किया हुआ अत्यन्त विश्वास धर्म-अर्थ का नाशक ही नहीं वरन् अकाल मृत्यु के समान है, परन्तु सर्वत्र अविश्वास भी हानिकारक है। अतः राजा को कुछ आप्त व्यक्तियों पर विश्वास करते हुए भी उनसे सशंक ही रहना चाहिये। 'यही सनातन नीति है'।[६] इसी प्रकार आचार्य कणिक का आदेश है कि अविश्वस्त जन पर कभी नहीं, और विश्वस्त जन पर भी अधिक विश्वास न करना चाहिये।[७]

शासन नीति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण आधार था समदर्शित्व तथा समस्त प्रजा के साथ समान व्यवहार[८]। प्रिय से प्रिय व्यक्ति को भी अपराध करने पर दंड देना

---

१ आदि (गीता), १३९.६-८; शान्ति, १३८.७; २४ इत्यादि.
२ शान्ति, ५६.१४-१५.
३ शान्ति २५.१४, २०-२१:

सुमन्त्रिते सुनीते च विधिवच्चोपपादिते।
पौरुषे कर्मणि कृते नास्त्यधर्मो युधिष्ठिर ॥२०
विपद्यन्ते समारम्भाः सिद्यन्त्यपि च दैवतः।
कृते पुरुषकारे तु नैनः स्पृशति पार्थिवम् ॥२१

४ शान्ति, ५७.२७.
५ शान्ति, ५७.१६.
६ शान्ति, ८१.१०-१२.
७ आदि (गीता), १३९.६२.
८ शान्ति, ९२.४०.

चाहिये ।[१] महाभारत दुर्बल प्राणियों के सताने का सर्वथा विरोधी है। उतथ्य मान्धाता को आदेश देते हैं : 'मा स्म दुर्बलमासदः' । वह दुर्बल को पीड़ित करने का दुष्परिणाम भी व्यक्त करते हैं ।[२]

अन्त में हम शासन के ध्येय पर विचार करेंगे । आचार्य कणिक के अनुसार शासन का निम्नांकित उद्देश्य होना चाहिये :

अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्धते ।
वर्धितं पालयेत्केन पालितं प्रणयेत्कथम् ।।[३]

परन्तु ऋषि बामदेव का आदेश है कि दुर्बल-मूल राजा को अलब्ध-लिप्सा न करना चाहिये (न चाप्यलब्धं लिप्सेत मूले नातिदृढे सति) । अतः राज्य को दृढ़-मूल बनाना शासन का प्रथम ध्येय होना चाहिये । वह उसी शासक को दृढ़-मूल मानते हैं जिसका देश सम्पन्न और समृद्धिशाली तथा प्रजा धन-धान्यवान् एवम् राजा में अनुरक्त हो ।[४]

अन्यत्र शासन का मुख्य ध्येय प्रजा का योगक्षेम बतलाया गया है । चतुर्थ अध्याय में हम राज्य के कार्यों की विवेचना कर चुके हैं । उनके सम्यक् अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाभारत जिस राज्य की कल्पना करता है वह न 'पुलिस राज्य' हैं और न 'अल्पाति-अल्प-अधिकार सम्पन्न' । उसका अधिकार और कर्तव्य क्षेत्र बहुत व्यापक है । प्रजारक्षण, प्रजापालन, प्रजारंजन, वर्णाश्रम, सामान्य तथा गार्हस्थ्य धर्म का परिपालन, एवम् प्रजा की भौतिक उन्नति[५] ही नहीं, वरन् उसको विनयशील बनाना, अधर्म और पापमार्ग से निवृत्त करना तथा उसके चरित्र-दोष दूर करना भी शासक के कर्तव्य थे ।[६] सारांशतः महाभारत लोकहित तथा प्रजा के योग-क्षेम में रत

---

१ शान्ति, ९२.३१ ; १३८.४७-४८, इत्यादि ।
२ शान्ति, ९२.११-२१.
३ शान्ति, १३८.५.
४ शान्ति, ९५.२-५.
५ राज्य में भिक्षुकों का अस्तित्व गर्हित माना गया है, शान्ति, ७०.२०; ९२.२२.
६ अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९४८ ; शान्ति (क्रि०), ९१.८-१० ; (गीता), ९०.८-१३; शान्ति, ९२.५; २६.

राज्य का समर्थक है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अनेकशः किया गया है।[1] अनुशासन पर्व में भीष्म कहते है कि राजा के शुभ कर्मों से ही प्रजा का योगक्षेम संभव होता है। नास्तिक, धर्मविरुद्ध दुराचारी राज्य के राज्य में योगक्षेम का सदा अभाव रहता है।[2] वामदेव का भी आदेश है कि जिस कार्य को आर्य-जन निन्दित मानते हों वह न करना चाहिये। जो कार्य सबके लिये कल्याणकारी हो वही करना चाहिये।[3]

अशोक की भाँति महाभारत का भी सिद्धान्त है कि राजा को प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये। राज्य का सम्बन्ध प्रजा के इहलौकिक जीवन मात्र से न था, वरन् उसका ध्येय ऐसी परिस्थिति का निर्माण करना था जिससे प्रजा परलोक में भी सुख और शान्ति का अनुभव कर सके। दूसरे शब्दों में शासन का ध्येय था—राजा और प्रजा दोनों ही के लिए त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ, तथा काम—की प्राप्ति, जो चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करे। भारतीय राज्य का यही सनातत आदर्श रहा है। महाभारत भी इसका अपवाद नहीं है। शान्ति पर्व में व्यास के एक वाक्य से यह आभास मिलता है कि अशोक की ही भाँति महाभारत भी राजा को सुशासन द्वारा प्रजा-ऋण से मुक्त होने का आदेश देता है।[4]

शासन के उपर्युक्त समस्त आदर्श और सिद्धान्तों का क्रियात्मक रूप हमें महाराज युधिष्ठिर की शासन-व्यवस्था में दृष्टिगोचर होता है, जिसका विस्तृत विवरण सभा

---

१ शान्ति, ७०.९; ९१.३२; अनुशासन (गीता), १४५, पृ० ५९४९. अधार्मिक शासन से प्रजा का योगक्षेम विनष्ट होता है, शाति, ७०.२२.

२ अनुशासन, ६१.३८-४०.

३ शान्ति, ९५.१०.

यदार्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद्बुधः।
यत्कल्याणमभिध्यायेत्तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥

तथा. अनुशासन (गीता), १४५. पृ० ५९४९ : कुर्याद लोक हितं...... ।

४ शान्ति (गीता), २४.६ :

अर्थिनां च पितृणां च देवतानां च भारत।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय तत् सर्वं च करिष्यसि ॥

(क्रि० २४.६ में अर्थिनां के स्थान पर अतिथीनां पाठ है)।

तथा आश्वमेधिक पर्वों में प्राप्त होता है ।[1] इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कतिपय अन्य राजाओं के आदर्श शासन का भी उल्लेख है, जिनमें केकयराज, हयग्रीव, शशिबिन्दु, पृथु, चेदिराज उपरिचर, शान्तनु और राम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।[2]

---

१ सभा, ३०.१-८; आश्वमेधिक (गीता), १४, पृ० ६१२९-६१३१.

२ शान्ति, ७८; २५.२२-३३; द्रोण (गीता), ६५.११; ६९.३-८; आदि, ५७.८-१२; ९४.१३-१७ द्रोण (गीता), ५९ (क्रमशः).

१५
गण तथा संघ राज्य

आधुनिक इतिहासकार, विशेषतः पाश्चात्य विद्वान, कभी-कभी भ्रामक धारणा बना लेते हैं कि प्राचीन भारत में केवल राजतंत्रात्मक राज्य का ही अस्तित्व था। परन्तु हमारे साहित्य, अभिलेख और सिक्कों से ऐसे राज्यों का अस्तित्व भी प्रमाणित होता है, जो राजाओं द्वारा शासित न थे। बौद्ध ग्रन्थ अवदानशतक दो प्रकार के राज्यों का परिचय देता है—राजाधीन तथा गणाधीन।[1] इसके अनुसार गण-व्यवस्था नृपतंत्र से सर्वथा भिन्न थी। इसी प्रकार जैन ग्रन्थ आचारांगसूत्र में अनेक प्रकार के राज्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। यह राज्य इस प्रकार वर्णित हैं: 'अरायणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा'।[2] इस ग्रन्थ में वर्णित अन्य प्रकार के राज्यों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है, परन्तु अवदानशतक की भाँति इसमें भी गण राज्य का उल्लेख है। बुद्ध और पाणिनि युग से लेकर गुप्तकाल तक उनका इतिहास हमारे साहित्य, अभिलेखों और सिक्कों में सुरक्षित है। महाभारत भी इस दीर्घकालीन इतिहास के जानने में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ी प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस ग्रन्थ का विषय कुरु एवम् अन्य नृपतंत्रात्मक राज्यों का इतिहास है, परन्तु इसमें गण राज्यों की अवहेलना नहीं की गयी है। समसामयिक गण राज्यों के वर्णन के अतिरिक्त शान्ति पर्व में नारद[3] व भीष्म[4] द्वारा उनके संगठन और संविधान पर भी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

अवदानशतक की भाँति महाभारत में भी दो प्रकार के राज्यों का उल्लेख किया गया है। अर्जुन ने युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर सब राजाओं को (सर्वान्

---

१ अवदानशतक, खण्ड २, पृ० १०३—'देव केचिद्देशागणाधीनाः केचिद्राजाधीनाः'।
२ आचारांग सूत्र, १.३-१६०.
३ शान्ति, ८२.
४ शान्ति, १०८.

पार्थिवान्) और महान गण-राज्यों (महतो गणान्) को परास्त किया था।[1] स्पष्टतः यह गण-राज्य नृपतंत्र से भिन्न थे।

महाभारत में गण के अतिरिक्त संघ शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। पाणिनि के अनुसार यह दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।[2] पाली साहित्य से भी ऐसा ही ज्ञात होता है। उसमें एक ही राज्य को कभी गण कहा गया है तो कभी संघ।[3] परन्तु महाभारत में यह दोनों शब्द पृथक-पृथक अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं—गण शब्द जनतंत्रात्मक राज्य के अर्थ में, और संघ शब्द गण राज्यों के 'फेडरेशन' के अर्थ में।

महाभारत में उस युग के गण और संघ राज्यों का उल्लेख है। सभा पर्व में उन गण राज्यों के नाम मिलते हैं जिनको पाण्डवों ने दिग्विजय के प्रसंग में जीता था। महाराज युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया तब उनके चारों अनुजों ने एक एक दिशा की विजय हेतु प्रस्थान किया। अर्जुन उत्तर की ओर गये, जहाँ उन्हें कई गण-राज्यों से युद्ध करना पड़ा था। उनको विजित करके उन्होंने युधिष्ठिर का कर-दायी बनाया था। यह राज्य निम्नलिखित थे :

१—**सप्त उत्सव-संकेतगण राज्य** : संभवतः यह अनार्य राज्य थे। इनको पर्वत-वासिनः कहा गया है। स्पष्टतः उनकी स्थिति उत्तर-पश्चिम में कहीं रही होगी।[4]

२—**काश्मीर** : महाभारत में काश्मीर के किसी राजा का नाम नहीं उल्लिखित है, जैसा राजतंत्रात्मक राज्यों के सम्बन्ध में प्रायः देखा जाता है। यहां केवल यही कहा गया है कि अर्जुन ने काश्मीर के बीर क्षत्रियों को पराजित किया था।[5] संभवतः उस समय काश्मीर में भी गणतंत्रात्मक राज्य था।

३—**दस गणतंत्रात्मक राज्य** : तत्पश्चात् अर्जुन ने दस राज्यों के संघ को पराजित किया, जिसका प्रधान लोहित था।[6] लोहित को यहाँ पर राजा की उपाधि से नहीं सम्बोधित किया गया है। संभवतः यह राज्य भी गणतंत्रात्मक थे।

४—**त्रिगर्त, दार्व, कोकनद** : इन राज्यों के क्षत्रियों को भी अर्जुन ने वश में किया

---

१ आदि, १. ८४, (गीता, १.१२९).
२ अष्टाध्यायी, ३. ३.८६ (संघोद्घौ गण प्रशंसयोः).
३ मज्झिम निकाय, १. ४. ५. ३५.
४ सभा, २४. १५.
५ सभा, २४. १६ (काश्मीरकान्वीरान्क्षत्रियान्)।
६ सभा, २४. १६ (व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह)।

था। इस प्रसंग में भी किसी राजा का नाम नहीं लिया गया है।[1] अतः इन राज्यों को भी हम गण राज्यों के अन्तर्गत परिगणित कर सकते हैं। इनके पश्चात् अर्जुन ने अभिसारी, उरगा, और सिंहपुर को विजित किया। उस समय उरगा का प्रधान रोचमान था, और सिंहपुर का चित्रायुध। महाभारत में इन्हें भी राजा की पदवी नहीं दी गयी है।[2] सुह्म, चोल, बाह्लीक, काम्बोज, परम-काम्बोज, दरद, लोह, ऋषिक, भी गण राज्य थे जो अर्जुन के मार्ग में पड़ते थे। इन्हें भी अर्जुन ने पराजित किया था[3]

नकुल ने पश्चिम दिशा में स्थित कतिपय गण राज्यों को पराजित किया था। इनमें मरु और बहुधान्यक प्रदेश में स्थित मत्तमयूरक (यौधेय), अम्बष्ठ, मालव, पंचकर्पट, दशार्ण, शिवि, त्रिगर्त, मध्यमिका, वाटधान, पुष्करारण्यवासी, उत्सव-संकेत गण, सिन्धुकूलाश्रिता ग्रामणीय, सरस्वती-तटवासी शूद्र और आभीर एवम् पर्वतवासी मत्स्य का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि महाभारत.काल में भारत के उत्तरी और पश्चिमी भागों में कई गण राज्य विद्यमान थे।

आरण्य पर्व में कर्ण की दिग्विजय का विवरण प्राप्त होता है। उन्होंने भी पश्चिम दिशा में कुछ गण राज्यों को पराजित किया था। यह राज्य मद्र, रोहितक, आग्रेय, मालव, शशक, यवन आदि थे।[5] इससे भी यही प्रमाणित होता है कि उत्तर पश्चिमी भारत में उस समय छोटे-छोटे स्वतंत्र गण राज्य थे। युधिष्ठिर के राजसूय के अवसर पर शिवि, त्रिगर्त, यौधेय, मद्र, काश्मीर, केकय, अम्बष्ठ, शूद्रक-मालव आदि के 'क्षत्रिय' उपस्थित थे।[6] अन्य साधनों से विदित होता है कि यह गण-राज्य थे। इसी प्रकार भीष्म पर्व में जहाँ भारत के जनपदों का वर्णन किया गया है, मल्ल, विदेह, वाटधान, बालिक, आभीर, भर्ग, कुलिन्द (कुणिन्द ?) मालव, कुकुर, काक, त्रिगर्त, शूद्र का उल्लेख प्राप्त होता है, जो निस्सन्देह गण-राज्य थे।[7]

भीष्म पर्व में अन्यत्र कुछ ऐसे भू-भागों का उल्लेख मिलता है जहाँ राजा न था। वहाँ के निवासियों का आचरण धर्म पर ही आश्रित था। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे

---

१ सभा, २४. १७ (त्रिगर्तान्···दार्वान्कोकनदाश्च ये क्षत्रिया बहवो)।
२ सभा, २४. १८-१९.
३ सभा, २४. २०-२५.
४ सभा, २९. ५-९.
५ आरण्य, (गीता), २५४. १९-२०.
६ सभा (गीता), ५२. १३-१७.
७ भीष्म, १०. ३७-३८.

के अधिकार की रक्षा करता था। ये भू-भाग मग, मशक, मानस और मन्दग के नाम से वर्णित किये गये हैं। इनमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बसे हुए थे।[1] यह चारों राज्य स्पष्टतः कल्पित हैं, परन्तु इनसे महाभारत-काल में जनतंत्रात्मक राज्यों का अस्तित्व अवश्य प्रमाणित होता है। इस ग्रन्थ में अन्धक-वृष्णि राज्य का इतिहास कुछ विस्तार से वर्णित है। यह अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर, भोज नामक पाँच गण राज्यों का संघ था, जिसने कृष्ण के नेतृत्व में समसामयिक राजनीति में सक्रिय और महत्वपूर्ण भाग लिया था।[2]

महाभारत में उल्लिखित गण राज्यों में से कुछ का विवरण अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। पाणिनि ने त्रिगर्तषष्ठ का और कौटिल्य ने मद्रक, कुकुर, काम्बोज आदि का उल्लेख किया है। इसी भाँति यूनानी लेखकों के वृत्तान्त में क्षूद्रक, मालव, शिवि तथा पाली साहित्य में मल्ल, भर्ग आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें से कतिपय राज्यों के सिक्के और अभिलेख विद्यमान हैं।

दुर्भाग्यवश महाभारत से गण राज्यों के संविधान पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री के आधार पर एक क्षीण रुप रेखा ही प्रस्तुत की जा सकती है। प्रजातंत्र की एक परिभाषा है: 'गवर्नमेन्ट आफ मेनी'। महाभारत से भी ऐसा ही आभास मिलता है। भीष्म ने गणराज्य के शासन-सूत्र को संचालित करने वालों की बृहत संख्या 'बहून' का उल्लेख किया है।[3] इन राज्यों के नागरिकों के अधिकार समान होते थे—'जात्याचसदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा'।[4] परन्तु 'ज्ञानबृद्धों' को विशेष स्थान प्राप्त था।[5] नृपतंत्र की भाँति उसमें एक व्यक्ति का शासन न था, और न था बंशानुगत राजा। गणराज्य का प्रमुख शासक 'प्रधान' होता था। उसकी नियुक्ति किस प्रकार की जाती थी, अथवा उसमें कौन से गुण अपेक्षित थे यह अज्ञात है। अर्जुन और नकुल की उत्तर-पश्चिम विजय के प्रसंग में जिन गण राज्यों का उल्लेख मिलता है उनमें से कुछ के अध्यक्षों के नाम भी उल्लिखित हैं। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, उनके नामों के साथ किसी उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया

---

१ भीष्म, १२.३२-३९.

न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न च दण्डिकाः।
स्वधर्मेणैव धर्मं च ते रक्षन्ति परस्परम्॥ ३६॥

२ सभा, १३; शान्ति, ८२. २९.

३ शान्ति, १०८. ८.

४ शान्ति, १०८. ३०.

५ शान्ति, १०८. १६.

है, परन्तु उग्रसेन को वृष्णि और आहुक को अन्धक-वृष्णियों का 'राजा' कह कर सम्बोधित किया गया है।[1] शान्ति पर्व से विदित होता है कि बभ्रु और उग्रसेन दोनों एक ही राज्य की अध्यक्षता के लिये प्रयत्नशील थे। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि गण राज्यो में अध्यक्ष निर्वाचित होता था और उसको राजा की उपाधि दी जाती थी। परन्तु यह पदवी नृपतंत्रात्मक राज्यों के शासक की पदवी से सर्वथा भिन्न थी। यह पद बंशानुगत न था। यद्यपि कृष्ण अन्धक-वृष्णि संघ के 'राजा' थे, परन्तु शिशुपाल उनके 'राजत्व' को नहीं स्वीकार करता है। वह युधिष्ठर से प्रश्न करता है :

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ।।

किमन्यदवमानाद्धि यदिमं राजसंसदि ।
अप्राप्त लक्षणं कृष्णमर्घ्येणार्चितवानसि ।।

अराज्ञो राजवत्पूजा तथा ते मधुसूदन ।।[2]

ऐसी ही स्थिति हम पाली बौद्ध साहित्य में भी पाते हैं। शाक्य, लिच्छवी आदि गण राज्यों के प्रधान को भी राजा कहा जाता था। भीष्म के अनुसार चर और मंत्र व्यवस्था गण-प्रधान के हाथ में होनी चाहिये।

नृपतंत्रात्मक राज्यों की भांति गण राज्यों में भी अधिकार-सम्पन्न सभा होती थी जो नीति तथा कार्यों का निर्णय करती थी। वृष्णियों की सभा का नाम सुधर्मा था। उसके कार्यों तथा अधिकारों पर सुभद्रा-हरण सम्बन्धित घटना पर्याप्त प्रकाश डालती है। सुभद्रा-हरण का समाचार पाकर सभापाल ने बिगुल बजाया, जिसे सुनकर सभासद सभा में उपस्थित हुये। उस समय गणप्रधान राजधानी में न था। इस घटना पर सभा में बाद-बिवाद हुआ और उसके निर्णय को कार्यान्वित किया गया।[3] इससे विदित होता है कि गण-प्रधान की अनुपस्थित में भी सभा महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय देती थी और उन्हें कार्यान्वित किया जाता था।

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि सभा में सदस्यों को अपने अपने विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। परन्तु यह आवश्यक न था कि समस्त बातें सभा

---

१ आरण्य, १६. २३.
२ सभा, ३४.५; १४; २१.
३ आदि, २१२-२१३.

में विचारार्थ रखी जाँय, क्योंकि इसमें शासन की गुप्त बातों के प्रकट हो जाने का भय था। अतः भीष्म आदेश देते हैं कि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर गण-मुख्य ही विचार करें—मंत्रगुप्तिः प्रधानेषु।[1]

गण-राज्य में शासन-सत्ता सभा के हाथ में थी, परन्तु राज्य-व्यवस्था और प्रशासन का भार गण-मुख्यों के ऊपर था। उनकी तुलना हम वर्तमान युग के 'केबिनेट मिनिस्टर्स' से कर सकते हैं। भीष्म के अनुसार राज्य एवम् जन-हित का भार उन्हीं पर था —लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव। अतः उनको परस्पर सहयोग करके गण राज्य का हित साधन करना चाहिये। —गणमुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः। गण को भेद से बचाना अथवा भेद उत्पन्न होते ही उसका दमन करना उनका प्रधान कर्तव्य था। मन्त्रगुप्ति और चर-व्यवस्था भी उन्हीं के उत्तरदायित्व थे।[2]

संघराज्य

महाभारत-कालीन गण-राज्य प्रायः छोटे राज्य थे। अतः भीष्म ने उनकी सुरक्षा का सबसे बड़ा साधन संघवृत्ति ही माना है।[3] इस ग्रन्थ में गणराज्यों के कतिपय संघो का उल्लेख मिलता है। इनमें एक त्रिगर्त राज्य था जिसे पाणिन ने त्रिगर्तषष्ट कहा है।[4] स्पष्टतः यह छः छोटे राज्यों का संघ था। दूसरा संघ जिसका महाभारत में उल्लेख किया गया है अन्धक-वृष्णि राज्य था। यह दोनों छोटे गण राज्य थे जिन्होंने मिल कर एक संघ निर्मित किया था। एक इससे भी वृहत् संघ का उल्लेख मिलता है जिसमें ५ गण सम्मिलित थे —अन्धक, वृष्णि, भोज, यादव और कुकुर।[5] अर्जुन की विजय के सम्बन्ध में पांच (पंचगणाः) और सात (सप्तगणाः) राज्यों का उल्लेख मिलता है। संभवतः यह भी संघराज्य रहे होगे।[6] उसी पर्व में लोहिन को दस-मण्डल राज्यों का प्रधान कहा गया है।[7] संभवतः यह भी दस राज्यों का संघ था।

संघ राज्य के संविधान और उसकी कार्य-विधि पर अन्धक बृष्णियों के इतिहास से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आहुक अन्धक-वृष्णि संघ का अध्यक्ष था और उग्रसेन वृष्णि

१ शान्ति, १०८.२४.
२ शान्ति, १०८.२३-२५.
३ शान्ति, १०८.१४ : तस्मात्संघातयोगेषु प्रयतेरन्गणाः सदा।
४ अष्टाध्यायी, ५.३.११६.
५ उद्योग, २७.२; तथा शांति, ८२.२९.
६ सभा (गीता), २७.१२; १६; (क्रि), २४.११; १५.
७ सभा, २८.१६

राज्य का अध्यक्ष था। इससे प्रमाणित होता है कि जो राज्य संघ में सम्मिलित होते थे उनके पृथक पृथक अध्यक्ष होते थे। एक स्थान पर इनको 'लोकेश्वर' कहा गया है।[१] संघ-शासन का भी एक अध्यक्ष नियुक्त किया जाता था। संघ-मुख्य का पद बहुत महत्वपूर्ण था, और सर्वथा योग्य व्यक्ति ही उसकी मर्यादा की रक्षा कर सकता था। नारद अंधक-वृष्णियों के वृहत् संघ के अध्यक्ष कृष्ण से कहते हैं: 'जो महान नहीं है, जिसने अपने मन को वश में नहीं किया है तथा जो योग्य सहायकों से सम्पन्न नहीं हैं, वह यह भार नहीं वहन कर सकता है। ···बुद्धि, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह और धन-वैभव के परित्याग के बिना कोई भी व्यक्ति गण अथवा संघ को अपने अधीन नहीं रख सकता है'।[२] संघ-मुख्य की कठिनाइयों का आभास हमें कृष्ण और नारद के संवाद में प्राप्त होता है। संघ-मुख्य होने के नाते उन्हें आहुक, अक्रूर आदि की प्रतिद्वन्दिता तथा मर्मभेदी कटु वाक्य सहन करने पड़ते थे नारद ने कृष्ण को यही आदेश दिया कि संघ के हित में उनको सबका यथोचित सम्मान और उनके प्रति सहनशीलता का बर्ताव करना चाहिये, जिससे संघ में भेद न उत्पन्न हो।[३] यद्यपि नारद कृष्ण की अधिकार-विघटन नीति की सराहना नहीं करते हैं, परन्तु अपने अधिकारों को बल प्रयोग कर पुनः प्राप्त करने की भी राय नहीं देते।[४]

महाभारत से गण और संघ राज्यों में राजनीतिक दलों का भी अस्तित्व प्रमाणित होता है, जिनमें बड़ी प्रतिस्पर्धा रहती थी।[५] अन्धक-वृष्णि संघ के इतिहास से विदित होता है कि प्रत्येक दल अपने नेता को संघाध्यक्ष पद पर नियुक्त करने की चेष्टा करता था। एक समय जब कृष्ण इस संघ के प्रधान थे, बभ्रु और उग्रसेन भी उसी पद-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील थे। महाभाष्य में भी अक्रूर और वासुदेव के वर्गों का उल्लेख है।[६]

यह ग्रन्थ गण राज्यों के गुण और दोषों की भी सम्यक् विवेचना करता है। उनके संविधान का सबसे बड़ा दोष उनकी बहुसंख्या ही थी, जिसके कारण वे शत्रु की भेद-नीति के सहज ही शिकार हो जाते थे, और मंत्र को गुप्त रखने में भी कठिनाई

१ शान्ति, ८२.२९.
२ शान्ति, ८२ २३-२६.
३ शान्ति, ८२.२०-२२.
४ शान्ति, ८२.५; तथा, १५-१८.
५ शान्ति, ८२.१०.
६ महाभाष्य, २.२९५.

अनुभव करते थे ।[1] नारद के अनुसार इन राज्यों के भय के दो स्रोत थे—बाह्य तथा आभ्यन्तरिक । यह दोनों ही स्वकृत अथवा परकृत भेद से दो दो प्रकार के होते हैं ।[2] अंधक-वृष्णि राज्य का विनाश स्वकृत आभ्यान्तरिक दोष के कारण हुआ था । गण राज्यों को भेद नीति से अपनी रक्षा करना चाहिये, क्योंकि भेद ही उनके विनाश का मूल कारण होता है (भेदाद् विनाश: संघानां......) ।[3]

इसी प्रकार भीष्म भी भेद को ही गण-विनाश का मूल कारण मानते हैं । वह उसके कारण तथा निवारणार्थ उपाय भी बताते हैं । उनके अनुसार लोभ और अमर्ष दो मुख्य कारण हैं जिनसे गणों में परस्पर वैर उत्पन्न होता है । 'पहले गणों······में लोभ उत्पन्न होता है और तदनन्तर अमर्ष, और इन दोनों के कारण वे एक दूसरे का क्षय-व्यय संयुक्त विनाश करने लगते हैं ··· जो गण संघ बना लेते हैं उनमें इन्हीं कारणों से विभेद उत्पन्न होता है । भिन्न हो जाने के कारण वे सार्वजनिक हित की ओर से उदासीन हो जाते हैं और अन्तत: भयवश शत्रु के वशवर्ती हो जाते हैं' ।[4] भीष्म आभ्यान्तरिक भय को अधिक महत्व देते हैं, और बाह्य भय को उसकी तुलना में 'असार' मानते हैं । 'जब (किसी गण के सदस्य) क्रोध, मोह अथवा लोभ के कारण परस्पर बात-व्यवहार बन्द कर दें, तो उसे पराभव का लक्षण समझना चाहिये' ।[5] उनके अनुसार गण राज्यों का हित संघात-योग ही है । इससे उनकी आर्थिक उन्नति होती है, और बल की अभिवृद्धि । परिणामस्वरूप अन्य राज्य भी उनकी ओर मित्रता का हाथ बढ़ाते हैं ।[6]

इसी प्रसंग में भीष्म कतिपय अन्य बातों का उल्लेख करते हैं जो गणराज्य की सफलता का मूल आधार थीं, यथा ज्ञान वृद्धों का सम्मान, पारस्परिक सहयोग और सद्भावना, शास्त्र-सम्मत धर्मानुसार न्याय-व्यवस्था (व्यवहार), नयी पीढ़ी के लोगों (पुत्रान् भ्रातृन्) को शिक्षित और विनयशील बनाना, राज्य कार्यों पर, विशेषत: चर, मंत्र तथा कोष पर समुचित ध्यान देना, राज-पुरुषों (युक्तान्) को यथेष्ठ सम्मान प्रदान करना एवम् गुण-सम्पन्न व्यक्तियों को ही राज्य सेवार्थ नियुक्त करना,

---

१ शान्ति, १०८.८.
२ शान्ति, ८२.१३.
३ शान्ति, ८२.२५.
४ शान्ति, १०८.१०-१३.
५ शान्ति, १०८.२८-२९.
६ शान्ति, १०८.१४-१५.

शस्त्र और शास्त्र का सम्यक् अध्ययन, एवम् क्रोध, मोह, लोभादि विग्रह और बैर के कारणों का उत्पन्न होते ही शमन करना।[1] भीष्म गण-राज्यों की दो अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख करते हैं :' (गणों में) जन्म तथा कुल की दृष्टि से सब लोग समान होते हैं, और उन लोगों में उद्योग, बुद्धि या रूप के लालच से (रुपद्रव्येण) भेद नहीं उत्पन्न किया जा सकता'।[2] गण शासन के प्रमुख दोष, बहुसंख्या, के निवारणार्थ भीष्म आदेश देते हैं कि मंत्रगुप्ति और चर-व्यवस्था गण-प्रधान के हाथ में रहना चाहिये।[3]

भारत के प्राचीन गण राज्यों का वास्तविक स्वरूप क्या था, इस विषय में बड़ा मतभेद है। विभिन्न विद्वानों ने उनको जनतंत्रात्मक, उच्चतंत्रात्मक अथवा जन राज्य माना है। इनका संविधान वर्तमान प्रजातंत्र से सर्वथा भिन्न था, क्योंकि इनमें शासनाधिकार केवल जाति विशेष को ही प्राप्त था। उदाहरणार्थ, लिच्छवी राज्य में यह अधिकार केवल लिच्छवी क्षत्रियों को प्राप्त था, और शाक्य राज्य में शाक्यों को, यद्यपि इन राज्यों में अन्य वर्ण और जाति के लोग भी निवास करते थे। इसी आधार पर प्रोफेसर घोषाल ने इनको उच्चतंत्र (आलीगार्की) माना है। परन्तु उच्चतंत्र में शासन सत्ता अल्प-वर्ग तक ही सीमित रहती है। भारतीय गण राज्यों में ऐसी स्थिति न थी। यदि प्राचीन ग्रीस के एथेन्स और स्पार्टा जनतंत्र माने जा सकते हैं तो भारत के प्राचीन गण राज्यों को भी उसी वर्ग में स्थान देना चाहिये। महाभारत इस समस्या पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। इससे केवल इतना ही आभास मिलता है कि गण राज्य की इकाई कुल था, और राजसत्ता उन कुलों में ही निहित थी जिनके पूर्वजों ने राज्य की स्थापना की थी। उन समस्त कुलों के कुलपति (कुलवृद्ध) गण सभा के सदस्य होते थे। इसी कारण से सभा के निर्वाचन या उसकी सदस्यता की अवधि का हमें कहीं भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

---

१ शान्ति, १०८. १६-२१; २६.
२ शान्ति, १०८. ३०.
३ शान्ति, १०८. २४.

मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्शन।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत॥

१६
उपसंहार

महाभारत के राजधर्म की विशेषतायें

पूर्ववर्ती अध्यायों में महाभारत में वर्णित राजनीति तथा शासन-व्यवस्था की विवेचना की जा चुकी है। यहाँ पर उनकी विशेषताओं का संक्षेपतः उल्लेख करना असंगत न होगा।

महाभारत मानव जीवन में राजधर्म को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है। राजधर्म ही मनुष्य के सर्वांगीण विकास और स्वधर्म-परिपालन का प्रमुख साधन है। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित राजनीति की प्रमुख विशेषता समन्वयवाद है, जो प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। सर्व प्रथम यह दो परम्परागत और परस्पर विरोधी मतों में समन्वय स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में, इसने धर्मशास्त्र एवम् अर्थशास्त्र दोनों ही के सिद्धान्तों को ग्रहण कर राजनीति की एक नवीन शैली प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। राज्य के आन्तरिक शासन-विधान, विशेषतः राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध, शासन में नैतिकता का स्थान, कर-व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, युद्ध नियम, और धर्मविजय की नीति में धर्मशास्त्रीय प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। उसी से प्रभावित होकर महाभारत राज्य को राजा के हाथ में न्यासवत् मानता है और शासन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर अर्थशास्त्र परम्परा का प्रभाव भी स्पष्ट है। इसमें उशना, बृहस्पति, प्राचेतस्मनु, विशालाक्ष, इन्द्र, भारद्वाज, गौरशिरा आदि अर्थ-शास्त्रीय आचार्यों का बहुधा उल्लेख है और उनके मतों को मान्यता प्रदान की गयी है। एक स्थल पर तो हम मनु के विपरीत उशना के मत को

मान्यता देते हुए देखते हैं ।[१] अर्थ-शास्त्रीय परम्परा का प्रभाव विशेषत: अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में देखा जाता है । विश्वास के स्थान पर तर्क को मान्यता देना तथा देश-कालानुकूल नीति निर्धारित करने के आदेश भी उसी प्रभाव के द्योतक हैं ।

धर्मशास्त्रीय-अर्थशास्त्रीय विचार धाराओं का समन्वय महाभारत की सबसे बड़ी देन है । भारतीय राजनीति-शास्त्र के विकास में यह महत्वपूर्ण कदम था, जिसने उसको सर्वथा नई दिशा की ओर मोड़ दिया । उत्तर-युगीन आचार्यों की कृतियों में इस समन्वय का प्रभाव स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है । घोषाल, बन्धोपाध्याय, डांडेकर प्रभृत्ति विद्वान महाभारत की राजनीति में अर्थशास्त्र का व्यापक प्रभाव मानते हैं । यह सत्य है, परन्तु उस पर धर्मशास्त्र के प्रभाव की भी अमिट छाप विद्यमान है । महाभारत राजनीति को धर्म अथवा नैतिकता से भिन्न नहीं मानता । प्लेटो और अरस्तू की भाँति वह भी उनके समन्वय में आस्था रखता है । वह राजनीति और धर्म को विरोधी नहीं वरन् राजनीति को धर्म का साधन मानता है । इस विषय में महाभारत के सिद्धान्त थॉमस एक्यूनास से साम्य रखते हैं और मैकियावली के सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न हैं ।

महाभारत में निर्धारित समाज और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त महत्व-पूर्ण हैं । शान्ति पर्व के अनुसार समाज का अस्तित्व राज्य से पूर्व हो चुका था । पृथु और मनु दोनों के कथानकों से विदित होता है कि एक समय ऐसा था जब मनुष्य समाज में तो रहता था, परन्तु राज्य का अस्तित्व न था । उस समय का समाज धर्म से अनुशासित था ।[२] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक 'अनार्किस्ट' दर्शन की भाँति महाभारत भी उसी समाज को आदर्श मानता है जो बिना राज्य के धर्मा-नुसार स्वशासन कर सके । इसके अनुसार राज्य के अस्तित्व का मूल कारण मनुष्य का नैतिक पतन ही था । राज्य की उत्पत्ति मात्स्यन्याय-युग के अनाचार का अन्त एवम् मनुष्य जीवन और सम्पत्ति की रक्षा हेतु हुई थी ।

महाभारत म प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त भी सर्वथा नवीन है । इसमें दैवी उत्पत्ति और सामाजिक अनुबंधवाद के दो अतिमान्य सिद्धान्तों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है । भारतीय राजनीति में महाभारत ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें बल सिद्धान्त का भी उल्लेख है ।[३]

---

१ शान्ति, ५६.२९–३०.
२ शान्ति, ५९.१४; भीष्म ११.३९.
३ शान्ति, ९०.१९-२०.

यह ग्रन्थ राजा की दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थक है और स्वयं राजा को देवत्व भी प्रदान करता है। परन्तु महाभारत का राजा सर्वथा स्वतंत्र और स्वेच्छाचारी नहीं है। यह ग्रन्थ राजकीय तथा धार्मिक सत्ता एक ही व्यक्ति और एक ही वर्ग को नहीं देता। इसकी आस्था शक्ति-विभाजन और सन्तुलन में है। क्षात्र-शक्ति ब्राह्म-शक्ति से सर्वथा भिन्न, परन्तु उसके अधीन मानी गयी है। इसी भाँति यद्यपि क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्राह्मण से मानी गयी है और ब्राह्मण को मंत्रणाधिकार प्रदान किया गया है तथापि शासन-सत्ता उसके हाथ में नहीं है। महाभारत का राज्य पुरोहित-तंत्र (थियोक्रेसी) कदापि नहीं है। राज्य को सामाजिक व्यवस्था, वर्णाश्रम-धर्म, की परिधि के भीतर रह कर कार्य करना पड़ता है। यह प्रतिबन्ध बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ, और प्राचीन ग्रीस की भांति भारत में सर्व-शक्ति-सम्पन्न राज्य का अस्तित्व न हो सका।

राज्य का केन्द्र-बिन्दु राजा है। परन्तु वह सर्वथा नैतिक और स्वधर्मरत है, स्वेच्छाचारी नहीं। वह धर्मशास्त्रानुसार शासन करता है, और पुरोहित, मंत्री आदि उसकी शक्ति नियंत्रित करते हैं। महाभारत में राजा के अधिकार की अपेक्षा उसके कर्तव्य को ही प्रमुखता दी गयी है। धर्मनिरूपण ब्राह्मण का, और उसे कार्यान्वित करना राजा का कार्य था। महाभारत ब्राह्म और क्षात्र शक्ति के समन्वय पर बहुत बल देता है।

महाभारत के अनुसार राज्य का ध्येय था मनुष्य का सर्वांगीण विकास, त्रिवर्ग की प्राप्ति और इहलौकिक तथा पारलौकिक साधना। इस ग्रन्थ में योग-क्षेम राज्य की ही कल्पना की गयी है, जिसमें प्रजा को न किसी प्रकार का भय हो और न अभाव।

महाभारत राजत्व और धर्म को परस्पर विरोधी नहीं मानता। प्रशासन-विधान में धर्मानुसार शासन करने का आदेश है। इस ग्रन्थ में सामान्य, वर्णाश्रम, आपद्धर्म सभी का समावेश है, और इनका परिपालन राजा का परम कर्तव्य माना गया है। परन्तु यह ग्रन्थ रूढ़िवादी भी नहीं है। धर्म के साथ वह विवेक और पति-पत्ति को भी समुचित स्थान प्रदान करता है। इसमें प्रतिपादित आपद्-धर्म राजनीतिक दृष्टिकोण से बहुत ही समुचित और महत्वपूर्ण है।

अन्ततः हम देखते हैं कि यद्यपि महाभारत में राजतंत्र का प्राधान्य है, तथापि वह गण और संघ राज्यों का भी अस्तित्व प्रमाणित करता है। उनके संविधान

के गुण-दोषों की सम्यक् विवेचना की गयी है और दोषों के निवारणार्थ उपाय भी बतलाये गये हैं।

महाभारत में प्रतिपादित राजधर्म में आधुनिक दृष्टिकोण से कुछ दोष अथवा त्रुटियाँ भी दृष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ, समता का अभाव, जो न्याय व्यवस्था में विशेषतः दृष्टिगोचर होता है। दण्ड-विधान अपराधी के वर्ण पर आधारित था। ब्राह्मण को सर्वथा अवध्य माना गया है। इसी प्रकार कर आदि में भी उनको विशेषाधिकार प्राप्त थे। यह असमानता अशोक के समय भी विद्यमान थी, और उसने दण्ड-समता तथा व्यवहार-समता स्थापित करने का प्रयास किया था। इस विषमता का मूल कारण हमारी सामाजिक व्यवस्था थी, जो वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी। परन्तु महाभारत के तत्सम्बन्धी विचार भी रूढ़िवादी नहीं हैं। विशेषाधिकार ब्राह्मण मात्र को नहीं, केवल स्वधर्मरत ब्राह्मणों को ही प्राप्त थे। वैश्य और शूद्र भी मन्त्रिपरिषद के सदस्य होते थे। आपत्ति काल में तो भीष्म शूद्र को भी राजपद का अधिकारी मानते हैं।[1] युधिष्ठिर तो आचार को ही वर्ण-व्यवस्था का मूल मानते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार निम्नातिनिम्न वर्ग का मनुष्य भी आचार-बल से उच्च मर्यादा प्राप्त कर सकता था। अन्यत्र जन्म को नहीं वरन् कर्म को वर्ण व्यवस्था का आधार माना गया है। गणराज्यों में सभी मनुष्य जन्म से और कुल से समान माने जाते थे (जात्या च सदृशाः सर्वेकुलेनसदृशास्तथा),[2] परन्तु वहां भी राजसत्ता क्षत्रियों के ही हाथ में थी। एक स्थान पर महाराज युधिष्ठिर भी मनुष्यों की समानता को स्वीकार करते हैं।[3] वर्णाश्रम धर्म में चाहे जो दोष रहे हों, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में उसने प्रशासकीय, धार्मिक तथा आर्थिक शक्ति एक ही व्यक्ति या वर्ग के हाथ में नहीं केन्द्रित होने दिया। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले प्राचीन भारतीयों ने इसका विरोध भी नहीं किया।

महाभारत में अन्य दोष जो बहुत स्पष्ट हैं वह मनुष्य-प्रकृति की हीनता है जिसके कारण दण्ड को बहुत महत्व प्रदान किया गया है :—

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः।
दण्डस्य ही भयाद् भीतो भोगादेव प्रवर्तते ॥[4]

---

१ शान्ति ७९.३४-४३ : अपारे यो भवेत् पारमल्पवे य. प्लवो भवेत्।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥३८

२ शान्ति (गीता) १०७.३०.

३ शान्ति, ५९.६-८.

४ शान्ति, १५.३४. दृष्टव्य, शान्ति, ५९.१५-२०; ६७.१७, इत्यादि।

इस ग्रन्थ में ऐसे विचार अनेकशः व्यक्त किये गए हैं। वस्तुतः मनुष्य के आचार का ह्रास ही राज्य की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी माना गया है।

महाभारत में प्रतिपादित राजधर्म की अन्य त्रुटि परस्पर विरोधी विचार हैं। उदाहरणार्थ, अराजक अवस्था में मनुष्य की स्थिति, राजत्व की उत्पत्ति, शासन में धर्म और नैतिकता का स्थान आदि विषयों पर एक से अधिक मत व्यक्त किये गये हैं। इसका कारण स्पष्ट है। यद्यपि महाभारत में वर्णित राज-धर्म के प्रणेता भीष्म ही माने गये हैं, परन्तु इसमें पूर्वाचार्यों के मतों का भी समावेश है। युधिष्ठिर के प्रश्नों के उत्तर में पितामह अपना स्वतन्त्र मत बहुत कम व्यक्त करते हैं। प्रायः वह अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को ही उद्धृत करके उनकी जिज्ञासा शान्त करते हैं। महाभारत कौटलीय अर्थशास्त्र की भाँति राजनीति का स्वतंत्र सुसंकलित ग्रन्थ नहीं है। उसको भारत की प्राचीन राजनीतिक परम्परा का कोष कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

इन त्रुटियों के होते हुए भी महाभारत का स्थान भारतीय राजनीति-शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसने अनुवर्ती राजनीति-आचार्यों को बहुत प्रभावित किया है। उत्तरयुगीन स्मृति और पुराणों के अतिरिक्त यह प्रभाव पंचतन्त्र, कामन्दक तथा शुक्र के नीतिसार एवम् सोमदेव के नीतिवाक्यामृत में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। निस्सन्देह भारत की प्राचीन राजनीतिक परम्पराओं को सुरक्षित रखने का बहुत बड़ा श्रेय महाभारत को प्राप्त है।

★
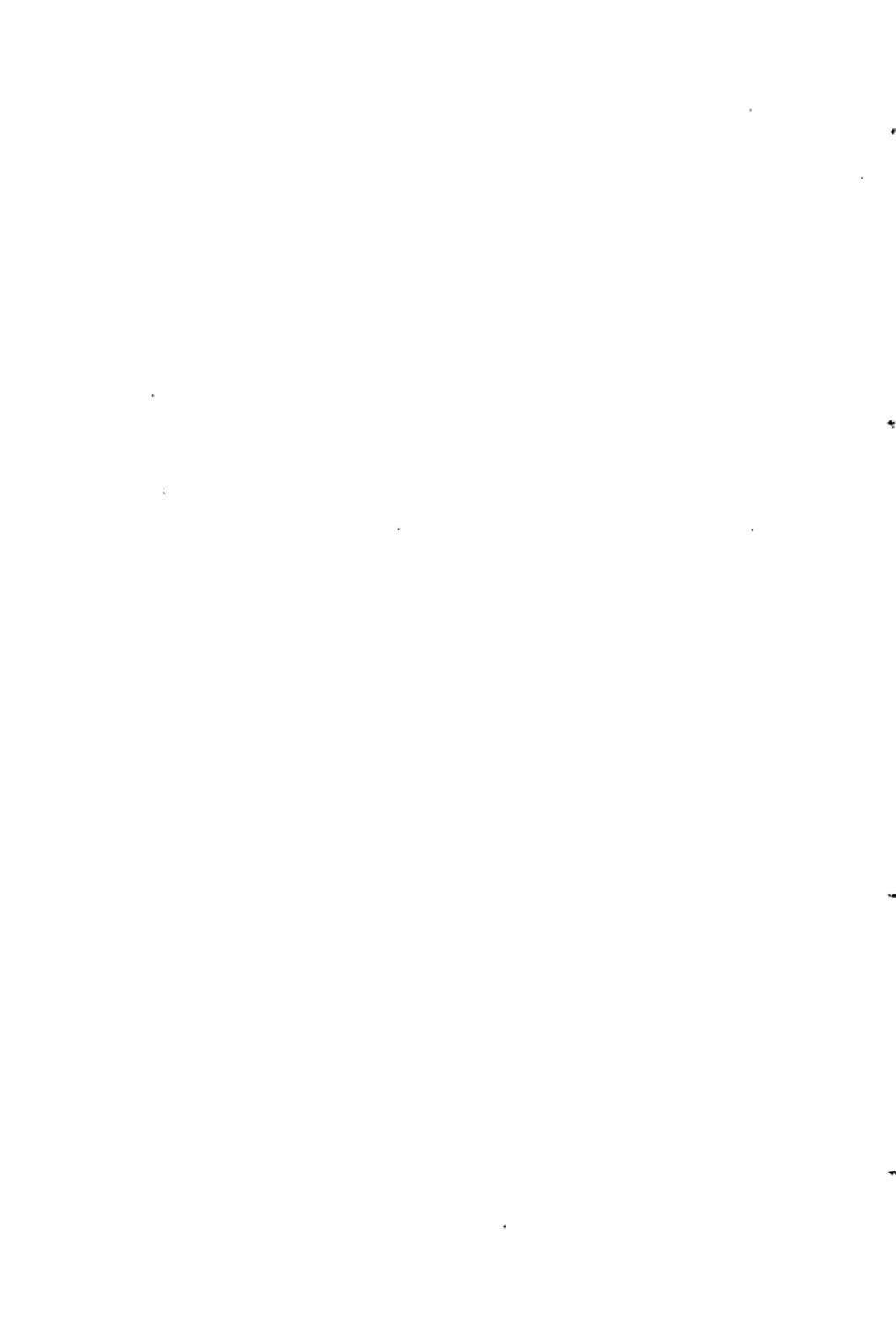
सहायक ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

महाभारत (क्रिटिकल संस्करण)	सुकथांकर तथा अन्य (सं०)	पूना
महाभारत	हिन्दी अनुवाद सहित	गीता प्रेस, गोरखपुर
महाभारत	पी० पी० एस० शास्त्री	मद्रास, १९३१-१९३६ ई०
महाभारत	नील कण्ठ, टीका सहित	पूना १९२९ ई०
महाभारत	पी० सी० राय (अं० अनु)	कलकत्ता १८८३-१८९४ई०
महाभारत	टी० आर० कृष्णाचार्य तथा टी० आर० व्यासाचार्य (सं०)	बम्बई १९०६

सहायक ग्रन्थ

संस्कृत ग्रन्थ

अग्नि पुराण	आर-मित्रा (सं०)	कलकत्ता, १८७३-७९ ई०
अग्नि पुराण	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा, वाराणसी १९६६ई०
अथर्ववेद	राथ तथा ह्विटनी (सं०)	बर्लिन, १८५६ ई०
अमरकोष	टी० गणपति शास्त्री (सं०)	त्रिवेन्द्रम १९१४-१७ ई०
अष्टाध्यायी (पाणिनीय)	गंगादत्त शास्त्री (सं०)	हरद्वार, २००७ सं०
आपस्तम्बिय-धर्म सूत्र	जी० व्यूहलर (सं०)	बम्बई, १८९२-९४ ई०
ऋग्वेद	श्री राम शर्मा (सं०)	बरेली, १९६२ ई०
ऐतरेय ब्राह्मण	के० एस० आगासी	पूना, १८९६ ई०
कौटलीयार्थशास्त्र	एन०एस० वेंकेटनाथाचार्य (सं०)	मैसूर विश्वविद्यालय, १९६० ई०
गौतम धर्म सूत्र (शास्त्र)	स्टेंजलर (सं०)	लन्दन, १८७६ ई०
तैत्तरीय ब्राह्मण	आरूमित्रा (सं०)	कलकत्ता, १८५५-७०

नारद स्मृति	जे० जोली (सं०)	बी०आई० १८७६
नीतिवाक्यामृत	एन०एस० बेंकेटनाथाचार्य	मैसूर, विश्वविद्यालय, १९६० ई०
नीतिसार-कामन्दकीय (शंकरार्य टीका सहित)	टी० गणपति शास्त्री	त्रिवेन्द्रम १९१२ ई०
पंचतंत्र	कीलहार्न और ब्यूलर	बम्बई (बाम्बेसंस्कृत सीरीज़)
प्रबोधचन्द्रोदय	के० साम शिव शास्त्री (सं०)	त्रिवेन्द्रम, १९३६ ई०
बोधायन धर्मसूत्र	ई० हुल्श (सं०)	लिपजिज, १८८४ ई०
बृहस्पति स्मृति	रंगास्वामी आयंगर (सं०)	बड़ोदा, १९४१ ई०
मत्स्य पुराण	श्री जीवानन्द	कलकत्ता, १८७६ ई०
मनुस्मृति कुल्लूक भाष्य	नारायण शर्माचार्य (सं०)	बम्बई, १९४६ ई०
मनुस्मृति-मेधातिथि भाष्य	जी०झा (सं०)	कलकत्ता, १९३२-३९
मार्कण्डेय पुराण	के० एम० बनर्जी (सं०)	कलकत्ता, १८३२ ई०
मानसोल्लास जि० १ सोमेश्वर कृत	जी० के० श्री गोण्डेकर (सं०)	बड़ौदा, १९२५ ई०
मानसोल्लास जि० २ सोमेश्वर कृत	जी० के० श्री गोण्डेकर (सं०)	वड़ौदा, १९३९ ई०
मानसोल्लास (अभिलषितार्थ चिन्तामणि)	सोमेश्वर कृत	मैसूर, संस्करण
मालविकाग्निमित्रम् (कालिदासकृत)	एस०पी० पण्डित (सं०)	बम्बई, १८८९ ई०
मिताक्षरा	एस०सी०विद्यारत्न (अं०)	इलाहाबाद, संस्करण
याज्ञवल्क्य स्मृति	रामायण रामाचार्य (सं०)	बम्बई, १९४९ ई०
याज्ञवल्क्य स्मृति अपरार्क भाष्य सहित		आनन्दाश्रम, पूना, १९०३–४ ई०
राजतरंगिणी	दुर्गाप्रसाद (सं०)	बम्बई, १८९२ ई०
राजतरंगिणी	(अनु०)एम०ए० स्टीन	लन्दन, १९०० ई०
रामायण	पं० रामालभाय तथा अन्य	लाहौर, १९२३ ई०
वाजसनेयि संहिता	ए० वेबर (सं०)	लन्दन, १८५२ ई०
वायु पुराण (२ भाग)	आर०मित्रा (सं०)	कलकत्ता, १८८०–८८ई०
विष्णुधर्मोत्तर पुराण		वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९१२ ई०

विष्णु स्मृति	जे. जोली (सं०)	कलकत्ता, १८८१ ई०
बृहत्पराशर स्मृति	वामनशास्त्री इस्लामपुरकर (सं०)	बम्बई, १८९३ ई०
शतपथ ब्राह्मण	ए. वेबर (सं०)	लन्दन, १८५५ ई०
शुक्रनीति	वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस (बम्बई)	२०१२ सम्बत्
सरस्वतीविलास	प्रतापरुद्रदेवकृत	मैसूर, १९२७ ई०
हर्षचरित (बाणकृत)	जे० विद्यासागर (सं०)	कलकत्ता, १८९२ ई०

पालि ग्रन्थ

अंगुत्तर निकाय	आर० मारिस तथा ई० हार्डी (सं०)	लन्दन, १८८५-१९०० ई०
अंगुत्तर निकाय	भि० जगदीश कश्यप (सं०)	नालन्दा, १९६० ई०
जातक	वी० फोसबाल (सं०)	लन्दन, १८७७-१८९७
जातक, अंग्रेजी अनुवाद	ई० वी० कार्वेल (अ०)	कैंब्रिज, १८८६
दीघनिकाय	टी० डब्लू रिजडेविड्स तथा जे० ई० कारपेण्टर (सं०)	लन्दन, १८९०-१९११ ई०
दीघ निकाय	भि० जगदीश कश्यप (सं०)	नालन्दा, १९५८ ई०
मज्झिम निकाय	वी० ट्रेंकनर तथा आर० चालमर्स (सं०)	लन्दन, १८८८-१९०२
मज्झिम निकाय	भि० जगदीश कश्यप (सं०)	नालन्दा, १९५८ ई०

प्राकृत ग्रन्थ

आचारांग सूत्र	एच० जेकोबी (सं०)	लन्दन, १८८२ ई०

संस्कृत बौद्धग्रन्थ

अवदान शतक	जे० एस० स्पेयर (सं०)	सेंटपिटर्सबर्ग, १९०२-१९०९
दिव्यावदान	ई० वी० कावेल तथा आर० ए० नील	केंब्रिज १८८६ ई०

हिन्दी ग्रन्थ

जनतंत्रवाद	डा० श्याम लाल पाण्डेय	लखनऊ
प्राचीन भारतीय शासन पद्धति	ए० एस० अल्तेकर	प्रयाग, १९५९ ई०
भीष्म का राजधर्म	डा० श्याम लाल पाण्डेय	लखनऊ, २०१२ वि० सं०
महाभारतकालीन राष्ट्रीय तत्वज्ञान	डा० पु० गा० सहस्रबुद्धे	राष्ट्र धर्म प्रकाशन लखनऊ, सं० २०२३ वि०
हिन्दू राज्यशास्त्र	अम्बिका प्रसाद बाजपेयी	हिन्दी सहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००६ सं०

ENGLISH WORKS

A Critical Study of Mahābhārata as a History and Dharma.	P. N. Mullik	Calcutta, 1939.
A History of Ancient Sanskrit Literature.	F. Max Muller (2nd Ed.)	London, 1960.
A History of Hindu Political Theories.	U. N. Ghoshal	Calcutta, 1923.
A History of Indian Political Ideas.	U. N. Ghoshal.	Calcutta, 1959.
Administration and Social Life under the Pallavas.	C. Minakshi.	Madras, 1938.
Ancient India and Indian Civilization.	Paul Masson, Oursel, and others.	London, 1951.
Ancient Indian Historical Tradition.	F.E. Pargiter	Delhi, 1962.
Ancient India As Described by Megasthenes and Arrian.	Mc. Crindle.	Calcatta, 1906.
Ancient Indian Political Thought and Institutions.	B.A. Salatore	Asia Publishing House, 1963.
Aspects of political Ideas and Institutions In Ancient India.	R. S. Sharma	Moti Lal Banarsidass, 1959.

Aspects of Ancient Indian Polity.	N. N. Law	Oxford, 1921.
Ancient Mid-Indian Kshatriya Tribes	B. C. Law	Calcutta, 1924.
Ancient Political Thought	V. Venkata Rao	S. Chand & Co., 1961.
Aryan Rule In India	E. B. Havel	London, mcmxviii
Aspects of Social and Political System of Manusmṛiti	K. V. Ranga svami Aiyangar	Lucknow University, 1949.
A Treatise on Hindu Law and Usage	J. D. Mayne	1922
Cambridge History of India Vol. I	E. J. Rapson	S. Chand & Co., 1962
Chronology of Ancient India	Sitanath Pradhan	Calcutta, 1927
Corporate Life In Ancient India	R,C. Majumdar	Calcutta, 1922
Critical Studies In The Mahābhārata	P. K. Gode (Ed.)	Bombay, 1944
Development of Hindu Polity and Political Theories	N. C. Bandhopadhyaya	Calcutta, 1927
Development of Indian Polity	H. N. Sinha	Bombay, 1963
Epic Mythology	Hopkins	Bombay, 1915
Epic India	C. V. Vaidya	Bombay, 1907
Epic Mythology and Legends of India	P. Thomas	London.
Epochs in Hindu Legal History	U. C. Sarkar	Hoshiarpur, 1958
Evolution of Hindu Moral Ideals	P. S. Shivasvamy Aiyar	Calcutta, 1935
Evolution of Ancient Indian Law	N. C. Sen Gupta	Calcutta, 1953
Geographical and Economic Studies in Mahābhārata	Moti Ghandra	U. P. H. S., Lucknow, 1945
Glimpses of Ancient India	R. K. Mookerji	Bhartiya Vidya Bhawan, 1961

Gupta Polity	V. R. R. Dikshitar	Madras, 1952
Heroic Age of India	N. K. Sidhant	London, 1929
Hindu Law and Custom	J. Jolly Tr. B. K. Ghosh	Calcutta, 1928
Hindu Judicial System	S. Varadachariar	Lucknow University, 1946
Hindu Administrativse Institutions	V,R.R. Dikshitar	Madras 1929
Hindu Administrative Institutions in South India	K. S. Aiyanger	Madras 1931
Hindu Polity	K.P. Jyaswal	Calcutta, 1924
Hindu Revenue System	U.N. Ghoshal	Calcutta, 1923
History of Dharmaśāstra	P. V. Kane	Poona, 1946
History and Culture of Indian People Vol. I-V	R.C. Majumdar (Ed)	Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay
History of Kanauj	R.S. Tripathi	Banaras, 1937
History of Indian Literature Vol. I	Winternits	Calcutta, 1927
History of Sanskrit Literature	A. A. Macdonell	London, 1900
History of the Village Communities In Western India	A.S. Altekar	Bombay, 1926
History of Hindu Public Life in Ancient India, Vol. I	U.N. Ghoshal	Calcutta, 1944
Historical and Literary Inscriptions	R. B. Pandey	Varanasi, 1962
Ideologies of War and Peace In Ancient India	Indra	Hoshiarpur, 1237
Indian Nationalism, Vol. I	A-B.L. Awasthi	Lucknow, 1965
International Law in Ancient India	Vishwanathan	Longmans Green & Co. 1925
Interstate Relations In Ancient India	N. N. Law	Calcutta, 1920
Indo Aryan Polity	P. C. Basu	Lucknow, 1925
Introduction To Political Science	J. W. Garner	New York, 1910

India As Known to Panini (Second Edition)	V.S. Agrawal	Varanasi, 1963
Kautilya Studien (3 Vols)	B. Ereloer	Bonn, 1927-34
Local Government In Ancient India	R. K. Mookerji	Oxford, 1920
Mahābhārata An Analysis and Index	Edward P. Rice	Oxford University, 1934
Mahābhārata (Translation)	P. C. Roy	Calcutta, 1883-96
Mahābhārata As It Was, Is, and Ever Shall Be	P. N. Mullsk	Calcutta, 1934
Mauryan Polity	V.R.R. Dikshitar	Madras, 1955
Notes of a Study of the Preliminary Chapters of the Mahābhārata	V. V. Iyer	Madras, 1922
Origin and Evolution of Kingship in India	K.M. Panikkar	Baroda, 1938
Problem of Indian Polity	R. Pratapgiri	Bombay. 1935
Public Administration In Ancient India	P. N. Banerji	London, 1920
Rajput Polity	A.B.L. Awasthi	Lucknow, 1958
Rājadharma	K.V. R. Aiyangar	Adyar. 1941
Sacred Books of the East, Vols. II, VII. XIV, XXIII, XXV	G. Buhler	Oxford. 1879-82
Select Inscriptions (Ist Edn.)	D.C. Serkar	Calcutta. 1942
Some Aspects of Ancient Indian Polity	K. V. Rangaswami Aiyangar	Madras, 1933
Sovereignity In Ancient Indian Polity	H.N. Sinha	London, 1938
Some Aspects of Ancient Indian Polity	D. R. Bhandarkar	Banaras Hindu University, 1929
South Indian Polity	T.V. Mahalingam	Madras, 1950
Śrīmanmahābhāratam based on South Indian Texts	Krishnachari (Ed.)	Bombay, 1906

Studies in Ancient Indian Political Thought	A.K. Sen	Calcutta, 1926
Studies In Ancient Indian Polity	N N. Law	Longmans Green, & Co.
State and Government In Ancient India	A. S. Altekar	Delhi. 1958
Studies in Hindu Political Thought and Its Metaphysical Foundations	P.V. Verma	Delhi, 1954
Studies in Epics and Purāṇas of India	A. D. Pusalkar	Bhartiya Viya Bhawan, 1955
Studies in Indian Antiquities	H.C. Raychaudhuri	Caleutta, 1932
Indian Theory of Government	A K. Coomarswamy	NewHaven, 1842
Śukra Nītisāra (Tr.)	B.K, Sarkar	Allahabad, 1923
Tagore Law Lectures	J. Jolly	1883
The Age of Mahābhārat War	N. Jagannath Rao	Madras, 1931
The Art of War in Ancient India	G. T. Date	London, 1929
The Agrarian System in Ancient India	U,N. Ghoshal	Calcutta, 1930
The Evolution of Indian Polity	R. Sham Shastri	Calcutta, 1920
The Great Epic of India	E,W. Hopkins	New York, 1901
The General Principles of Hindu Jurisprudence	P.N. Sen	Calcutta, 1918
Manu and Yājñāvalkya, A Comparision and Contrast	K.P. Jaysawal	Calcutta, 1930
The Nature and Grounds of Political Obligations in Hindu State	J J. Anjaria	Longmans, Green & Co., 1935
The Political Institutions and Theories of the Hindus	B. K. Sarkar	Leipzig, 1922
The Purāṇa Text of the Dynasties of the Kali Agc	F. E. Pargiter	Oxford, 1913

The State In Ancient India	Beni Prasad	Allahabad, 1928
The Theory of Pre-Muslim Indian Polity	K,A. Nilkant Shashtri	Madras, 1912
The Theory of Government In Ancient India	Beni Prasad	Allahabad, 1927
Village Communities in Western India	A. S. Altekar	Bombay. 1927
War in Ancient India (2nd Ed)	V.R.R. Dikshitar	Madras. 1948

Journals

Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Vols. XXV, XVII, XXVIII.

Bulletin of the College of Indology, B.H.U. Nos V, VI.

Bulletin of the Deccan College Research Institute. Vols. V, VI, VIII.

Indian Antiquary, I, III, VIII, XXVII, XXXI: XXXIV, LIV, LIX, LXI.

Journal of the Andhra Historical Research Society, XII.

Journal of Bihar and Orissa Research Society, 1915, 1916.

Journal of Bihar Research Society, XXXVII, XXXVIII, XXXIX, XL.

Journal of Ganganath Jha Research Institute, IV. XVII, XVIII, XIX, XXXXV, XXVI, XXVII, XXVIII, XLI.

Journal of Indian History, V, VIII, X, XVII, XXVIII.

Journal of Oriental Institute, Baroda, IX, X, XII.

Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal, XVII.

Journal of U.P. Historical Society, XVI.

Poona Orientalist. VII.

Proceedings of the Indian History Congress, for 1939, 1941, 1914, 1955 and 1963.

अनुक्रमणिका

आ

इ

प

म

य

र